सोलह महासतियां

(सोलह सतियों का जीवन वृत्त)

मुनि दिनकर

संपादक
मुनि प्रदीप

बी. जैन पब्लिशर्स (प्रा.) लि.
नई दिल्ली - 110055

प्रथम संस्करण : 1985

द्वितीय संस्करण : 1990

मूल्य : 20.00 रुपये

प्रकाशक: बी जैन पब्लिशर्स (प्रा.) लि.,
1921, चूना मण्डी, गली नं. 10
नई दिल्ली – 110055

मुद्रक :
जे. जे. आफसैट
किशन कुंज,
नई दिल्ली – 110 092

समर्पणम्

जो अपनी समग्र शक्ति
जनोपकार के पावन कार्य में
प्रयुक्त करते आ रहे हैं,
उन्हीं आचार्यश्री तुलसी के चरण-कमलों में
सादर समर्पित !

—मुनि दिनकर

भूमिका

जैन परम्परा में सोलह सतियों के नाम अत्यंत श्रद्धास्पद और प्रातः स्मरणीय माने जाते हैं । सहस्रों-सहस्रों व्यक्ति प्रतिदिन प्रातःकालीन स्वाध्याय के समय विभिन्न गीतिकाओं के माध्यम से उनका स्मरण करते हैं । नामस्मरण के लिए निम्नांकित संस्कृत-श्लोक भी बहुत प्रसिद्ध हैं-

"ब्राह्मी चंदन बालिका भगवती राजीमती द्रौपदी
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यहो
पद्मावत्यपि सुन्दरी दिन-मुखे कुर्वन्तु वो मंगलम्"

उक्त श्लोक में भगवती और शीलवती—ये दो शब्द ऐसे हैं, जो नाम भी हो सकते हैं और विशेषण भी । यदि इन्हें विशेषण मान लिया जाए तो शेष नाम सोलह ही रहते हैं, परन्तु शीलवती की जीवनी उपलब्ध है, अतः कहा जा सकता है कि इस श्लोक में सत्रह सतियों के नामों का उल्लेख है । यतिवर उदयरतनजी की बहुप्रचलित गीतिका में भी ये ही सत्रह नाम दिये गये हैं, इनके अतिरिक्त अंजना, चेलना और मदनरेखा के नाम भी इसी श्रेणी के गिने जाते हैं । तब ये सब मिलकर बीस हो जाते हैं । इतने ही क्यों ? सुप्रसिद्ध पौराणिक एवं आगमिक आख्यानों से इसी कोटि के सैकड़ों नाम संकलित किये जा सकते हैं । इतना होने पर भी पुराकाल से 'सोलह सतियां' नाम ही जन-जन के मुख पर रहा है ।

मुनिश्री दिनकरजी ने सोलह सतियों का आदर्श जीवनवृत्त सरल और सुबोध भाषा में लिखा है, जो आबाल वृद्ध के लिए उपयोगी है । चार अन्य सतियों का जीवन-चरित्र भी परिशिष्ट में दिया गया है । मूल में सोलह जीवन-चरित्र हैं इसलिए इस पुस्तक का नाम 'सोलह महासतियां' रखा गया है ।

मुनिश्री पचहत्तर वर्ष के हो चुके हैं। शारीरिक शक्ति में पूर्वापेक्षा काफी ह्रास हो गया है, फिर भी जनहित के लिए निरन्तर कुछ-न-कुछ कार्य करते रहते हैं। उनका लेखन-कार्य भी उसी कोटि में आता है। इस पुस्तक के पठन-पाठन से जनता लाभान्वित होगी, ऐसी आशा करता हूं।

सं० 2040, माघ शुक्ला 13 —मुनि बुद्धमल

बीदासर, राजस्थान।

प्रस्तावना

सत् साहित्य सदैव जीवन का प्रेरक रहा है । इस साहित्य के अनेक रूप परिलक्षित होते हैं । काव्य रूप में प्रस्तुत साहित्य भावात्मक भूमिका पर मानव-हृदय को सामान्य अनुभूति की स्थिति में उपस्थित कर, उसे एकरूपता प्रदान करता है । उपन्यास, कहानी एवं नाटक रूप में प्रस्तुत साहित्य, विचारों और भावों में सम्बन्ध स्थापित करता हुआ, जीवन की अनेक स्थितियों परिस्थितियों का दर्शन कराता है । ये स्थितियां हमारे आदर्शों के साथ-साथ यथार्थ का भी बोध कराती हैं । इतिहास और जीवनवृत्त रूप में रचा गया साहित्य, मानव के वर्तमान जीवन को शिक्षा एवं नवीन प्रेरणा देने का कार्य करता है, और वर्तमान के साथ अतीत का गठबंधन करता है ।

साहित्य की ये सभी विधाएं यदि साहित्यकार द्वारा सम्यक् संपादित एवं परिपोषित हैं, तो मानव मात्र के लिए कल्याणकारिणी सिद्ध हो सकती हैं । अस्तु प्रत्येक कोटि के साहित्यकार को अपने द्वारा गृहीत एवं स्वीकृत विधा वाले साहित्य का सृजन जनहित की भावना से करना चाहिए ।

ऊपर जिन विधाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें जीवनवृत्त भी जनमंगलकारिणी विधा है । चिरकाल से शाश्वत प्रवहणशील यह मानव-जीवन कितनी कठिनाईयां, कितने संकट और कितनी विकट परिस्थितियाँ अनुभव करता आ रहा है, और कैसे वह अपने लिए और जगत के लिए उपादेय बन सका है, इसका परिचय जीवनवृत्त विधा में रचा गया साहित्य ही देता है । इस संसार में अनेक महापुरुष हुए हैं, जिनकी जीवन-गाथा जीवन यात्री के लिए पाथेय का कार्य करती आ रही है । न केवल पुरुष ही अपितु नारी समाज में भी ऐसी रत्न-दीपिकाएँ अवतरित हुई हैं, जिन्होंने अपने सदाचरण, सद्व्यवहार, सत्कार्य और सच्चिन्तन द्वारा विश्व में नवीन आलोक प्रसारित किया

है । इन रत्न-दीपिकाओं का मूल उद्गम स्थान निम्नांकित प्रकार से है—कुन्ती और द्रौपदी का उद्गम-स्थल दो स्थानों में मिलता है, त्रिषष्टि-श्लाका पुरुष महाकाव्य पर्व तथा ज्ञाता सूत्र अध्ययन 16 वां । इस प्रकार ब्राह्मी और सुन्दरी इन दोनों का उद्गम-स्थल त्रिषष्टि श्लाका पुरुष महाकाव्य पर्व 10 । अंजना कौशल्या चेल्लना और सीता इन चारों का उद्गम-स्थल त्रिषष्टि श्लाका पुरुष महाकाव्य पर्व 9 । इसी प्रकार दमयन्ती का भी त्रिषष्टि श्लाका पुरुष महाकाव्य पर्व 8 । महासती सुभद्रा का दशवें कालिक निर्युक्ति पुष्पचूला मृगावती, पद्मावती, शिवा, शीलवती इन पांचों का उद्गम-स्थल आवश्यक निर्युक्ति । इसी प्रकार चन्दनबाला, प्रभावती और सुलसा इन तीनो का उद्गम-स्थल आवश्यक चूर्णि है । उनका जीवन आज भी इस संसार समुद्र के तट पर प्रकाश-स्तम्भ की भाँति अवस्थित होकर अगणित जीवन पोतों का दिशा-निर्देश कर रहा है । सोलह सतियों के जीवन चरित्र भी ऐसे ही ज्योतिर्दीप हैं । इन सतियों का जीवन सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी एक अलग ही सत्ता एवं महत्ता रखता है । काल अनवरत अग्रगामी है । अपनी गति से अग्रसर होने वाला ये कालस्पंदन विगत को पीछे छोड़ता हुआ, वर्तमान की भूमि पर चलता हुआ, भविष्य के पथ की ओर मुड़ जाता है । इसमें कुछ लुभावने दृश्य शनैः-शनैः धुंधले होकर अदृश्य होते रहते हैं । परन्तु उन दृश्यों का उपयोग समझने वाले व्यक्ति अपनी स्मृति में उन्हें सुरक्षित रखकर, दूसरों के लिए भी उपकारकर्त्ता सिद्ध होते हैं । सोलह सतियों का जीवनवृत्त काल-प्रवाह में इसी प्रकार अदृश्य एवं लुप्त न हो जाए, इसी दृष्टिकोण को लेकर मैंने सोलह सतियों का जीवनवृत्त अपने ढंग से, अपनी लेखनी और प्रतिभा के अनुसार गुम्फन किया है ।

मुझे विश्वास है कि यह सोलह सतियों का जीवनवृत्त पढ़कर पाठकों को, विशेषतः धार्मिक और आध्यात्मिक आत्माओं को विशिष्ट उपलब्धि होगी । मेरे इस प्रयत्न में बालचन्दजी और पानमलजी मुनि

द्वय का पर्याप्त योगदान रहा है । इनका यह आत्मनाकृत योगदान और मेरा यह सृजन-प्रयत्न यदि पाठकों की दृष्टि में कल्याणकारी सिद्ध हुआ तो मैं अपने इस श्रम को सफल समझूंगा । इसकी पाण्डुलिपि बनाने में श्रीमती हनुमानमलजी बोथरा (धन्नी बाई), बजरंगलाल दूगड़ तथा सरदारशहर, पदराड़ा, सेंमड़ व बालोतरा निवासी कुछ सक्रिय युवकों का सराहनीय सहयोग रहा है । इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ के शोधन कार्य में मुनि मोहन आमेट और मुनि श्री चन्द टमकोर मुनि द्वय का विशेष हाथ रहा । इसलिए उपर्युक्त सभी व्यक्तियों का मैं हृदय से आभार मानता हूँ ।

6-2-1984

—मुनि दिनकर

अनुक्रम

मांगलिक श्लोक

ब्राह्मी चंदन बालिका भगवती राजीमजी द्रौपदी,
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा,
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यहो
पद्मावत्यपि सुन्दरी दिन-मुखे कुर्वन्तु वो मंगलम् ।।

सोलह सती-स्तवन

आदिनाथ आदि जिन वंदी, सफल मनोरथ कीजिए ए ।
प्रभाते उठी मांगलिक कामे, सोलह सती ना नाम लीजिए ए ॥ 1॥

बालकुमारी जगहितकारी, ब्राह्मी भरतनी बहनड़ी ए ।
घट-घट व्यापक अक्षर रूपे, सोलह सती मांही जे वड़ी ए ॥2॥

बाहुबल भगिनी सती शिरोमणी, सुन्दरी नामे ऋषभ सुता ए ।
अंक स्वरूपी त्रिभुवन मांहि, जेह अनुपम गुणयुता ए ॥3॥

चन्दनबाला बालपणे थी, शीलवती शुद्ध श्राविका ए ।
उड़दा ना बाकुला वीर प्रतिलाम्या, केवल लही व्रत भाविका ए ॥4॥

उग्रसेन-धुआ धारिणी नन्दिनी, राजीमती नेमी वल्लभा ए ।
यौवन वेशे कामने जीती, संयम लेई देव दुल्लभा ए ॥5॥

पंच भरतारी पांडव नारी, द्रुपद तनया बखाणिये ए ।
एक सौ आठे चीर पुराणा, शील महिमा तस जाणिये ए ॥6॥

दशरथ नृपनी नारी निरूपमा, कौशल्या कुल चन्द्रिका ए ।
शील सलूणी राम जनेता, पुण्य तणी प्रणालिका ए ॥7॥

कौशाम्बि ठामे सतानिक नामे, राज्य करे रंग राजियो ए ।
तस घर घरणी मृगावती सती, सुर भवने यश गाजियो ए ॥8॥

सुलसा साची शील न काची, राची नहीं विषय-रसे ए ।
मुखड़ा जोतां पाप पलाये, नाम लेता मन उल्लसे ए ॥9॥

राम रघुवंशी तेहनी कामिनी, जनक सुता सीता सती ए ।
जग सहु जाणे धीज करंता, अनल शीतल थया शीलथी ए ।।10।।

काचे तांतणे चालणी बांधी, कुवा थकी जल काढ़ियो ए ।
कलंक उतारवा सती सुभद्रा, चम्पा बार उघाड़ियो ए ।। 11।।

सुर नर वंदित शील अखंडित, शिवा शिव पद गामिनी ए ।
जेहना नामे निर्मल थइये, बलिहारी तसु नामनी ए ।। 12।।

हस्तिनागपुरे पाण्डुरायनी, कुन्ती नामे कामिनी ए ।
पाण्डव माता दसे दशारनी, बहेन पतिव्रता पद्मिनी ए ।। 13।।

शीलवती नामे शील-व्रत धारिणी, त्रिविधे तेहने वन्दिये ए ।
नाम जपंता पातक जाये, दर्शन दुरति निकंदिये ए ।।14।।

निषिधा नगरी नलह नरिन्दनी, दमयन्ती. तस गेहिनी ए ।
संकट पड़तां शील ज राख्यो, त्रिभुवन कीर्ति तेहनी ए ।। 15।।

अनंग अजिता जग-जन पूजिता, पुष्पचूला ने प्रभावती ए ।
विश्व-विख्याता कामित दाता, सोलहवीं सती पद्मावती ए।। 16।।

वीरे भाखी शास्त्रे आखी, उदयरतन भाखे मुदा ए ।
वहाणुं वातां जे नर भण से, ते लहसे सुख सम्पदा ए ।। 17।।

(श्रीउदयरतनजी कृत)

महासती ब्राह्मी

खणमेव सोक्खा बहुकाल दुक्खा
पगाम दुक्खा अणिगाम सोक्खा
संसार मोक्खस्स विपक्ख भूया
खाणी अणत्थाणउ काम भोगा (3014 : 13)

ब्राह्मी प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की पुत्री थी । उसने काम भोगों को क्षणिक समझकर और अनन्तकाल तक दुखों के हेतु मानकर छोड़ दिया । ब्राह्मी पूर्वभव में कौन थी, उसने कौन से ऐसे तप-जप किए जिससे वह भगवान् ऋषभ के घर पुत्रीत्व को प्राप्त हुई । यह प्रश्न एक जिज्ञासा का विषय है ।

प्राचीन ग्रन्थों में हमें पढ़ने को मिलता है, कि महाविदेह क्षेत्र में एक क्षिति प्रतिष्ठित नाम का नगर था । उस नगर में राजकुमार महीधर, मंत्रीपुत्र सुबुद्धि, वैद्यपुत्र जीवानन्द, श्रेष्ठिपुत्र पूर्णभद्र, शीलपुंज और केशवकुमार थे । छः व्यक्ति परस्पर मित्र भाव को प्राप्त थे । इस मित्रों में अत्यधिक प्रेम होने के कारण, आना-जाना, खाना-पीना, उठना-बैठना साथ-साथ ही होता था । सैर आदि के लिए भी ये लोग जब कभी बाहर निकलते थे, साथ-साथ ही रहते थे । एक-दूसरे को बिना देखे चैन नहीं पड़ता था ।

एक बार वे छः मित्र क्रीड़ा के निमित्त किसी एक सुन्दर उपवन में पहुंचे । वहां उन्होंने एक चट्टान की तरह निश्चल खड़े हुए ध्यानस्थ मुनि को देखा । उस वैराग्य मूर्ति मुनि को देखकर वे सब अवाक् रह गये । उन्होंने देखा मुनि के शरीर से लहू और पीब अविरल गति से बह

रहे थे । ऊपर से शरीर की चमड़ी गल चुकी थी ! उसके ऊपर सैकड़ों मक्खियां भनभनाहट करती हुई मुनि को तंग कर रही थीं । अन्दर से कुष्ठ रोग के विषैले कीटाणु मुनि के शरीर को कचोट रहे थे । इतना सब कुछ होते हुए भी मुनि अपने साधना सरोवर में डुबकियां लगा रहे थे । उनके कण-कण से समता रस टपक रहा था । उनका मुख-मण्डल साधना की सफलता पर खिल रहा था । वे परम सन्तुष्ट और वैराग्य-भावना से ओत-प्रोत हो रहे थे । आत्मा का तार एकमात्र परमात्मा के साथ जुड़ रहा था । उन्हे जीने का कोई हर्ष और मरने का कोई शोक नहीं था ।

मुनि के शरीर की स्थिति की ओर दृष्टि घुमाते हुए पांचों मित्रों ने अपने छठे मित्र जीवानन्द से कहा, 'वैद्यपुत्र ! तुम्हारे पिताजी आज के समय में एक जगत प्रसिद्ध वैद्य हैं, और तुम शायद उनसे भी बढ़कर एक सर्वोत्कृष्ट एवं सफल वैद्य कहलाते हो । वैद्यतनय ! हम समझते हैं इन मुनि की चिकित्सा यदि तुम्हारे कर-कमलों द्वारा हो तो अच्छा रहे । आपका जन्म सफल एवं आत्मा कृत-कृत्य हो जायेगी । इस विषय में जो भी सहयोग की आवश्यकता हो, हम सभी मित्र आपके साथ हैं ।'

वैद्यपुत्र जीवानन्द कुछ समय तक सोचता रहा, गहरे चिन्तन के बाद उसने अपने मित्रों से कहा—'प्यारे मित्रों ! यहां मुनि की चिकित्सा में तीन दुष्प्राप्य वस्तुओं की आवश्यकता होगी । रत्न कम्बल, गोशीर्षचन्दन, और लक्षपाक तेल । इन अलभ्य तीन वस्तुओं की प्राप्ति के पश्चात ही मुनि की चिकित्सा चालू की जा सकती है । इन तीनों औषधियों में से एक लक्षपाक तेल मेरे पास उपलब्ध हो सकेगा । रत्न कम्बल और गोशीर्षचन्दन जो कि अत्यन्त दुर्लभ, है, इनके विषय में आप लोगों को सोचना है । क्रय से लायी गई वस्तु मुनि की चिकित्सा में प्रयुक्त नहीं की जा सकेगी क्योंकि वह मुनि के लिए अकल्पय होती है । हम श्रावकों का कर्तव्य हो जाता है कि हम मुनि की चिकित्सा के लिए इन वस्तुओं को जहां कहीं भी प्राप्त हो, निर्दोष रूप से प्राप्त करें और मुनि की चिकित्सा में जुटें ।'

पांचों ही मित्रों ने वैद्य जीवानन्द की बात का समर्थन करते हुए कहा—'वैद्यपुत्र ! हम सब श्रावक हैं और श्रावकत्व के नाते हमें इस बात की जानकारी भी है कि मुनि के लिए क्रय की गयी वस्तु काम नहीं आएगी, अतः आप इस ओर से निश्चिंत रहें । हम सभी अभी-अभी बाजार जा रहे हैं और इन वस्तुओं को निरवद्य रूप से प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे । आप भी अपनी पूर्व तैयारी में संलग्न हों ।'

पांचों मित्र गहरे चिन्तन में डूबे हुए बाजार में पहुंचे । वहां की एक-एक दुकान में गए, देखा और पुछताछ भी की, किन्तु किसी के पास ये वस्तुयें प्राप्त नहीं हुईं । अन्त में घूमते-घूमते वे पश्चिम बाजार की अन्तिम दुकान में पहुंचे । वहां उन्हें ये दोनों वस्तुएं उपलब्ध हो गईं । श्रावक दुकानदार ने जब मुनि की बीमारी के विषय में सुना, तो वह उसी क्षण बिना किसी ननुनच के दोनों वस्तुएं देने के लिए तत्पर हो गया । परन्तु उन पाचों ने सोचा, ये वस्तुएं कोई मुनि ही भिक्षावृत्ति से याचना कर, महामुनि की चिकित्सा कर सकता है, न कि कोई गृहस्थ । अतः हमें इस कार्य के लिए किसी मुनि की टोह करनी चाहिए । इस प्रकार चिन्तन कर वे पास के गांव में गये, और एक निर्जरार्थी मुनि से सविनय निवेदन किया । मुनिजी बड़े ही सेवाभावी थे । बात सुनते ही तत्काल 'हां' भर ली और उनके साथ उस दुकान पर पहुंचे । वहां उन्होंने विधिपूर्वक तथा सन्त-मर्यादा के अनुकूल रत्नकम्बल और गोशीर्षचन्दन ग्रहण किया और उनके साथ उस उपवन में पहुंचे, जहां कुष्ठ से पीड़ित महामुनि साधना कर रहे थे । उनकी आज्ञा प्राप्त कर चिकित्सा का पहला दौर प्रारम्भ किया गया ।

महावैद्य ने सर्वप्रथम लक्षपाक तेल का मर्दन उनके शरीर पर करने को कहा—'सेवाभावी मुनि ने उनके आदेशानुसार सारे शरीर पर तेल का मर्दन कर उनके शरीर पर वह रत्नकम्बल डाल दिया । तेल की गर्मी से चर्मगत सभी कुष्ठ के कीड़े उस रत्नकम्बल से आकर चिपट गये । सेवा भावी मुनि महावैद्य के कथनानुसार उस रत्नकम्बल को

के शरीर से उतारा तो देखा कि उस कम्बल से हजारों-हजारों कुष्ठ के कीड़े चिपटे हुए हैं । सेवाभावी मुनि ने उस रत्नकम्बल को यत्नपूर्वक एकान्त में ले जाकर झटका और वापस आकर महामुनि के शरीर पर गौशीर्षचन्दन का लेप किया, जिसके द्वारा तेल से व्याप्त उष्णता दूर होकर शीतलता व्याप्त हो गई । दूसरे दिन फिर यही क्रम रहा । जिससे जो मांस के अन्तर्गत कीड़े थे, वे सब-के-सब बाहर निकल आये । तीसरे दिन जब फिर लक्षपाक तेल का मर्दन कर, रत्नकम्बल मुनि के तन पर डाला तो अस्थिगत कीटाणु भी बाहर आकर रत्नकम्बल से चिपट गये । मुनि के शरीर पर सदा की भांति गौशीर्षचन्दन का मर्दन किया गया । इस प्रकार तीन दिनों में मुनि का शरीर बिलकुल कंचनवत् हो गया ।

वैद्यपुत्र जीवानन्द ने मुनि से पूछा—'भगवान् ! हम सब मित्र आपका परिचय जानना चाहते हैं । आपके शरीर में यह भीषण रोग कैसे और कब उत्पन्न हुआ, यह भी हमारी जिज्ञासा है ।' महामुनि ने अपना परिचय बताते हुए कहा—'मैं पृथ्वी-तिलक पुरपति महाराज पृथ्वीपाल का लड़का हूं । मेरा नाम गुणाकर है । सौभाग्यवश गुरुवाणी सुनकर मुझमें वैराग्य वृत्ति का आविर्भाव हुआ । पिताजी की अनुज्ञा प्राप्त कर मैंने दीक्षा ग्रहण की और तपोनिरत जीवन व्यतीत करने लगा । किसी पूर्वकृत कर्म के उदय से मेरे शरीर में यह कुष्ठ रोग उत्पन्न हो गया । इससे छुटकारा पाने के लिए अनेक प्रकार की औषधियों का सेवन किया, परन्तु वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला गया । अन्त में इसने गलित कुष्ठ का रूप धारण कर लिया । ऐसी स्थिति में शरीर को तप साधना के लिए अयोग्य देखकर गुरु आज्ञा से मैंने संलेखना संथारा धारण कर इसे त्यागने का निश्चय किया और यहां आकर ध्यानस्थ एवं आत्मचिन्तन में लीन हो गया । इस प्रकार ध्यान करते वेदनीय कर्म का आवरण कुछ कमजोर हुआ और आप सभी लोगों के द्वारा सेवाभावी मुनि के संयोग से इस घोर रुग्णता से मुक्ति प्राप्त हुई ।

महामुनि ने अवसर समझकर सभी लोगों को उपदेशामृत पिलाया । संसार की असारता, भोगों की नश्वरता, जन्म-मरण की भीषणता और धर्म की परमावश्यकता आदि विषयों पर मर्मस्पर्शी प्रकाश डाला । मुनि के उपदेश से उन छहों मित्रों ने वैराग्य में ओत-प्रोत हो मुनिवर से दीक्षा ग्रहण की । क्रमशः शुद्ध संयम का निर्वाह करते हुए अन्त में आयुष्य पूर्ण कर वे सब बारहवें स्वर्ग के निवासी बने । स्वर्ग के सुखों का उपभोग कर आयुष्य पूर्ण होने के बाद वे सभी देवता महाविदेह क्षेत्र की पुष्कलावती विजय में उत्पन्न हुए । उनमें से पांच देवता पुण्डरीकिणी नगरी में राजा वज्रसेन के घर पुत्रत्व को प्राप्त हुए । इन पांचों के नाम क्रमशः वज्रनाभ, बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ रखे गये । पूर्वजन्म में इनके नाम क्रमशः वैद्यपुत्र जीवानन्द, राजपुत्र महीधर, मंत्रीपुत्र सुबुद्धि, श्रेष्ठी-पुत्र पूर्णभद्र और शीलपुंज था । छठा मित्र केशवकुमार इसी विजय में किसी अन्य राजा के घर पुत्र भाव को प्राप्त हुआ । उसका नाम सुयश था । यद्यपि इसने किसी अन्य राजा के यहां जन्म लिया था किन्तु पूर्वभव के प्रेमवश वह भी संयोग से इन्हीं के साथ आ मिला ।

भूपति वज्रसेन अपने बड़े पुत्र वज्रनाभ के राज्य-भार देकर स्वयं संयमी बन गये । वे आगे चलकर तीर्थंकर बने और लाखों लोगों का उद्धार किया । इधर राजा वज्रनाभ भी चक्रवर्ती पद को प्राप्त कर छः खण्डों में अपना शासन स्थापित किया । एक समय चक्रवर्ती वज्रनाभ की राजधानी में भगवान् वज्रवान् का पदार्पण हुआ । उनकी वाणी से प्रभावित हो राजा सहित वे पांचों भाई और उनका अभिन्न मित्र सुयश—ये छहों व्यक्ति दीक्षित हो गये । तीर्थंकर भगवान के निर्वाणोपरान्त वज्रनाभ अत्यन्त दक्षता के साथ गण की सार-सम्भाल करने लगे । गण की विशिष्ट देखभाल करने से इन्होंने तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया और तीसरे भव में भगवान् ऋषभदेव बने । बाहु और सुबाहु—ये दोनों मुनि बाल तपस्वी, ग्लान एवं वृद्ध मुनियों की सेवा में तन-मन से जुड़ गये । बाहु मुनि प्रतिदिन पांच सौ मुनियों को भिक्षा से आहार पानी करवाते

थे और अपने शरीर की परवाह न करते हुए अवशिष्ट आहार से अपना काम चलाते थे । वे अपने स्वास्थ्य के विषय में बिलकुल बेसुध रहते थे । इसी प्रकार सुबाहु मुनि ने भी वृद्ध, ग्लाल और तपस्वी मुनियों की हर प्रकार से सेवा कर भूरि-भरि निर्जरा का लाभ उठाया । वे ग्लान व रुग्ण मुनियों के घाव साफ करने व मल-मूत्र-परिष्ठापन में किंचित भी संकोच नहीं करते थे । वे सेवा करते समय किसी भी प्रकार की ग्लानि नहीं करते थे । घृणा जैसी वस्तु उनके विचारों से कोसों दूर रहती थी । दोनों बन्धुओं ने इस प्रकार विविध प्रकार से सेवा-सुश्रूषा कर अपूर्व पुण्यों का संचय किया । देवयोनि से आयुष्य पूर्ण कर ये दोनों बांधव इस भरत क्षेत्र में चक्रवर्ती भरत और महाबली बाहुबली के नाम से ऋषभ देव की संतान हुए ।

बाहु और सुबाहु दोनों मुनियों की सेवा-सुश्रूषा की सौरभ चारों ओर फूट पड़ी । ग्राम, नगर, कूचों में जिधर देखो इन्हीं की गूंज थी । आचार्य वज्रनाभ स्वयं अपने मुंह से उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे । आचार्य देव के मुंह से इन दोनों बन्धुओं की प्रशंसा, पीठ और महापीठ इन दोनों मुनियों से सहन न हो सकी । वैसे ये दोनों भाई संसार पक्ष में इनके बड़े भाई थे, फिर भी ईर्ष्याग्नि में जलने लगे । गुरुदेव इन दोनों की झूठी प्रशंसा करते हैं । क्या हम लोग विनय व्यवहार नहीं करते ? फिर भी आचार्य इन दोनों की ही प्रशंसा करते नहीं अघाते । लगता है आचार्य इनका व्यर्थ ही पक्ष लेते हैं । इस प्रकार ये दोनों मुनि आचार्य के प्रति दुर्भाव रखने लगे । इनकी चारित्रिक क्रियाओं में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं थी फिर भी ईर्ष्या, द्वेष और आचार्य की प्रत्यनीकता के कारण इन दोनों मुनियों के स्त्री नाम कर्म का बंधन पड़ा । इन दोनों ने भी आगे चलकर बाहु-सुबाहु की तरह स्वर्ग से आयुष्य पूर्ण कर अयोध्या में ऋषभदेव के यहां कन्याओं के रूप में जन्म ग्रहण किया । इन दोनों कन्याओं ने ब्राह्मी और सुन्दरी के नाम से संसार में ख्याति प्राप्त की ।

वज्रनाभ आदि छहों मुनि अनेक वर्षों तक चारित्र धर्म का पालन करते रहे । अन्त में ये मुनि आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थ-सिद्धि देवलोक में महर्धिक देवता बने । इस प्रकार वहां देवलोक सम्बन्धी आयुष्य पूर्ण कर वज्रनाभ का जीव ऋषभदेव, बाहु-सुबाहु के जीव भरत-बाहुबली, पीठ और महापीठ के जीव ब्राह्मी और सुन्दरी और केशवकुमार के जीव ने श्रेयांसकुमार के रूप में जन्म ग्रहण किया । भगवान् ऋषभ ने अक्षर विद्या की शिक्षा अपनी पुत्री ब्राह्मी को और अंक विद्या अपनी छोटी पुत्री सुन्दरी को दी । जबकि उनसे बड़े भरत और बाहुबली दो योग्य पुत्र उनके सामने थे । अतः यह बात अपने आप समझ में आ जाती है कि ऋषभदेव नारी जाति का विशेष सम्मान करते थे ।

ऋषभदेव ने तिरासी लाख पूर्व वर्षों तक राज्य किया । उन्होंने दुनिया को सांसारिक, व्यावहारिक और नैतिक शिक्षाएं दीं । अन्त में उन्होंने अपने आपको राज-काज से अलग कर लिया । अपने बड़े पुत्र भरत को राज्याभिषेक कर उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया एवं अन्य पुत्रों को भी यथायोग्य राज्य देकर दीक्षित हो गये । हजारों वर्षों तक घोर तपश्चर्या में लीन रहने के पश्चात् उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ । चार तीर्थों की स्थापना कर वे प्रथम तीर्थंकर कहलाये ।

चक्रवर्ती सम्राट भरत एक दिन अपने सभागार में अनेक राजाओं के परिवार से घिरे हुए बैठे थे कि उन्हें एक साथ तीन बधाईयां प्राप्त हुईं । उन्होंने सुना कि भगवान् ऋषभदेव को कैवल्य प्राप्त हो गया है, आयुधशाला में चक्ररत्न उपस्थित हुआ है और उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है । ये तीनों बधाईयां अतिशय हर्ष का विषय थीं । भगवान् ऋषभदेव उस दिन अयोध्या में पधारे हुए थे । सम्राट भरत को जैसे ही भगवान के कैवल्य की बधाई मिली, वे अपनी महास्थविरा दादी के साथ सपरिवार भगवान् ऋषभदेव के दर्शनार्थ निकल पड़े और भगवान् के समवसरण में पहुंचे । महास्थविरा मरुदेवी ने जैसे ही भगवान् के दर्शन किये, वह हाथी के हौदे पर बैठी हुई ही सिद्धावस्था को प्राप्त

अपनी दादी का इस प्रकार अचानक निधन देखकर ब्राह्मी के दिल पर काफी चोट लगी, फिर भी उसने हिम्मत और समता भाव का परिचय दिया। उसने रोना-पीटना कुछ नहीं किया, प्रत्युत उनकी मृत्यु से उसने अपने दिल में वैराग्य भावना पैदा की। वह समझ रही थी कि जीवन की अन्तिम अवस्था ऐसी ही होनी चाहिए। क्योंकि जो जन्मता है, वह मरता है। जो खिलता है, वह मुरझाता है। जहां उदय है, वहां अस्त भी है। इस प्रकार दादी के निधन से ब्राह्मी ने अपने जीवन में पूर्णतया वैराग्य को स्थान दिया। उसने सोचा कि जब एक दिन मरना ही है, तो दादी की तरह ही मरना उचित होगा। ऐसा करने पर ही मैं संसार के द्वन्द्वों से मुक्त हो सकूंगी एवं अपनी प्यारी दादी से साक्षात्कार कर सकूंगी। इसलिए मेरे लिए उचित होगा कि मैं इन सांसारिक दुख-द्वन्द्वों को छोड़कर भगवान् ऋषभ की शरण में चली जाऊं। संसार से मुक्ति पाने के लिए इससे बढ़कर सरल मार्ग और कोई नहीं है। इस प्रकार सोचती हुई वह अपने भाई सम्राट भरत के पास पहुंची। चक्रवर्ती उस समय अवकाश होने के कारण एकान्त में विराजित थे।

ब्राह्मी किसी प्रकार की आहट न करती हुई मंद गति से उनके पास पहुंची। उसने अत्यन्त प्रियता के साथ कहा, 'मेरे प्रिय बन्धु! आज मैं तुम्हारे पास सेवा के लिए नहीं, अपितु एक अपूर्व निवेदन लेकर आई हूं। हो सकता है मेरा वह निवेदन तुम्हें असुहाना और अप्रिय भी लगे किन्तु तुम्हें उस पर ध्यान देना है। बंधु! जिस दिन हम सब भगवान् ऋषभ के दर्शनार्थ गये थे और हमारी प्यारी दादी मरुदेवी ने हाथी के ऊपर बैठे-बैठे ही अचानक प्राण छोड़ दिये, तब से मेरा मन इस संसार से ऊब गया है और मैं अब चारित्र स्वीकार करना चाहती हूं। मुझे आशा है तुम मेरे इस अनुनय को टालोगे नहीं एवं सहर्ष आज्ञा प्रदान करोगे।'

भरत ने ऐसा नहीं सोचा था कि इस स्थिति में वह दीक्षा की बात कहेगी। उनके दिल पर अभी दादी के निधन का सदमा था। वे याद

आते ही गद्‌गद हो उठते, इस स्थिति में ब्राह्मी का संयम के लिए अनुमति मांगना उन्हें घाव पर नमक लगाने जैसा लगा । उन्होंने ब्राह्मी को संबोधित करते हुए कहा, 'प्राणों से भी प्यारी बहन ब्राह्मी ! तुम्हारी बात पर ध्यान देता हूं तो मेरी आत्मा में रोष भी आता है और हंसी भी आती है । रोष इसलिए कि मैं अभी तक पूज्य दादी जी के वियोग की बात भी नहीं भूल पाया हूं, उससे पहले ही तुम फिर एक वियोग की बात कहने चली आई हो । हास्य इसलिए कि तुमने चारित्र को एक तमाशा समझा है । मेरी प्यारी बहन ! चारित्र को तुमने बहुत सरल समझा है । परन्तु वह चारित्र सरल नहीं अपितु काले सांपों को पालने, लोहे के चने चबाने, प्रति-स्रोत में बहने और तलवार की धार पर चलने जैसा है । छोटी बहन होने के नाते तुम्हें अत्यन्त प्यार और दुलार के साथ मैं कहना चाहता हूं कि फिर कभी यह संयम वाली बात मेरे सामने मत लाना । कहां तुम्हारा यह कोमल अंग और कहां संयम के दुर्धर कष्ट ! कहां चूने के आंगन और कहां मखमल के गद्दे ! कहां रेगिस्तान के टीले और कहां नन्दन वन ! अतः तुम्हें सोच-समझकर बात करनी चाहिए । एकाएक जल्दबाजी करना ठीक नहीं । धैर्य रखो और कुछ समय के लिए अभी रुकी रहो ।'

ब्राह्मी ने अपने भाई चक्रवर्ती भरत को समझाते हुए कहा—'प्रिय बन्धु ! इतनी कमजोर दिल की-सी बातें क्यों करते हो ? तुम्हारे मुंह से ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं । हम भगवान् 'ऋषभ की संतान हैं । मेरा मन संयम के लिए सुदृढ़ है । मैं संयम को कोई कष्ट नहीं समझती । प्रत्युत उसमें आनन्द मानती हूं । यहां संसार में कौन-से सुख हैं ? यहां तो दुखों का दावानल दहक रहा है । जन्म, जरा, मरण, पारिवारिक और शारीरिक न जाने कितने-कितने कष्ट हैं । यहां सुख स्वल्प है और दुख अधिक हैं । भाई ! ये भौतिक सुख अनर्थों का आगार हैं । अतः मुझे इस संसार में कोई रुचि नहीं है । मैं चाहती हूं तुम अब मेरे इस मांगलिक कार्य में बाधक नहीं बनोगे ।'

इस प्रकार भाई-बहन दोनों में काफी चर्चा हुई । भरत उसे गृहस्थ जीवन में रखना चाहते थे, और बहन संसार से मुक्ति पाना चाहती थी । आखिर बहन की विजय हुई । भरत को बाध्य होकर आज्ञा प्रदान करनी पड़ी । ब्राह्मी आज्ञा प्राप्त कर भगवान् ऋषभ के समवरण में आई और अत्यन्त उल्लास के साथ भगवान् ऋषभ के चरण-कमल में समर्पित हो गयी । इस अवसर्पिणी काल की वह प्रथम साध्वी थीं । साधुत्व को स्वीकार कर उसने स्त्रियों का गहरा अध्ययन किया । भगवान ऋषभ के शासनकाल में वह अपनी योग्यता के अनुसार तीन लाख साध्वियों की प्रधान बनीं । क्रमशः आठों कर्मों के बन्धन को छेदकर अन्त में मुक्ति की ओर प्रस्थान कर गयीं ।



महासती सुन्दरी

13

ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों बहनें थीं । दोनों ही भगवान् ऋषभ की पुत्रियां थीं, ब्राह्मी भरत की और सुन्दरी बाहुबली की सगी बहन थी । जीवन के जिस समय में ब्राह्मी दीक्षा लेने जा रही थी, उस समय सुन्दरी का मन भी दीक्षा के लिए उतावला हो उठा था । यह स्वाभाविक भी था । क्योंकि कुछ व्यक्तियों में देखा-देखी वैराग्य की जागृति भी हो जाती है और वह पूर्णरूपेण कसौटी पर वही उतरती है । सुन्दरी को भी ऐसा ही हुआ था । किन्तु सुन्दरी की यह मनोवांछा उस समय पूरी नहीं हो सकी । सुन्दरी का यौवन और लावण्य बड़ा ही अद्भुत था । वह उस समय की एक सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी । चक्रवर्ती भरत उसके रूप लावण्य पर आसक्त थे । यह बात आज अटपटी लग सकती है कि अपनी ही बहन के प्रति एक भाई की ऐसी भावना कैसे हो सकती है । किन्तु यह कोई अनहोनी बात नहीं थी, क्योंकि उस समय यौगलिक पद्धति चालू थी । उसमें भाई-बहन का जोड़ा जन्म ग्रहण करता और वही आगे चलकर पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाता । भगवान् ऋषभ के समय यौगलिक परंपरा अन्तिम श्वास ले रही थी । फलतः एक जोड़े में से अचानक पुरुष की मृत्यु हो गई । वह उस समय की प्रथम अकाल मृत्यु थी, सभी असमंजस में थे कि अः उस अकेली नारी की क्या व्यवस्था हो, अंततः निश्चय किया गया वि. उसे राजा ऋषभ को सौंप देना चाहिए । वैसा ही किया गया, लोगों की प्रार्थना और नारी की सुव्यवस्था को ध्यान में रखते हुए ऋषभ ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार किया । प्रथम पत्नी सुमंगला के भरत आदि निन्यानवे पुत्र हुए जबकि दूसरी पत्नी सुनंदा के एक पुत्र बाहुबलि हुए । भरत ने

अपनी विमाता की पुत्री सुन्दरी को अपनी महारानी बनाना चाहा । यही कारण था कि उन्होंने उसे ब्राह्मी के साथ दीक्षा ग्रहण करने से रोक दिया । भरत ने अत्यन्त मधुरता भरे शब्दों में कहा—'सुन्दरी ! यह सारा राज्य तुम्हारा होगा । नाना प्रकार के रत्नजड़ित आभूषण तुम्हारे चरणों में उपस्थित होंगे । ये बड़े-बड़े प्रासाद, मन्दिर, बाग-बगीचे तुम्हारे क्रीड़ा-स्थल होंगे । सैकड़ों-सैकड़ों दास और दासियां तुम्हारे सामने करबद्ध होकर रहेंगे । मैं स्वयं तुम्हारी दृष्टि का अनुसरण करता रहूंगा, बोलो और क्या चाहती हो ?'

इस प्रकार भरत ने सुन्दरी को अपनी महिषी बनाने के लिए सारी ताकत लगा दी । किन्तु सुन्दरी अपनी बात पर अडिग थी । उसने भरत को सम्बोधित करते हुए कहा—'राजेन्द्र ! मुझे यह तुम्हारा लम्बा-चौड़ा राज्य नहीं चाहिए, यह तुम्हारे रत्नजड़ित आभूषण मुझे नहीं चाहिए, आकाश से बात करने वाले ये तुम्हारे प्रासाद मुझे नहीं चाहिए । तुम्हारे सैकड़ों दास-दासियां मेरे लिए धूल और मिट्टी के तुल्य हैं । इसी का नाम है—जे येकन्ते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वई' सुन्दरी ने अपनी बात को चालू रखते हुए कहा—'भूपेन्द्र ! यह सारी भोग सामग्री अस्थिर है, विषय-वासना किंपाक फल के समान जीवन को नष्ट करने वाली हैं । मैं स्वप्न में भी इनकी इच्छा नहीं करती । मुझे संसार के भोग हलाहल विष के समान लगाते हैं । अतः मेरा आप से यही निवेदन है कि मुझे दीक्षा लेने से न रोकें, और अनुमति प्रदान करें । मेरे अनमोल क्षण व्यर्थ जा रहे हैं । मैं चाहती हूं कि भगवान् ऋषभ के शरण में जाकर उन्हें सफल बनाऊं ।' किन्तु भरत ने उसकी एक भी नहीं सुनी । सुन्दरी का निवेदन अरण्य-रोदन की तरह व्यर्थ ही गया ।

भरत ने देखा, सुन्दरी अभी मेरी बात पर नहीं आ रही है, अतः मुझे भी इस बात के लिए जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए । अच्छा होगा कि मैं इसे राजमहलों में व्यवस्थित कर, दिग्विजय के लिए निकल

जाऊं। वापस लौटूंगा तब तक सम्भव है, इसके मन में परिवर्तन आ जाए और सहज ही मेरा काम बन जाए। भरत अपने चिन्तन के अनुसार सुन्दरी को अन्तःपुर में व्यवस्थित कर स्वयं अपनी सर्व व्यवस्थाओं के साथ दिग्विजय के लिए निकल पड़े। पीछे से महासती सुन्दरी ने सोचा कि ऐसी कौन-सी बात है, जिसको लेकर भरत मुझे दीक्षा की अनुमति नहीं देना चाहते ? बहन ब्राह्मी दीक्षा ग्रहण कर चुकी, उसे भरत ने सहर्ष आज्ञा प्रदान की और मेरे विषय में संकोच करते हैं। क्या मुझमें बहन ब्राह्मी जितनी क्षमता नहीं है ? क्या मैं चारित्र के विषय में निर्बल हूं ? इस प्रकार सुन्दरी ने गहराइयों में उतर कर देखा। अपने-आप में उसने किसी प्रकार की कमियां नहीं पायीं। किन्तु अंत में वह भरत के कुछ निर्देशों पर विचार करती हुई इस निर्णय पर पहुंची, कि उसका यह सुन्दर रूप-रंग ही इस कार्य का बाधक बनकर, एक चट्टान की तरह सामने आ खड़ा हुआ है।

सुन्दरी ने तत्काल ही एक निर्णय लिया। उसने अपने-आपको एक कड़ी तपस्या में लगा दिया और वह निरन्तर आचाम्ल (आयंबिल) तपस्या का आचरण करने लगी। इधर भरत ने भी साठ हजार वर्षों में दिग्विजय कर अयोध्या में प्रवेश किया। इतना समय गुजर जाने के बावजूद उनके मन में सुन्दरी के प्रति वही लालसा उबल रही थी। वे बड़ी शीघ्रता से चाह और लगन के साथ सुन्दरी के लिए अन्तःपुर में पहुंचे।

इधर महासती सुन्दरी भी अपनी रूपराशि पर साठ हजार वर्ष तक आचाम्ल तप कर विजय प्राप्त कर चुकी थी। सुन्दरी अब सुन्दरी नहीं, केवल अस्थि-पंजर ही रह गई थी। महाराज भरत जब सुन्दरी के पास पहुंचे तो उन्हें वे पहचान तक नहीं पाये। चक्रवर्ती भरत अवाक् थे। वे अपने किये पर पश्चात्ताप कर रहे थे। वे उसके सामने झुक गये। उनके दोनों नेत्र गीले हो गये। उन्होंने साश्रुविलोचनों से कहा—'बहन सुन्दरी ! अब अपने इस अपराधी भाई को क्षमा की भीख दो। मैंने

तुम्हारी भावना को कुचलने का प्रयत्न किया है । बहन ! तुम छोटी होकर भी बड़ी हो, निर्बला होकर भी बलिष्ठा हो । तुम एक बार नहीं, कोटिशः धन्यवाद की पात्र हो ।' इस प्रकार महाराज भरत सुन्दरी की स्थिति को देखकर पिघल गये और अपने किये पर पश्चात्ताप करने लगे । महासती ने कहा, 'मेरे प्यारे भाई ! तुम्हारा इसमें क्या दोष, यह तो मेरे ही कोई अन्तराय कर्मों का उदय था, अन्यथा तुम्हारे जैसा चिन्तनशील व्यक्ति क्या कभी ऐसा चितन्न कर सकता था ? 'खैर गई सो गई अब राख रही को' इस युक्ति के अनुसार कृपया तुम अब भी मुझे दीक्षा की अनुमति दो, ताकि शीघ्र ही दीक्षित हो, भगवान की शरण में पहुंचूं और तुम भी धर्म दलाली का लाभ उठाओ ।'

महाराज भरत ने सुन्दरी को ढाढ़स बंधाते हुए कहा, 'गते शोको न कर्तव्यः' इस उक्ति को देखते हुए अब तुम्हें पिछली बातों को भूल जाना चाहिए । इस प्रकार उसे सब प्रकार से राजी कर भरत ने आज्ञा प्रदान की । सुन्दरी भी आज्ञा प्राप्त होते ही अविलम्ब भगवान् ऋषभ देव के समवसरण में पहुंची और चारित्र में रम गई । चारित्र ग्रहण करने के पश्चात् संसारपक्षीया अपनी बहन प्रवर्तिनी ब्राह्मी के आधिपत्य में रहने लगी एवं सरलतापूर्वक परम पवित्र संयम की साधना में लीन हो गई ।

दिग्विजय प्राप्त करने के पश्चात् सम्राट भरत ने अपने छोटे भाई बाहुबली का राज्य भी हड़पना चाहा । उसने तत्काल ही उसके पास दूत भेजा और अपनी आज्ञा मानने का निर्देश दिया । बाहुबली ने सम्राट भरत की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया । भला यह बात भरत को कैसे सहन हो सकती थी ! दोनों भाइयों में टकराव की स्थिति पैदा हो गई । भयंकर युद्ध छिड़ा, दोनों ओर के लाखों सुभट मारे गये । बारह वर्षों तक भीषण युद्ध चलता रहा, किन्तु कुछ भी हल नहीं निकला । अन्त में दोनों भाइयों के बीच पाँच प्रकार के द्वंद्व युद्धों की घोषणा की गई । उन पाँच प्रकार के युद्धों में भी महाराज भरत पराजित हो गए । उन्होंने फिर भी मर्यादा को भंग कर बाहुबली पर

सुदर्शन चक्र चलाया । बाहुबली क्रुद्ध होकर महाराज भरत को मारने के लिए दौड़े । देवताओं ने देखा बाहुबली अत्यन्त आवेश में हैं । ऐसे आवेश में अगर उन्होंने प्रहार किया तो महाराज भरत चकनाचूर हो जायेंगे । देवताओं ने दौड़ते हुए बाहुबली को प्रशस्ति-वचनों के द्वारा शान्त करने का प्रयत्न किया । बाहुबली ने देखा कि अब यह प्रहार करने के लिए उठा हुआ हाथ खाली नहीं जा सकता, अतः अच्छा हो यह प्रहार मैं अपने कर्मों पर करूं । इस प्रकार विचार कर उन्होंने अपने हाथों से सिर का लुन्चन कर लिया और मुनि बन गये । उनके अठानबे छोटे भाई भगवान ऋषभ देव के पास पहले ही दीक्षित हो चुके थे । बाहुबली ने सोचा मैं बड़ा हूं, छोटे भाइयों को वन्दना कैसे करूं ! ऐसा चिन्तन कर वे भगवान ऋषभ के दर्शनार्थ न जाकर गहन जंगल में जाकर ध्यानस्थ हो गये । बारह महीनों तक वहीं खड़े-खड़े भूख, प्यास, दंशमशक शीत, ताप आदि अनेक प्रकार के घोर परीषह सहते रहे । दीक्षित होने के बाद जब सुन्दरी ने उन्हें नहीं देखा तो भगवान से पुछा । भगवान् सर्वज्ञ थे, उन्होंने सारी स्थिति बतलाई । सुन्दरी को यह सुनकर काफी दुःख हुआ और भगवान की आज्ञा प्राप्त कर बहन ब्राह्मी के साथ बाहुबली मुनि के दर्शनार्थ वहां पहुंची । उन्होंने दूर से बाहुबली को देखा—जिनके शरीर पर पक्षियों ने घोंसले डाल लिये थे । लताओं के द्वारा सारा शरीर आच्छादित हो चुका था । फिर भी अभिमान के कारण कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो रही थी । ऐसी स्थिति देखकर दूर से ही दोनों बहनों ने कहा – 'वीरा म्हारा गज थकी ऊतरो गजचढ़या मोक्ष न होय' संगीत के ये स्वर बाहुबली के कानों में पड़े । उन्होंने अपनी बहनों का स्वर पहचान लिया । मन ही मन चिन्तन किया की यह स्वर तो मेरी संसारपक्षीया बहन ब्राह्मी और सुन्दरी के ही हैं, किन्तु उन्होंने यह गज से उतरने वाली बात कैसे कही ? मेरे पास तो कोई हाथी नहीं है । वे साध्वी हैं ऐसा कैसे कह सकती हैं ? आखिर उन्होंने ऊहापोह की तो पाया कि वे एक अभिमान स्वरूप महाकाय हाथी पर आरूढ़ हैं । उनके मन में छोटे भाइयों को वन्दना न करने का

अभिमान छुपा हुआ था । उन्होंने उसे ढूंढ निकाला और जैसे ही अपने छोटे भाइयों को वन्दना करने के लिए पग उठाया कि उन्हें वहीं अनंत और अप्रतिपाति केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई । वे तत्काल ही विहार कर भगवान ऋषभ की शरण में पहुंच गए ।

इधर महासती सुन्दरी भी अपनी प्रवर्तिनी बहन ब्राह्मी के साथ वापस लौटी । भगवान् की आज्ञानुसार और प्रवर्तिनी ब्राह्मी की अनुगत होकर उसने लम्बे समय तक संयम पाला और अनेक ग्रामों, नगरों में विचरण कर अनेकानेक भव्य नर-नारियों का उद्धार किया । इस बीच में भगवान् ऋषभ और महासती प्रवर्तिनी ब्राह्मी-दोनों मोक्ष धाम पहुंच गये । इसी प्रकार महासती सुन्दरी ने भी घोर तपस्याओं के द्वारा घाती कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान प्राप्त किया और शेष कर्मों को क्षय कर सिद्ध-स्थल को प्राप्त किया ।



महासती दमयन्ती

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि नाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

विपत्ति में धैर्य, अभ्युदय में क्षमा, सभा में वाणी का चातुर्य, युद्ध में पराक्रम यश में अनासक्ति और शास्त्र अध्ययन का व्यसन—यह महापुरुषों के नैसर्गिक गुण विद्यमान हैं । महासती दमयन्ती और उनके पति महाराज नल में महान् आत्माओं के ये गुण विद्यमान थे ।

विदर्भ देश की राजधानी का नाम कुण्डिनपुर था । वहां भीम नामक महाप्रतापी राजा राज्य करते थे । उनकी महारानी का नाम पुष्पवती था । वह सचमुच ही यथा नाम तथा गुणवाली थी । रानी पुष्पवती ने एक वार रात्रिकाल में दावानल से डरकर आते हुए दन्ती (हाथी) का स्वप्न देखा । कालक्रम से वह गर्भवती हुई और यथा-समय एक पुत्री को जन्म दिया । स्वप्न दर्शन के अनुसार बालिका का नाम दवदन्ती रखा गया । कालान्तर में परिजन उसे दमयन्ती कहने लगे । राजा की एक मात्र सन्तान होने के कारण उसका लालन-पालन अत्यंत लाड़-प्यार से हुआ । वह रूप और सौंदर्य में अनुपम थी । उसका स्वभाव अत्यन्त विनम्र और मृदु था । वह बुद्धिमति बालिका थी । उसने थोड़े ही समय में चौंसठ कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया ।

दमयन्ती का विवाह उसकी प्रकृति, रूप गुण आदि के अनुरूप नर के साथ हो, ऐसा सोचकर राजा भीम ने स्वयंवर द्वारा उसका विवाह करने का निश्चय किया। विविध देशों के राजाओं के पास आमंत्रण पत्र भेजे गये निश्चित तिथि पर अनेक राजा और राजकुमार अपनी-अपनी राजधानियों से आ-आकर स्वयंवर-मंडप में एकत्रित हुए। कौशल देश के राजा निषध भी अपनी राजधानी अयोध्या से अपने पुत्र नल और कुबेर के साथ आये।

दमयन्ती के स्वयंवर के कारण राजधानी में अत्यन्त सुन्दरता और चहल-पहल छायी हुई थी। स्वयंवर-मंडप भी विविध साज-सज्जाओं के द्वारा सजाया गया था। आमंत्रित सभी राजा-महाराजा और राजकुमार अपने-अपने नामांकित आसनों पर विराजमान हुए। उधर अप्सराओं से भी विशिष्ट रूप लावण्यवती राजकुमारी दमयन्ती अपने कर-कमलों में वरमाला लिये हुए, उस स्वयंवर-मंडप में अपनी सखियों के साथ उपस्थित हुई।

धाय माता दमयन्ती को एक-एक राजा-महाराजा और राजकुमारों के विषय में भली प्रकार परिचय दे रही थी। उसने अंगुली निर्देश करते हुए कहा—'देखो बेटी! ये कुसुमायुध महाराजा के सुपुत्र मुकुटेश हैं, जो अपनी वीरता के लिए विख्यात हैं। ये जगदेव महाराजा के सुपुत्र चन्द्र राजकुमार हैं, और ये देखो फणेन्द्र महाराजा के सुपुत्र एवं चम्पानगरी के स्वामी भोग वंशी सुबाहु कुमार हैं, ये शिंसुमारपुर के स्वामी महाराजा दधिपर्ण हैं।' इस प्रकार धाय मां से वङ्ग-कलिङ्ग-मरू, कच्छ, द्रविड़-आदि अनेक देश-विदेशों के राजाओं और राजकुमारों का परिचय प्राप्त करती हुई वह आगे बढ़ गई। आगे आयोध्यापुरी के राजकुमार नल बैठे हुए थे। धाय मां ने परिचय देते हुए कहा—'बेटी! ये महाराज निषध के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार नल हैं। ये अपने बल और पराक्रम के विषय में अद्वितीय हैं। दमयन्ती ने रूप और गुण में अपने योग्य समझकर उनके गले में वरमाला पहना दी। उस उपयुक्त चुनाव

की सभी परिजनों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की । महाराज भीम ने दमयन्ती का विवाह राजकुमार नल के साथ बड़ी धूमधाम के साथ सम्पन्न किया ।

महाराज निषध कुण्डिनपुर से अपने पुत्र और पुत्र-वधू को लेकर अपार धनराशि के साथ अयोध्या पहुँचे । कालान्तर में महाराज निषध अपना सारा राज्यभार राजकुमार नल को सम्भला कर स्वयं दीक्षित हो गये । नल अब अयोध्या के महाराज बन गये । वे बड़े ही पराक्रमी थे । उन्होंने अपने पिता से प्राप्त राज्य को हर प्रकार से बढ़ाया । विद्या, बल, धन और क्षेत्र से राज्य को पहले से दुगुना बना दिया । उन्हें लोग आधे भारत के स्वामी कहने लगे थे । अनेक मुकुटधारी राजा उनकी सेवा में उपस्थित रहते थे । राज्य में हर प्रकार से चैन की वंशी बजने लगी । यह सब उनकी नीति-निपुणता का ही चमत्कार था । महारानी दमयन्ती का भी स्त्री समाज पर अच्छा प्रभाव था । अपने ऊंचे विचारों व विनम्र स्वभाव के कारण स्त्री समाज में उसका उच्च स्थान था । वह स्त्री समाज को आगे लाने में हर प्रकार से समुचित प्रयत्न करती रहती थी ।

कुबेर महाराज नल के लघु भ्राता थे । महाराज नल अपने कनिष्ठ भाई को पूर्णतः प्यार की दृष्टि से देखते थे, फिर भी कुबेर उनकी राज्य सम्पदा को देखकर मन-ही-मन जलता रहता था । उसे उनकी यह सम्पदा बड़ी ही असुहावनी लगती थी । कुबेर के नेत्रों में महाराज नल कांटे की तरह चुभते थे । वह हर समय यही सोचा करता कि किसी-न-किसी प्रकार नल को नीचा दिखाया जाये और अयोध्या का राज्य उनसे छीन लिया जाये । महाराज नल इतने कुशल प्रशासक थे कि कुबेर का चिंतन उसके मन तक ही सीमित रहा । उसे अपनी मनमानी कर दिखलाने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ ।

सर्वगुण सम्पन्न दिखलाई देने पर भी हर मनुष्य में कोई-न-कोई न्यूनता रहती ही है । उसी के कारण कभी-न-कभी उसका पतन भी हो

जाता है । यद्यपि महाराज नल में अनेक गुण विद्यमान थे किन्तु चंद्रमा में कलंक के समान द्यूत का एक अवगुण भी था, वस्तुतः वह कुबेर की षड्यन्त्रकारिणी प्रवृत्ति से ही उत्पन्न हुआ था । जब द्यूत उनकी कमजोरी बन गया तब कुबेर ने उससे लाभ उठाने की बात सोची, उसने सोचा—धन और सैन्यबल के अभाव में महाराज नल का मुकाबला करना मूर्खता होगी । क्यों न मैं उनकी कमजोरी का उपयोग करूं और द्यूत में पराजित कर सहज ही पूरे राज्य का अधिकारी बन जाऊं ? महाराज नल विशाल और उदार हृदय वाले थे । वे अपने कनिष्ठ भाई पर अतिशय प्रेम रखते थे । उन्हें यह कल्पना भी नहीं थी कि कुबेर का हृदय इतना दूषित हो सकता है ।

कुबेर पहले की अपेक्षा अब महाराज नल के प्रति अधिक भक्ति दर्शाने लगा । दोनों भाइयों ने विश्राम के समय शतरंज खेलना प्रारम्भ कर दिया । महाराज नल धीरे-धीरे शतरंज में इतने आसक्त हुए कि वे अपना अधिकांश समय इसी में बिताने लगे । अपनी निर्धारित योजना के अनुसार कुबेर ने एक दिन महाराज नल को शतरंज खेलने के विषय में टाल-मटोल करते हुए इनकार कर दिया । नल ने खेलने के लिये आग्रह किया, जो उसने कहा—'सूखे ऊमरे' निकालने से कोई मतलब नहीं निकलता । खेलने का मजा तो तब आये जब हर बाजी पर कुछ-न-कुछ हार-जीत लगायी जाए । मैंने तो अब से यह निश्चय कर लिया है कि आगे के लिए अगर शतरंज बिछेगी तो हार-जीत की शर्त पर ही बिछेगी । अन्यथा मेरे लिए आज से यह खेल बंद ही समझा जाए ।' महाराज नल अपने लघु भ्राता की कुटिल भावना को नहीं समझ पाए और उन्होंने उसके कथन को स्वीकार करते हुए कहा—चलो, अब से हर बाजी पर दाव लगा करेगा ।'

अगले ही दिन हार-जीत के आधार पर शतरंज बिछी । राज्य के अनेक प्रतिष्ठित जनों के सम्मुख महाराज नल और कुबेर दोनों ने

खेल प्रारम्भ किया । वे अपनी-अपनी बारी के अनुसार पासे फेंकने लगे और एक-से-एक बढ़कर दाव लगाने लगे । महाराज नल द्यूत में इतने आसक्त हुए कि उन्होंने अपने भविष्य को बिलकुल भुला दिया । राज्य के एक-एक भाग को दाव पर रखने लगे । कुबेर पुराना खिलाड़ी था और सावधान भी था । वह अपनी चालें बहुत सोच-समझ कर चलता जा रहा था अतः हर बाजी में जीत उसी की हो रही थी, उसने राज्य के एक-एक भाग को जीतकर सम्पूर्ण राज्य को अपना बना लिया, अगली बाजी में दाव पर रखने के लिए, महाराज नल के पास कुछ भी शेष नहीं रह गया । स्थिति की विवशता में फंसकर वे लज्जा और खिन्नता का अनुभव करने लगे, लेकिन 'अब पछताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गयी खेत' । किसी ने सच ही कहा है 'जुए मीठी हार' जुआरी अपनी प्रत्येक हार को जीत में बदलने की आशा से आगे से आगे बढ़कर दाव लगाता रहता है और यों वह अपना सर्वस्व खो बैठता है । महाराजा नल की भी वही गति हुई । वे अब महराज न रहकर एक साधारण व्यक्ति बन चुके थे, कहना चाहिए—अब वे कंगाल व्यक्तियों की कोटि में थे !

खेल समाप्त हो गया । कुबेर जो कुछ प्राप्त करना चाहता था, वह उसे इतनी सरलता से प्राप्त हो गया कि वह स्वयं आश्चर्यचकित था । अपने बड़े भाई को भिखारी बना देखकर, कुबेर के दिल में खुशियों का पारावार उमड़ पड़ा । उसने तत्काल अपने आपको राजा और नल को वनवासी होने की एक साथ ही घोषणा करवा दी । नगर में हा-हाकार मच गया । जिन्होंने भी सुना उनके हृदय रो उठे ।

महाराज नल को अपने पुरुषार्थ पर विश्वास था । उन्होंने कहा—'कुबेर ! चलो ठीक हुआ । अब मैं अपनी इच्छा के अनुसार ही विचरण करूंगा । राज्य के इस बंधन को तुम सम्भालो ।' महाराज नल तत्काल अपने राजमहलों में आये और महारानी दमयन्ती से विदाई मांगने लगे । महाराज नल के मुंह से समस्त राज्य जुए में हार जाने की बात सुनकर महारानी चौंक उठी । उसके हृदय पर एक भीषण आघात लगा, किन्तु नल जैसे दृढ़-निश्चयी राजा की सह-धर्मिणी के रूप

में उसे अपने वास्तविक कर्त्तव्य का परिपूर्ण भान था। वह बोली—'प्राणनाथ! अब हमारा इस राज्य पर कोई अधिकार नहीं रहा, अतः इसका परित्याग कर अन्यत्र चले जाना चाहिए।'

महाराज नल ने कहा—'दमयन्ती! मैं भी यही सोचता हूं कि अब हमें यहां नहीं रहना चाहिए। मेरा ध्यान है कि तुम अपने पिता के घर चली जाओ और मैं वन की ओर प्रस्थान कर जाऊं। समय पलटने पर मैं तुम्हें सम्भाल लूंगा।'

महारानी दमयन्ती ने कहा—'प्राणनाथ! अब हमारी दो राह नहीं हो सकती। पत्नी तो छाया के समान होती है। शरीर जिस ओर जायेगा, उसकी छाया भी उसी के साथ रहेगी। आपके सुख में मैंने साथ दिया है, तो दुःख में भी सहभागिनी बनकर रहूंगी। आपकी सेवा करना ही मेरा सबसे बड़ा सुख है। आप तो भयंकर जंगलों में भटकते रहें और मैं अपने पिता के यहां रहकर आनन्द करूं, यह कैसे हो सकता है? पतिदेव! आप विश्वास रखें, मैं आपके लिए भार नहीं बनूंगी किन्तु एक सच्ची सहायिका के रूप में आपका साथ दूंगी।' इस प्रकार महारानी दमयन्ती का आग्रह देखा तो महाराज नल को विवश होकर उसकी बात माननी पड़ी। दोनों ने राजमहल का परित्याग कर, वन की ओर प्रस्थान कर दिया। स्वामी-भक्त प्रजा ने आंखों में आंसू बहाते हुए महाराज नल को और महारानी दमयन्ती को विदा दी। पुरवासी लोग उन्हें दूर तक पहुंचाने आये। प्रजा अपने न्यायी राजा को प्राणों से भी अधिक प्यार करती थी।

प्रजा जनों से विदा लेते हुए महाराज नल ने कहा—'आप लोगों का जो अनुराग मेरे प्रति रहा है, वैसा ही भाई कुबेर के प्रति रखना। उसके अनुशासन का किंचित् मात्र भी उल्लंघन मत करना।' इस प्रकार जनता को शिक्षा देकर वे वनपथ पर अग्रसर हुए। कहां जाना है और क्या करना है? यह उन्हें कुछ भी पता नहीं था। कांटों और पत्थरों से आकीर्ण राह पर चलते हुए वे एक बार दुर्गम घाटियों और भयानक

वन्य पशुओं से भरी अटवी में पहुंच गये । धीरे-धीरे सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ा और थोड़ी ही देर में अंधेरा व्याप्त हो गया । दोनों ने एक महाकाय वृक्ष के नीचे विश्राम लिया । महाराज नल ने वृक्षों के पत्ते बटोरकर जमीन पर बिछाये और दोनों उस पर्ण-शय्या पर लेट गये । दमयंती कुछ ही क्षणों में गहरी नींद में डूब गयी किंतु महाराज नल को नींद नहीं आ रही थी । वे दमयन्ती के पास बैठे-बैठे सोचने लगे । 'कैसी है यह विधि की विडम्बना ? फूलों की कोमल शय्या पर सोने वाली यह राजदुलारी सूखे पत्तों की शय्या पर भी चैन से सो रही है । कांटों और पत्थरों से घायल इसके पैर कितनी पीड़ा करते होंगे ? इसका कोमल शरीर वनवास के कष्टों को कब तक सह सकेगा ? यह पतिव्रता और पति के सुख-दुख में अपना सुख-दुख मानने वाली आदर्श ललना है । यह मुझसे कदापि अलग होना नहीं चाहेगी, परन्तु इसके सुख के लिए मुझे इसे यहीं छोड़ देना चाहिए । यदि मैं इसे इस स्थिति में छोड़कर चला जाऊं तो यह अपने आप विवश होकर अपने पीहर चली जाएगी ।

ऐसा चिन्तन कर महाराज नल वहां से खड़े हो गये और निश्चिन्त सोई रानी को छोड़कर चल पड़े । कुछ ही दूर गये होंगे कि महाराज नल के पैर रुक गये । मन-ही-मन सोचने लगे, 'कैसा भयानक जंगल है, नाना प्रकार के भयंकर हिंसक पशुओं से भरा हुआ । यहां दिन में भी कोई मनुष्य भूलकर भी नहीं आता । इस प्रकार के जंगल में इस भोली-भाली, दिन-भर की भूखी-प्यासी, और थकी-मांदी अपनी प्राण-प्रिया को अकेली छोड़कर कैसे जाऊं ? क्या यह उसके साथ विश्वासघात नहीं होगा ?' ऐसा करना क्या उसके साथ अन्याय नहीं होगा ? इस प्रकार चिंतन करते हुए महाराज नल वापस लौट आये और सोयी हुई दमयन्ती के पास पर्ण शैय्या पर बैठ गये । दूसरे ही क्षण वे फिर सोचने लगे, दमयन्ती का हिताहित देखते हुए उसका परित्याग करना ही पड़ेगा । इस प्रकार महाराज नल एक क्षण में दमयन्ती के प्रति वज्र के समान कठोर तो दूसरे क्षण में ममता से पुष्पसम कोमल हो उठते । अनन्तः कठोरता ने कोमलता पर विजय

प्राप्त कर ली, उन्होंने दमयन्ती की साड़ी के एक छोर पर अपने खून से कुछ लिखा और फिर वज्र हृदय बनकर उस मृत्युमुखी अटवी में उसे अकेली छोड़कर चल पड़े। वे अति तीव्र गति के साथ आगे बढ़े और उस अटवी को लांघकर एक अन्य बीहड़ जंगल में प्रवेश कर गये।

दिन-भर की थकी-मांदी दमयंती ने रात्रि के पश्चिम प्रहर में एक भयानक स्वप्न देखा। फलों से लदे हुए एक आम के वृक्ष पर वह फल खाने के लिए चढ़ी। उसी समय एक उन्मत्त हाथी आया और उसने उस आम के वृक्ष को उखाड़ कर फेंक दिया। वह भूमि पर गिर पड़ी। हाथी उसकी ओर लपका और उसने उसे सूंड में उठाकर जमीन पर पटक दिया। इस भयंकर स्वप्न को देखकर, वह चौंकती हुई तत्काल उठी और देखा तो महाराज नल वहां नहीं हैं। महाराज को न पाकर वह भयभीत हो उठी। उसका हृदय कांपने लगा। वह खड़ी हुई और आवाज दे-देकर आस-पास की झाड़ियों में उन्हें ढूंढने लगी। अन्त में निराश, निरुपाय और किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गयी। वह काफी थक चुकी थी। ज्योंही उसकी दृष्टि अपनी साड़ी के छोर पर पड़ी, उसने उस पर कुछ लिखा हुआ देखा। 'प्रिये ! मैं तुम्हें इस जंगल में अकेली छोड़कर जा रहा हूं क्योंकि मेरे से तुम्हारा दुःख देखा नहीं जाता, इसके लिए अपने अभागे पति को क्षमा कर देना, सामने वाले वट-वृक्ष के पास से दक्षिण की ओर जाने वाला मार्ग तुम्हारे पीहर की ओर जाता है, तुम अपने पीहर चली जाना, भाग्योदय होने पर हम फिर मिलेंगे।' नल द्वारा लिखी गयी उस बात को पढ़कर वह बेसुध होकर वहीं गिर पड़ी। धीरे-धीरे जब उसे होश आया तो वह उठ खड़ी हुई और अपने आंचल से आंसू पोंछे। बहुत सोच-विचार के पश्चात् वह नल के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चल पड़ी।

महाराज नल उस भयानक अटवी में एक विशालकाय वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। अचानक उनके कानों में एक भयंकर

चीत्कार सुनायी दी । कोई कह रहा था—'नल ! आओ, मुझे शीघ्र बचाओ । मैं आग में जल रहा हूं ।' महाराज नल ने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी । किन्तु उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं दिया । वे उस आवाज को लक्ष्य बनाकर आगे चले । थोड़ी ही दूर पर उन्होंने देखा कि एक नाग झाड़ी में बैठा अपनी रक्षा के लिए पुकार रहा है । झाड़ी के चारों ओर भयंकर आग जल रही थी । उस काले नागेन्द्र की यह स्थिति देखकर महाराज नल का दयार्द्र हृदय पिघल गया । उन्होंने बिना किसी विलम्ब के एक बड़ी लकड़ी का सहारा देकर उसे बचा लिया । ज्यों ही वे उसे किसी सुरक्षित स्थान पर छोड़ने लगे, त्यों ही उसने उछलकर उनको काट खाया । वे उसी क्षण कूबड़े और एक भील की तरह कृष्ण-वर्ण हो गये । अपने इस विद्रूप रूप को देखकर महाराज नल के मुख से सहसा निकल पड़ा—'क्या परोपकार का यह बदला है ?' वह काला नाग उसी क्षण अदृश्य हो गया और उसके स्थान पर एक दिव्य देव प्रकट हुआ । महाराज नल उस माया को देखकर चकित हो गये ।

देव ने कहा—'वत्स ! चिंता मत करो, मैं तुम्हारे पिता निषध की आत्मा हूं । मैंने यह जो कुछ अभी किया है, वह तुम्हारे भले के लिए किया है । तुम्हारी यह जो अवस्था हुई है, वह पूर्व संचित कर्मों के द्वारा हुई है । यह संकटकाल बारह वर्ष तक रहेगा । इस स्थिति में तुम्हारा यह जीवन अधिक दुखी न बने, इसलिए मैंने यह सारा कार्य किया है । तुम्हारी सुविधा के लिए मैं तुम्हें एक श्रीफल और एक करंडक देता हूं । जब तुम्हें अपना वास्तविक रूप बनाना हो तो इस श्रीफल से आभूषण और करंडक से वस्त्र निकालकर पहन लेना, जिससे तुम अपने मूल रूप को प्राप्त कर सकोगे ।' आगे देवता ने कहा—'वत्स ! यह बारह वर्ष का समय निकल जाने के बाद तुम वापस अपनी अयोध्या नगरी को प्राप्त करोगे और दमयंती भी तुम्हें प्राप्त हो जायेगी ।' देव ने इतना कहकर महाराज नल को वहां से उठाया और सुंसुमारनगर के समीप लाकर छोड़ दिया । महाराज नल ने अपने उपकारी पितृ देव

को नमस्कार किया । देव ने भी उन्हें आशीर्वाद दिया और उदृश्य हो गया ।

कुबड़े के रूप में महाराज नल ने शिंसुमार नगर में प्रवेश किया । सारे नगर में एक प्रकार का कोलाहल हो रहा था । लोग अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर दौड़ रहे थे । कारण यह था कि एक उन्मत्त हाथी ने, गजशाला से निकलकर, सारे शहर में उत्पात मचा रखा था । उसके विकराल रूप से सारा नगर आतंकित था । वहां के राजा ने हाथी को पकड़ने वाले के लिए पुरस्कार की घोषणा भी कर रखी थी, किन्तु मौत के मुंह में जाने को कोई तैयार नहीं । वहां का राजा दीर्घपर्ण भी उस हाथी के उत्पात से अत्यन्त चिंतित था, पर उसे कोई उपाय नहीं सूझ रहा था । महाराज नल हाथी दमन की विद्या के जानकार थे । वे हाथी की ओर बढ़े । उन्हें सामने आते देखकर हाथी का उन्माद और अधिक बढ़ा और वह प्रबल वेग से उनकी ओर झपटा । वे हाथी को सामने आते देखकर सावधान हो, एक तरफ हटकर खड़े हो गये । स्थिति बेकाबू थी । महाराज नल कभी हाथी के आगे और कभी पीछे रहकर, उसे वश में करने के लिए पैंतरे बदल रहे थे । जैसे ही अवसर मिला, वे उछलकर हाथी की पीठ पर जा बैठे । फिर क्या था, उन्होंने हाथी के कुम्भ-स्थल पर अंकुश जमाया । अंकुश के प्रहारों से हाथी का उन्माद उतर गया, महाराज नल ने उसे अपना आज्ञानुवर्ती बना लिया । सारा नगर इस रोमांचित घटना को देखकर अवाक् था । हाथी को इस प्रकार शांत देखकर लोग हर्ष से नाच उठे और उस कुब्ज का आभार मानने लगे ।

कुबड़े को लेकर राजपुरुष महाराज दीर्घपर्ण के पास पहुंचे और उसके पराक्रम की कहानी कह सुनायी । कुबड़े (महाराज नल) के पराक्रम की बात सुनकर महाराज दीर्घपर्ण बहुत खुश हुए । उन्होंने जन-समूह के बीच कुब्ज का अत्यन्त सम्मान किया और अपनी घोषणा के अनुसार पारितोषिक दिया । महाराज दीर्घपर्ण ने उस कुब्ज से पूछा—'महाशय ! आप कौन हैं ? कहां से आये हैं ?' महाराज नल

ने अपना वास्तविक परिचय देना उचित नहीं समझा । उन्होंने अपने आपको छिपाते हुए कहा—'स्वामिन् ! मैं अयोध्या के महाराज नल का रसोइया हूं । वे जुए में अपना सारा राज्य हार गये और महारानी दमयन्ती के साथ कहीं अन्यत्र चले गये हैं । मैं निःसहाय होकर यहां चला आया हूँ । स्वामिन ! कृपया आप मुझे अपने आवास में रखें, मैं सूर्यपाक रसवती विद्या का ज्ञाता हूँ । मैं आपको उत्कृष्ट प्रकार के भोजन बना-बनाकर खिलाऊंगा ! मेरे द्वारा नित नये भोजन से आपको अत्यन्त प्रसन्नता होगी ।' महाराज ने उसकी मधु ओत-प्रोत बातें सुनीं । वे उसे इनकार नहीं कर सके और उसे अपने यहां रखना स्वीकार कर लिया । समय-समय पर महाराज दीर्घपर्ण को वह विविध प्रकार के भोजन बना-बनाकर खिलाता रहा । उसके व्यवहार से महाराज दीर्घपर्ण उस पर अत्यन्त प्रसन्न रहने लगे ।

अपने प्राण-प्रिय की आज्ञा शिरोधार्य करती हुई महारानी दमयन्ती ने अपने पिता के घर की ओर प्रस्थान किया । वह उस सुनसान जंगल में अकेली ही चली जा रही थी । हिंसक पशुओं की चारों ओर से आवाजें आ रही थी फिर भी वह धैर्य के साथ आगे से आगे बढ़ी जा रही थी । रास्ते में एक सार्थवाह से उसकी भेंट हुई । सार्थवाह कोई ऐसा-वैसा नहीं था । वह पूर्ण रूपेण सदाचारी और धर्मनिष्ठ व्यक्ति था । देखते-ही-देखते वहां एक डाकुओं का जत्था आ निकला और सार्थवाह को लूटने के लिए तत्पर हो गया । महारानी दमयन्ती ने इस स्थिति को संभाला । उन्होंने उन डाकुओं को ललकारा । महासती के सतीत्व के प्रभाव से सभी डाकू डरकर भाग खड़े हुए । सार्थवाह के प्राण और धन दोनों ही बच गये । सार्थवाह महासती दमयंती को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया एवं उसे अपने सा चलने के लिए आग्रह किया । उसने सार्थवाह के साथ जाना उचित नहीं समझा और सार्थवाह की प्रार्थना को अत्यन्त सुमधुर वाणी में अस्वीकृत कर दिया ।

दमयन्ती अपने गन्तव्य की ओर अकेली ही बढ़ रही थी कि मार्ग में उन्हें एक महा विकराल राक्षस मिला । राक्षस कई दिनों से भूखा

था । दमयन्ती को देखते ही वह उसे खाने के लिए झपटा । वह राक्षस को सामने आते हुए देखकर नमस्कार महामंत्र का जाप करने लगी । वह उसे देखकर किंचित् भी नहीं घबराई । अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में राक्षस से कहा—'विज्ञ ! तू मुझे खाना चाहता है, यदि मेरे शरीर से तेरी भूख शान्त होती हो तो मुझे किंचित् भी दुःख नहीं होगा । किन्तु याद रख हिंसा का फल हमेशा कड़वा होता है और इस कारण प्राणी संसार में अनन्त-अनन्त-काल तक परिभ्रमण करता है । राक्षस से देव बनने का सबसे उत्तम उपाय अहिंसा, दया और दान ही है ।' महासती दमयन्ती के इस उपदेश से प्रभावित हो, वह सदा के लिए अहिंसक बन गया । उसने अपना दिव्य रूप प्रकट किया और महासती दमयन्ती को प्रणाम कर उसकी प्रशंसा की । दमयन्ती ने देव से पूछा—'महाशय ! मुझे अपने पति-देव के दर्शन कब होंगे' देव ने कहा—'भद्रे ! आपको अपने पति-देव के दर्शन बारह वर्षों बाद होंगे । बीच के समय में आपको अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़ेंगे । यह समय बीतने पर आपको महाराज नल मिलेंगे और आप वापस महारानी पद को प्राप्त करेंगी ।'

महासती दमयन्ती आगे बढ़ी । मार्ग में उन्हें सिंह, व्याघ्र, भालू, अजगर आदि अनेक हिंसक पशु मिले, किन्तु उस पर किसी ने भी आक्रमण नहीं किया । सहसा आकाश में घनघोर घटाएं छा गईं और मूसलाधार वर्षा होने लगी । महारानी दमयन्ती का चलना कठिन हो गया । ऐसी वर्षा में कहां रहे, यह उनके सन्मुख एक चिन्ता का विषय उपस्थित हो गया । किन्तु 'पदे-पदे निधानानि, योजने रस कूपिका' इस युक्ति के अनुसार उन्हें पर्वतमालाओं के बीच सुन्दरतम गुफा दिखाई दी और वह उस ओर बढ़ी । उसने देखा गुफा रहने के लिए उपयुक्त है, अतः यहीं वर्षा ऋतु व्यतीत करनी चाहिए । ऐसा विचार कर वह उस गुफा में ही वर्षाकाल बिताने के लिए ठहर गई । वह सार्थवाह भी महासती दमयन्ती को ढूंढते-ढूंढते वहीं आ पहुंचा । उस गुफा के आसपास अनेक तापसगण रहते थे । वे भी इस वर्षा से

त्राण पाने के लिए उसी गुफा में संयोगतः आ पहुंचे । वहां पर उपस्थित सभी लोग दमयन्ती के विशुद्ध चरित्र व तत्त्वज्ञान से प्रभावित थे । महासती ने उन सब लोगों को निग्रन्थ प्रवचन का रहस्य समझाया । वहां उपस्थित सभी लोग आर्हद्द भक्त बन गये ।

इस प्रकार चातुर्मास व्यतीत होने के पश्चात् उन्होंने धनद सार्थवाह के साथ-साथ प्रस्थान किया । धनद सार्थवाह चलते-चलते अचलपुर नगर में पहुंचा और नगर से बाहर ही ठहर गया । अचलपुर नगर में ऋतुपर्ण राजा राज्य करता था । उसकी महारानी का नाम चन्द्रयशा था । उसे पता चला कि नगर के बाहर एक सार्थवाह ठहरा हुआ है और उसके साथ एक कन्या भी है । वह देवकुमारी के समान अत्यन्त रूप संपदा वाली है और प्रत्येक कार्य में बड़ी ही कुशल है । चन्द्रयशा ने सोचा कि यदि इसे अपनी दानशाला में रख लिया जाय तो बहुत अच्छा रहेगा । महारानी चन्द्रयशा ने अपने नौकर को भेजकर उसे बुलवाया और बात-चीत कर महासती दमयन्ती को दानशाला में रख लिया ।

चन्द्रयशा महासती दमयन्ती की मौसी थी । किन्तु उन्होंने पहचाना नहीं । इधर दमयन्ती अपने मौसा और मौसी दोनों को भली-भांति पहचानती थी । किन्तु उस समय महासती दमयन्ती ने अपना परिचय देना उचित नहीं समझा । वह उनकी दानशाला में कार्य-संलग्न हो गई । वह आने-जाने वाले अतिथियों को दान देती और साथ ही साथ अपने पतिदेव का पता लगाने का प्रयत्न भी करती रहती थी ।

एक बार कुण्डिनपुर का एक ब्राह्मण अचलपुर में आया । महाराज ऋतुपर्ण और महारानी चन्द्रयशा ने उचित सत्कार करके महाराज भीम और पुष्पवती का कुशल समाचार पूछा । वहां के कुशल समाचार कहने के पश्चात् ब्राह्मण ने कहा कि 'महाराज भीम ने राजा नल और दमयन्ती के खोज के लिए चारों दिशाओं में अपने दूत भेज रखे हैं, किन्तु अभी उनका कहीं भी पता नहीं लगा है । सुनते हैं कि

महाराज नल दमयन्ती को जंगल में अकेली छोड़कर चले गए हैं। इस समाचार से महाराज भीम की चिन्ता और बढ़ गई है। महाराज नल और दमयन्ती को बहुत ढूंढा, किन्तु उनका अभी तक कहीं भी पता नहीं लगा। आखिर अब निराश होकर मैं कुण्डिनपुर लौट रहा हूँ।'

भोजन करने के पश्चात् ब्राह्मण विश्राम करने के लिए चला गया। शाम को वह घूमता हुआ राजा की दानशाला में पहुंचा। वहां दान देती हुई कन्या को देखकर आगे बढ़ा। उसे यह कन्या परिचित-सी दिखाई दी। नजदीक पहुंचने पर उसे कन्या को पहचानने में देर नहीं लगी और दमयन्ती ने भी ब्राह्मण को पहचान लिया।

ब्राह्मण ने आकर रानी चन्द्रयशा को खबर दी, वह भी तत्काल ही दानशाला में आई और दमयन्ती से प्रेमपूर्वक मिली। उसे न पहचानने के कारण चन्द्रयशा ने दमयन्ती से दासी का कार्य करवाया था। अतः अपने आप में पश्चात्ताप करने लगी, और दमयन्ती से इस बात के लिए क्षमा याचना की। रानी चन्द्रयशा दमयन्ती को साथ लेकर राजमहलों में आई। महाराज ऋतुपर्ण को जब इसकी खबर पड़ी तो वह भी बहुत प्रसन्न हुए।

दमयन्ती ने कुछ दिन वहां रहने के पश्चात् कुण्डिनपुर जाने की अपनी इच्छा व्यक्त की। महाराज ऋतुपर्ण ने उसे एक ब्राह्मण के साथ बड़े सत्कार और सम्मान के साथ कुण्डिनपुर की ओर प्रस्थान करवा दिया। यह समाचार महाराज भीम ने जब सुना तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने कुछ सामन्तों को दमयन्ती के सामने भेजा। इस प्रकार दमयन्ती कुण्डिनपुर में अपने माता-पिता के पास पहुंची और उनके चरणों में प्रणाम किया। महाराज भीम और महारानी पुष्पवती ने उसे हृदय से लगा लिया और उसकी वह दुःख भरी कहानी सुनने लगे। हृदय-द्रावक वृत्त सुनकर वे कांप उठे। उन्होंने दमयन्ती को सान्त्वना दी और महाराज नल का पता लगाने के लिए यत्न करने लगे। दमयन्ती अपने

पिता के घर शान्तिपूर्वक रहने लगी । महाराज भीम ने महाराज नल का पता लगाने के लिए चारों दिशाओं में अपने आदमियों को भेजा ।

इधर महाराज भीम भी बाहर से आने वाले व्यापारियों से सर्वप्रथम महाराज नल के सम्बन्ध में पूछते थे । एक बार शिंसुमारपुर का एक व्यापारी इधर आ निकला । उसने कहा—'महाराज ! मैंने महाराज नल को तो कहीं नहीं देखा, किन्तु हमारे महाराज दीर्घपर्ण के यहां एक हुण्डिक नाम का रसोइया तो है । वह वर्ण से श्याम और शरीर से कुबड़ा है, किन्तु बड़ा ही साहसी है । वह सूर्यपाक रसोई भी बनाना जानता है । एक दिन जब शहर में एक मदोन्मत्त हाथी भयंकर उत्पात मचा रहा था तो उस कुब्ज ने गजदमनी विद्या का प्रयोग कर लोगों को भयंकर कष्ट से उबार लिया था । वह अपने आपको महाराज नल का रसोइया बताता है और वह यह भी कहता है कि मैंने सूर्यापाक और गजदमनी विद्या नल से ही सीखी है ।' दमयन्ती भी उस समय महाराज भीम के निकट ही बैठी थी । उसने भी व्यापारी से यह बात सुनी और उसे इस बात का अहसास हो गया कि हो-न-हो महाराज नल ही हैं । हो सकता है कि उन्होंने अपने शरीर का रूप किसी विद्या की सहायता से बदल डाला हो । सूर्यपाक और गजदमनी विद्या के ज्ञाता महाराज नल ही हैं । दमयन्ती ने महाराज भीम से कहा—'पिताजी ! महाराज दधिपर्ण के रसोइया महाराज नल ही हैं, क्योंकि ये दोनों विद्याएं उनके अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जानता । सम्भव है उन्होंने अपने को गुप्त रखने के लिए ही यह रूप-परिवर्तन किया हो ? अतः हमें शीघ्र ही उनका पता लगाना चाहिए ।'

दमयन्ती के इस प्रकार के चिन्तन के पश्चात् महाराज भीम को भी विश्वास हो गया, किन्तु वे एक परीक्षा और करना चाहते थे । उन्होंने कहा—'महाराज नल अश्व-विद्या में विशेष निपुण हैं । अतः यह परीक्षा कर लेनी चाहिए । इसके बाद फिर कोई संदेह नहीं रहेगा । इसके लिए मैंने एक उपाय सोचा है । यहां से एक दूत शिंसुमारपुर पहुंचे और उसके साथ दमयन्ती के स्वयंवर की आमन्त्रण-पत्रिका भेजनी चाहिए ।

स्वयंवर की निश्चित-तिथि के एक दिन पूर्व दूत को वहां पहुंचना चाहिए। यदि वह कुब्ज महाराज नल होंगे तब तो अश्व-विद्या के द्वारा राजा दधिपर्ण को यहाँ एक दिन में पहुंचा देंगे और हमारी शंका दूर हो जायेगी।' महाराज भीम की यह युक्ति सबके दिल में ठीक जंची। तत्काल ही एक दूत को सारी बातें समझाकर शिंसुमारपुर के लिए रवाना कर दिया गया। वह दूत स्वयंवर की निश्चित तिथि के एक दिन पूर्व वहां पहुंच गया। जब वह दूत आमन्त्रण-पत्रिका लेकर महाराज दधिपर्ण के पास पहुंचा, तो वे उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उसमें लिखा था—'दमयन्ती ने काफी समय तक महाराज नल की प्रतीक्षा की किन्तु उनका कहीं पता नहीं लगा। अतः अन्त में निराश होकर उसने स्वयंवर में दूसरा पति चुन लेने का निश्चय किया है। उस अवसर पर आपकी उपस्थिति अनिवार्य है। अतएव आप शीघ्रातिशीघ्र स्वयंवर में पधारने की कृपा करें।'

दमयन्ती जैसी रूपवती कन्या को प्राप्त करने की इच्छा कौन नहीं करता? किन्तु समय की अल्पता के कारण वहां तक पहुंच पाना बहुत कठिन था। केवल एक ही दिन बीच में था और कुण्डिनपुर बहुत दूर था। महाराज दधिपर्ण उदास हो गये।

इधर जब महाराज नल ने दमयन्ती का पुनः स्वयंवर सुना तो वे आश्चर्यचकित हो गये। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'अरे! दमयन्ती जैसी आर्य कन्या का पुनः स्वयंवर कैसे सम्भव हो सकता है। इसमें अवश्य कोई-न-कोई रहस्य होना चाहिए। दमयन्ती आदर्श पतिव्रता है, वह ऐसा कभी नहीं कर सकती। मुझे स्वयं वहां जाकर इसका पता लगाना चाहिए।' वे दधिपर्ण के पास पहुंचे। दधिपर्ण को चिंतित देखकर कुब्ज (महाराज नल) ने कहा—'स्वामिन्! आज आप चिंतित-से कैसे दिखाई दे रहे हैं?' महाराज दधिपर्ण ने हृदय खोलकर सारी बात कह दी। कुब्ज ने कहा—'स्वामिन्! आप चिन्ता न करें। अश्व-विद्या की सहायता से मैं आपको समय से पूर्व ही पहुंचा दूंगा। आप चलने की तैयारी करें।'

कुब्ज की बात सुनकर महाराज दधिपर्ण अत्यन्त प्रसन्न हुए । वे तत्काल ही तैयार हो गये, और सज-धजकर एक अतिशय सुन्दर रथ पर आ बैठे । कुब्ज भी अपने कहने के अनुसार सारथी के स्थान पर बैठ गया । उसके बैठते ही अश्व हवा से बातें करने लगे । पवन वेग से रथ को चलते देखकर महाराज दधिपर्ण अत्यन्त आनन्दित होकर कुब्ज की प्रशंसा करने लगे ।

महाराज दधिपर्ण कुब्ज की अश्व-विद्या की प्रशंसा करते हुए बोले—'कुब्ज ! तुम जैसे अश्व-विद्या में अति कुशल हो, उसी प्रकार मैं भी गणित विद्या में निपुण हूं । बड़े-से-बड़े वृक्षों के फलों की निमिष मात्र में गणना कर देता हूं । यदि समय होता तो मैं भी तुम्हें एक चमत्कार दिखलाता ।' कुब्ज ने तत्काल ही रथ को रोका और कहने लगा— 'स्वामिन् ! अभी समय काफी है, आप भी मुझे अपनी विद्या का चमत्कार दिखलाइए ।' पास ही एक बहेड़ा का वृक्ष खड़ा था । उसने पूछा—'स्वामिन् ! बतलाइए इस वृक्ष पर कितने फल हैं ?' महाराज दधिपर्ण ने तत्काल ही कहा—'अठारह हजार फल हैं ।' कुब्ज ने अविलम्ब उस वृक्ष को गिराया और सभी ने मिलकर उन्हें गिना तो पूरे अठारह हजार फल ही निकले ।

एक क्षण में वृक्ष के फलों को गिनना कोई साधारण बात नहीं है । कुब्ज इस विद्या से अत्यन्त चमत्कृत हुआ । उसने राजा से कहा— 'स्वामिन् ! यह विद्या कृपया मुझे भी सिखा दीजिये । मैं आपका बहुत-बहुत आभारी रहूंगा ।' महाराज दधिपर्ण ने कहा—'कुब्ज ! अगर तू मुझे अश्व विद्या सिखा दे, तो मैं भी तुझे संख्या विद्या सिखा सकता हूं ।' कुबड़े ने यह बात मान ली । दोनों ने प्रेमपूर्वक अपनी-अपनी विद्याओं का आदान-प्रदान किया और आगे चल पड़े । देखते ही देखते वे कुण्डिनपुर पहुंच गए । महाराज भीम ने उनका उचित सम्मान किया एवं उन्हें समुचित स्थान में ठहरा दिया । महाराज दधिपर्ण ने देखा कि शहर में स्वयंवर की कुछ भी तैयारी नहीं है फिर भी शान्तिपूर्वक अपने नियत स्थान पर ठहर गए । महाराज भीम दधिपर्ण के साथ उस कुबड़े

को देखकर अत्यन्त आनन्द का अनुभव कर रहे थे । अब उन्हें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह गया था । महाराज भीम ने कुबड़े से सूर्यपाक बनवाया । सुर्यपाक का भोजन कर महाराज भीम को पूरा विश्वास हो गया कि यह कुबड़ा (रसोई बनाने वाला) महाराज नल ही है ।

महाराज भीम ने शाम को कुबड़े को अपने निवास स्थान पर बुलाया और कहा—'हमने आपके गुणों की प्रशंसा सुन ली है तथा हमने स्वयं भी परीक्षा की है । महाराजा नल के तीन विशिष्ट गुण हैं—सूर्यपाक रसवती बनाना, उन्मत्त गज को वश में करना और अश्व-विद्या का ज्ञान । ये तीनों गुण आप में भी उसी प्रकार विद्यमान हैं । अतः आप महाराज नल ही हैं । अब हम लोगों पर अनुग्रह कर आप अपना वास्तविक रूप प्रकट करें एवं हमें अनुगृहीत करें ।'

महाराज भीम की बात सुनकर कुबड़े ने कहा—'राजन् ! आपको कोई भ्रम हुआ है । कहां अनुपम सौन्दर्य वाले महाराज नल और कहां काले-कलूटे इस कुरूप को धारने वाला मैं । महाराज नल विपत्तियों से घिरे कहीं जंगलों की गहन झाड़ियों में भटक रहे होंगे । आप वहीं पर उनको ढूंढें ।'

महाराज भीम ने कहा—'नरवर ! आप स्वयं बुद्धिमान हैं । अपने स्वजनों को इस प्रकार कष्टों में डालना उचित नहीं है ।' ऐसे कहते-कहते महाराज भीम का गला भर आया । महासती दमयन्ती की आंखों से भी आंसुओं की धारा बह चली । कुब्ज के रूप में महाराज नल अपने आपको अधिक समय तक नहीं छुपा सके । वे तत्काल ही अपनी रूपपरिवर्तिनी विद्या के बल से वास्तविक रूप में प्रकट हो गये । महाराज नल को वास्तविक रूप में देखकर महाराज भीम पुलकित हो उठे और दमयन्ती के हर्ष का तो कोई पार ही नहीं था । महासती दमयन्ती की यह अनेक वर्षों की साध पूरी हो गई और उनके जीवनोद्यान में पुनः बसन्त का संचार हो गया ।

महाराज दधिपर्ण को जब यह ज्ञात हुआ, कि रसवती बनाने वाला कुबड़ा महाराज नल ही थे, और उन्हें यथार्थ रूप में प्राप्त करने के लिए ही यह सारा उपक्रम सुझाया गया था । वे भयमिश्रित लज्जा से नीचे झुक गये । महासती दमयन्ती को प्राप्त करने के अपने कुत्सित विचारों पर उन्हें अत्यन्त घृणा हुई । वे तत्काल ही महाराज नल के पास पहुंचे और अपने अपराध के लिए पुनःपुनः क्षमा मांगने लगे । महाराज नल ने उन्हें उठाकर अपने गले से लगा लिया ।

इस प्रकार बारह वर्षों की अवधि समाप्त हो गई । महाराज भीम और महाराज दधिपर्ण की विशाल सेना को साथ में लिये हुए महाराज नल ने अयोध्या की ओर प्रस्थान किया । कुबेर को जब इस स्थिति की अवगति हुई तो वह भी अपनी विशाल पताकिनी के साथ महाराज नल के सम्मुख आ खड़ा हुआ किन्तु कुबेर हार गया । महाराज नल ने उसे बन्दी बना लिया । वे पुनः उसी अयोध्या नगरी के राजा बने । महाराज नल हृदय के बड़े ही विशाल थे । उन्होंने कुछ समय के पश्चात् ही अपने भाई कुबेर को बन्दीपन से मुक्त कर दिया और उसे ससम्मान अपने साथ में ही रखा । महाराज नल और दमयन्ती दोनों ही न्यायपूर्वक राज्य करते हुए, अपनी प्यारी प्रजा की देखभाल करने के लिए तत्पर हुए । कुछ समय के पश्चात् महारानी दमयन्ती ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया । जिसका नाम पुष्कर रखा गया । जब राजकुमार पुष्कर युवावस्था को प्राप्त हुआ तो उसे राज्य भार सौंपा और महाराज नल जिनसेन नाम के ज्ञानी स्थविर के संनिकट जैन दीक्षा ग्रहण कर विहार करने लगे । इसी प्रकार महारानी दमयन्ती ने भी जैन साध्वी के पास दीक्षा ग्रहण कर ली । उन्होंने कई वर्षों तक शुद्ध संयम का निर्वाह किया । अन्त में ये दोनों ही पुष्पलोकवासी हुए । महाराज नल सौ धर्मेन्द्र का लोकपाल धनद हुआ और दमयन्ती उनकी देवी बनी ।

इस प्रकार महारानी दमयन्ती ने घोर विपत्तियों में भी अपने पति का साथ नहीं छोड़ा । उसके धैर्य के साथ अपने जीवन को श्रृंखलाबद्ध बनाए रखा और जिन-जिन कारणों व साधनाओं से आत्मोज्वल्य व आत्मक्षमता बढ़े ऐसा प्रयत्न कर, उसने एक आदर्श जीवन अपनाया । महासती दमयन्ती का यह सदाचरण नारी मात्र के लिए अनुकरणीय है ।



महासती कौशल्या

दक्षिण भारत में कुशस्थलपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था । महाराज सुकोशल उस नगर के नरेश थे । उनकी पटरानी का नाम अमृत प्रभा था । राजा सुकोशल और पटरानी अमृतप्रभा का जीवन और तो सभी प्रकार से सुखमय था परन्तु सन्तान का मुख न देखने के कारण दोनों का मन उदासीन रहता था । कर्म संयोग से आगे चलकर वृद्धावस्था में उनके घर एक पुत्री का जन्म हुआ । राजा सुकोशल और महारानी अमृतप्रभा इसी को पाकर हर्ष विभोर हो गये और बड़े स्नेह से उसका लालन-पालन करने लगे । उसका नाम अपराजिता रखा गया था, परन्तु कौशल की पुत्री होने के कारण पिता के नाम से सम्बन्ध जोड़ते हुए लोग उसे 'कौशल्या' कहने लगे । इस प्रकार बालिका अपराजिता अपने दूसरे नाम कौशल्या से भी ख्यात हो गई । माता-पिता द्वारा उचित एवं उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करती हुई बालिका ने अवस्था क्रम से नवयौवन में प्रवेश किया । स्त्रीजनोचित गुणों का उसमें विकास हुआ ।

महाराजा सुकोशल और महारानी अमृतप्रभा को अब उसके विवाह की चिन्ता सताने लगी । अपनी लाडली पुत्री के लिए योग्य वर उपलब्ध करने के लिए वे हर समय प्रयत्नशील थे । एक-एक करके कई राजकुमारों को उन्होंने देखा, परन्तु अपनी सुयोग्य और सुन्दर कन्या के अनुरूप एक भी दिखलाई नहीं दिया । इससे उनकी चिन्ता और अधिक बढ़ गई । वे उदास रहने लगे ।

उस समय अयोध्यापुरी में युवक नरेश महाराज दशरथ राज्य कर रहे थे, वे अदम्य साहसी और अनुपम वीर थे । उन्होंने अपने राज्य को बृहद बनाने के लिए दिग्विजयार्थ प्रस्थान किया । महाराजा दशरथ के

प्रबल पराक्रम और दल-बल के सामने बड़े-बड़े राजा महाराजा-नतमस्तक होकर उनके अधीन बन गए। इसी क्रम से उन्होंने कुशस्थल नगर को भी विजय करना चाहा। महाराज सुकोशल पराधीन रहना नहीं चाहते थे। उन्होंने महाराज दशरथ के साथ भीषण युद्ध किया, परन्तु अन्त में हार गये। इससे कुशस्थलपुर पर भी महाराज दशरथ की यश-पताका फहराने लगी।

इस पराजय से सुकोशल को अपनी प्यारी पुत्री कौशल्या के लिए उपयुक्त वर ढूंढ़ने की चिन्ता मिट गई। युवा महाराज दशरथ कौशल्या के लिए सर्वथा उचित थे। सुकोशल ने उन्हें अपनी पुत्री के लिए ठीक समझते हुए नैमित्तिकजनों को बुलाकर विवाह के लिए शुभ दिन पूछा और फिर मांगलिक वेला में बड़ी धूमधाम से कौशल्या का विवाह दशरथ के साथ कर दिया।

महाराजा दशरथ दिग्विजय सानन्द सम्पन्न कर अयोध्या लौट आये। उन्होंने कौशल्या को पटरानी का पद प्रदान किया। तत्पश्चात् उन्होंने सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा इन राजकुमारियों से विवाह किया। कौशल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण, कैकेयी से भरत और सुप्रभा से शत्रुघ्न उत्पन्न हुए। इस प्रकार चारों रानियों से राजा दशरथ को चार सुन्दर और पराक्रमी पुत्रों की प्राप्ति हुई।

महारानी कौशल्या सबसे बड़ी थी और वह पटरानी भी थी, वह अपनी उदारता, स्नेह और सद्भाव से तीनों रानियों के साथ सगी बहन जैसा व्यवहार करती थी। तीनों रानियाँ भी उसे बड़ी बहन मानती थीं और पुछे बिना कोई भी कार्य नहीं करती थीं। चारों पुत्रों के प्रति चारों रानियों का अभिन्न वात्सल्य भाव था। अपने और पराये का भेद उनके मस्तिष्क और मन में नहीं था। पुत्र भी माताओं के इस व्यवहार से मुग्ध होकर किसी प्रकार के अन्तर का अनुभव नहीं कर रहे थे। इस प्रकार राजा दशरथ का अन्तःपुर स्वर्गीय सुखों से परिपूर्ण था।

थोड़े दिनों बाद राजकुमार राम का विवाह मिथिला के राजा महाराज जनक की सुपुत्री सीता के साथ हुआ। सीता भी सच्चरित्रा

श्रेष्ठ स्त्री थी । राम भी एक आदर्श चरित्रशील युवक थे । इस प्रकार दोनों का मेल मणि-कंचन संयोग समझकर दशरथ, आदि सभी प्रसन्न थे ।

एक बार अयोध्या नगरी में सर्वज्ञ मुनिराज पधारे । महाराज दशरथ ने सपरिवार मुनि के दर्शन का लाभ प्राप्त किया और उनके अमृतोपम उपदेश सुनकर आत्मानन्द का अनुभव किया । महाराज दशरथ पर मुनि के पावन ज्ञान विभूषित विचारों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे संसार से विरक्त हो गये । उन्होंने राजप्रसादों में लौटकर राजकुमार राम को राज्य देकर दीक्षा लेने की घोषणा की । इस घोषणा से अयोध्यावासी हर्षमग्न होकर नाचने लगे । अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिए नागरिकों ने स्थान-स्थान पर तोरणद्वार बनाये । स्थान-स्थान पर मांगलिक गीतों का आयोजन किया गया । समग्र अयोध्या नगरी एक दुलहन की भांति सजाई गई । विभिन्न प्रकार के वाद्य-यन्त्रों से सारा शहर गूंज उठा ।

इधर राजकुमार भरत ने जब पिता के दीक्षा-ग्रहण का समाचार सुना तो उसका मन भी संसार से विरक्त हो गया और पिता से विनम्र निवेदन किया कि मैं भी आपके साथ दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूं । भरत की माता कैकेयी ने अपने पुत्र का यह वैराग्य विचार सुना तो उसके हृदय में हलचल मच गई ! उसे अपना भविष्य अंधकारमय एवं दुखद प्रतीत होने लगा । वह महाराज दशरथ के कक्ष में पहुंची । महाराज दशरथ ने पलक उठाकर निश्चल और निश्छल भाव से कैकेयी के आने का भाव पूछा । कैकेयी ने अपनी वाणी को शिष्टता और विनय का बाना पहनाते हुए कहा—'प्राणेश्वर !आपका यह वैराग्यभाव और दीक्षा ग्रहण करने का विचार मेरे लिए अतीव दुखकर है, परन्तु जब आपने दृढ़ विचार कर ही लिया है तो यह दासी क्या कर सकती है । आपको स्मरण होगा कि विवाह के समय आपने मुझे एक वरदान देने का वादा किया था । मैंने वह अमानत के रूप में आपके पास रख छोड़ा था । आज मैं अपने उसी वरदान को प्राप्त करना चाहती हूं ।

आप उसके अन्तर्गत अयोध्या का राज्य मेरे पुत्र भरत को देने की कृपा करें और दीक्षा ग्रहण से पूर्व अपने को उत्र्कृण बनायें । इससे अधिक मैं और कुछ भी मांगना नहीं चाहती ।'

महाराजा दशरथ के कानों में ये शब्द वज्राघात की भांती लगे ! वे सिंहासन से मूर्च्छित होकर गिर पड़े । कुछ समय बाद उन्हें जब चेतना प्राप्त हुई तो वे धैर्य कर कहने लगे—'रानी, जाओ, अपने स्थान पर लौट जाओ । यदि मुझे तुम्हारे इस इरादे का पता होता तो मैं यह वरदान अमानत के रूप में कभी नहीं रखता, परन्तु अब क्या हो सकता है । तुम चाहती हो वैसा ही होगा । मैं राम के स्थान पर भरत को राज्य देकर अपने वचन का पालन करूंगा ।' महाराज दशरथ ऐसा कहकर मौन हो गये । उनके चारों ओर दुःख का महासागर उमड़ने लगा । वे बिल्कुल निष्पंद, मौन और चिंतातुर बैठे थे । उसी समय पिताश्री के दर्शन करने के लिए राजकुमार राम आ पहुंचे ।

उन्होंने पिताश्री को चिन्तामग्न देखा, तो सविनय पूछने लगे—'पूज्यपाद ! आज आप उदासीन से लग रहे हैं । क्या मेरे द्वारा कोई अपराध हुआ है ?' राम के ऐसा पूछने पर महाराज दशरथ का हृदय भर आया, आंखें डबडबा आईं और वे गद्गद स्वर से कहने लगे—'बेटा ! अपराध तो तुझसे नहीं, मुझसे हुआ है, जो मैं तेरी मां कैकेयी को बिना सोचे-समझे वरदान दे बैठा । मेरे लाल ! आज इस कपटकारिणी ने मुझे ठग लिया है । मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि यह भविष्य में इस प्रकार का अन्याय करेगी । खैर कुछ भी हो बेटा ! मैं अपने वचन का निर्वाह करने हेतु तुम्हारा अधिकार छीन कर अयोध्या का राज्य तेरे छोटे भाई भरत को दे रहा हूं । मैं सोचता हूं कि तुम इस बात के लिए असंतुष्ट नहीं होओगे ।'

राजकुमार श्रीराम ने मुस्कराते हुए महाराज दशरथ से निवेदन किया—'पिताजी ! यह कार्य और अधिकार आपका है, आप जिसे उचित समझें उसे राज्य प्रदान करें । मेरे संतुष्ट और असंतुष्ट होने का

प्रश्न ही नहीं उठता । आप भाई भरत को शीघ्रातिशीघ्र राज्याभिषेक के लिए बुलाएं । मैं इस कार्य के लिए हृदय से सहमत हूं । आप मेरी ओर से किंचित् भी विचार न करें, मैं तो अपने लघु भ्राता को राज्य सिंहासन पर आरूढ़ देखकर बहुत-बहुत खुशियां मनाऊंगा ।'

महाराज दशरथ राजकुमार राम की विनय भरी सहमति सुनकर आश्वस्त हो गए । उन्होंने महामंत्री को बुलाया और कहा—'मंत्रीवर ! राजकुमार भरत को बुलाया जाये और जल्दी से जल्दी उसका राज्याभिषेक किया जाये !' आदेश पाते ही भरत पिता के पास उपस्थित हुए । किन्तु राज्याभिषेक के लिए वे बिलकुल ही मुकर गये । ये सारे समाचार उन्हें अपनी मां कैकेयी से पहले ही अवगत हो चुके थे । उन्होंने पिताश्री के चरणों में साफ-साफ निवेदन किया कि बड़े भाई राम हर प्रकार से योग्य हैं । आप उन्हें ही अयोध्या का राज्य दें । मैं तो अभी बालक हूं । राज्य के विषय में 'क, ख' भी नहीं समझता ।' महाराज दशरथ ने भरत का सिर सहलाते हुए कहा—'बेटा ! ऐसा नहीं किया करते । तुम्हारी मां कैकेयी को मैंने एक वरदान दिया था । आज वह वर उसने तुम्हें राज्य दिलाने के रूप में मांगा है और मैंने उसकी स्वीकृति दे दी है । अतः तुम्हें माता-पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिए । यह तुम्हारा परम धर्म है ।'

भरत ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा—'पिताश्री, मेरा आपसे नम्र निवेदन है कि मुझे अयोध्या का राज्य नहीं चाहिए । मेरी मानसिक प्रबल इच्छा है कि मैं भी आपके साथ-साथ संयम ग्रहण कर शिवपुरी का राज्य प्राप्त करूं । इस प्रकार भरत विनयपूर्वक अपनी बात पर दृढ़ हैं और महाराज दशरथ भांति-भांति से भरत को समझाने का प्रयत्न करते रहे । अन्त में जब भरत पर राज्य लेने के लिए अधिक दबाव डाला गया तो भरत ने कहा—'पिताश्री ! मेरा आपसे पुनः-पुनः अनुरोध है कि बड़े भाई राम के रहते हुए मैं कैसे अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठ सकता हूं ।' राम वहीं खड़े थे । उन्होंने भरत की शब्दावली को दोहराते हुए

कहा—'पूज्यपाद ! भरत ठीक ही तो कह रहा है ! वह मेरे यहां रहते हुए अयोध्या का राज्य स्वीकार नहीं कर सकता । अतः मैं वन की ओर जाता हूं, आप पीछे से भरत का राज्याभिषेक करें ।' इस प्रकार भरत की सरलता से कही गई शब्दावली का उल्टा अर्थ लगाकर राम ने उसी क्षण महाराज दशरथ को प्रणाम कर वन की ओर प्रस्थान करने का इरादा किया ।

वे माता कौशल्या के महलों में पहुंचे और चरण कमलों में सिर झुकाया एवं बोले—'मां, पिताजी ने महारानी कैकेयी के वरदान को पूरा करने के लिए भरत को राज्य-भार देना चाहा है । परन्तु भरत ने मेरे यहां रहते राज्य लेना स्वीकार नहीं किया, अतः मैं वन में जा रहा हूं ।' राम के वनवास जाने की बात सुनकर महारानी कौशल्या अचेत होकर जमीन पर गिर पड़ी । कुछ समय के पश्चात् वह होश में आई । उसने गम्भीरता और धैर्य के साथ सोचा—मेरी प्यारी बहन कैकेयी ने यह इतनी बड़ी भेद रेखा कैसे खीची । मेरे मन में तो उसके प्रति कोई दुराव वाली बात नहीं थी । किन्तु लगता है कहीं-न-कहीं मेरे द्वारा अवश्य ही त्रुटि हुई है । महारानी कौशल्या ने बहुत याद किया । किन्तु उन्हें अपनी कोई भी भूल स्मरण नहीं हुई, परन्तु बिना किसी त्रुटि के ऐसा हो भी नहीं सकता । उन्होंने और गहराई में जाकर सोचा, संभव है इस जन्म में नहीं तो पिछले जन्म में, मैंने अवश्य ही बहन कैकेयी का कुछ-न-कुछ अपराध किया है । उसी का यह परिणाम है, अन्यथा ऐसी असंभावित दुर्घटना घट नहीं सकती । मुझे अपनी प्यारी बहन कैकेयी के प्रति समता का व्यवहार रखना चाहिए ।

राम चलने की तैयारी करने लगे, माता कौशल्या ने उन्हें एक महायोगिनी की तरह अडोल भाव से आशीर्वाद देते हुए विदाई दी । महारानी कौशल्या बिलकुल निश्चल थी । राम ने अपनी प्यारी मां से विदाई लेते हुए कहा—'पूज्य मातुश्री, मुझे आपकी सेवा से दूर होना

पड़ रहा है । क्या मैं ऐसा करना चाह रहा हूं ? नहीं चाहने पर भी पिताश्री के वचन का निर्वाह करने के लिए यह सब कुछ करना पड़ रहा है । भरत बड़ा ही विनीत है, वह आपकी हर प्रकार से सेवा-सुश्रूषा करेगा । आप किसी भी प्रकार की चिन्ता न करें ।'

मां कौशल्या ने कहा—'प्यारे बेटे ! मुझे अपनी सेवा की कोई चिन्ता नहीं है, लेकिन तुझसे वनवास का कष्ट कैसे सहा जायेगा । इसी बात पर मेरा मन उद्वेलित हो रहा है । अच्छा बेटा, जाओ और पिताजी को ऋण से मुक्ति दिलाओ । लेकिन बहन कैकेयी के प्रति पहले की भांति ही समता बनाए रखना । प्यारी बहन कैकेयी को मेरी तरह ही पूज्य मानना ।' माता कौशल्या ने राम के सिर पर हाथ रखते हुए कहा—'बेटा ! वन में तुम हर प्रकार से सावधान रहना और अपने नमस्कार मंत्र का श्रद्धा के साथ स्मरण करते रहना ।'

इस प्रकार माता कौशल्या से विदा लेकर राम वन की ओर चले । नव परिणीता सीता को जब राम के वनवास जाने का पता चला तो वह भी अत्यंत शीघ्रता से तैयार होकर मां कौशल्या के समीप पहुंची और विनय के साथ विदा लेकर अपने पति के साथ चल पड़ी । पतिव्रता नारी का यह धर्म है कि वह हर परिस्थिति में पति का साथ दे । सीता यद्यपि अवस्था में बहुत छोटी थी, फिर भी उससे व्यावहारिक ज्ञान की बातें छिपी हुई नहीं थी । वह अपने सांसारिक पक्ष को हमेशा अक्षुण्ण रखती थी । अतएव उसे किसी को कुछ कहने की आवश्यकता नहीं हुई । इसी प्रकार लघु भ्राता लक्ष्मण को जब पता चला तो वे भी तत्काल ही तैयार होकर अपनी चारों माताओं के चरणों में नमस्कार करके ज्येष्ठ बन्धु राम के पीछे चल पड़े । कष्ट के समय में साथ देने वाले लक्ष्मण जैसे बन्धु कम ही मिलते हैं । तीनों ने वनवास का मार्ग पकड़ा । उदासीन माता-पिता एवं पारिवारिक जन तथा अयोध्या निवासी उन्हें पहुंचाकर ज्यों-त्यों वापस आये ।

राम वन को चले गये फिर भी भरत अपनी बात पर अडिग रहे ।

वे राज्याभिषेक करवाना नहीं चाहते थे । महारानी कैकेयी असमंजस में थी । वह सोच रही थी—बदनामी भी हुई और काम भी नहीं बना । आखिर वह अपने पुत्र भरत को साथ में लेकर राम के पास पहुंची । उन्होंने राम से निवेदन किया कि भरत राज्य लेना नहीं चाहता अतः तुम राज्य को सम्भालो । पिताजी दीक्षा के लिए जल्दी कर रहे हैं । मैंने गलती की है, मुझे क्षमा कर दो और अपने पिताश्री की दीक्षा की तैयारी करो । किन्तु राम नहीं माने । भाई भरत को अपने पास बुलाया और सीताजी के द्वारा पानी का कलश मंगवाकर भरत के इनकार करते हुए भी बलात् राज्याभिषेक कर आगे की ओर बढ़ गये ।

भरत को आखिर राम की आज्ञा मानकर अयोध्या का राज्य स्वीकार करना पड़ा । महाराज दशरथ ने दीक्षा ग्रहण की । उन्होंने घोर तपस्या की और कैवल्य प्राप्त कर अन्त में मुक्ति धाम को प्राप्त हुए । राम वनवास के विविध कष्टों के झेलते हुए आगे बढ़े । भावीवश सीता का अपहरण हुआ । अतएव रावण के साथ भीषण युद्ध हुआ । रावण मारा गया । राम विजयी बने । बारह वर्षों के बाद राम अयोध्या आये । भाई भरत से बड़े प्यार से मिले । मां कौशल्या के चरणों में राम, लक्ष्मण, सीता—तीनों व्यक्तियों ने प्रणाम किया । महारानी कौशल्या ने तीनों के सिर पर हाथ रखा । तीनों को अपने हृदय से लगाया । उनके सुख-दुख की बातें पूछी । उनके वनवास के कष्टों की बातें सुनकर मां कौशल्या हैरान थी । वह सोच रही थी कि विपत्तियां किसी को भी नहीं छोड़ती । भला राम जैसे व्यक्ति को भी किस प्रकार से दुखों की घाटियों से गुजरना पड़ा है । किसी एक कवि ने ठीक ही तो कहा है—

बिन वाहन पाहन पाय उपाहन राम सियाजु चले सथवा
वनवास बसे फुनिफ्फड लसे कहु औरन है किजु काह कथवा
इह देह धरी न टर्यो तनका प्रभु पूरत है जग के पथवा
सोच-समझ के देख अरे शठ ! तू किसी लगन का वयवा ?

इस प्रकार के चिंतन से उसके दिल में वैराग्य जाग उठा । महाराज भरत के पास उसकी यह बात पहुंची । उन्होंने मां कौशल्या को समझाने का प्रयत्न किया । किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली । भरत ने उनकी दीक्षा के उत्सव-महोत्सव किये और उन्हें महासतियों के पास दीक्षा दिलवा दी । इस प्रकार महामाता कौशल्या ने दीक्षा ग्रहण कर तपस्याओं के बल अपने कर्म-बन्धनों को तोड़ मुक्ति के अनन्त सुखों को प्राप्त किया ।



महासती सीता

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता ।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ॥
पुराकृतं कर्म तदैव भुज्यते ।
शरीर हेतोस्त्वरया त्वयाकृतम् ॥

राम, लक्ष्मण और सीता इन तीनों को वनवास के कष्ट देखने पड़े। इस बात के लिए मां कैकेयी को जिम्मेदार ठहराया जाता है। किन्तु वस्तुतः सुख और दुःख आदमी को अपने कृत कर्मों के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। महासती सीता पर वनवास के अन्तर्गत कितनी विपत्तियां आईं और वह किस प्रकार उन विपत्तियों से लड़ीं, यह सारा उनके जीवन-वृत्त को पढ़ने से ही ज्ञात हो सकता है।

सीता मिथिला नगरी के राजा जनक के यहां पैदा हुई थी। महारानी विदेहा ने एक बार पुत्र और पुत्री के रूप में एक जोड़े को जन्म दिया। प्रसव के समय तो एक पुत्र और एक पुत्री दृष्टिगत हुए। परन्तु जैसे ही उन दोनों को व्यवस्थित करने के लिए हाथ पसारा तो देखा पुत्र नहीं है, केवल पुत्री ही विद्यमान थी। महारानी विदेहा के हृदय पर गहरी चोट लगी। वह मूर्च्छित हो गईं। महाराज जनक को ज्यों ही पता चला, वे दौड़े आए और विविध प्रकार के उपचारों द्वारा उसे चेतना में लाये। उन्होंने राजकुमार को ढूंढने के लिए चारों ओर अनेक अनुचरों को प्रेषित किया। किन्तु अन्त में वे निराशा के साथ

खाली हाथ ही वापस लौटे । शिशु राजकुमार का उन्हें कहीं भी खुरखोज नहीं मिला । महाराज जनक और महारानी विदेहा अत्यन्त व्यथित हो उठे । राजकुमार के विरह में वे व्याकुल थे । उन्हें चैन नहीं पड़ा रहा था । विविध उपायों के द्वारा पता लगाने पर भी पता नहीं चल रहा था । अन्त में हताश होकर नव-प्रसूता राजकुमारी को पाकर ही उन्हें सन्तोष करना पड़ा । उसका मुंह देखने से उन्हें परम शान्ति मिलती थी । इसलिए उस नव-प्रसूता राजकुमारी को सीता के नाम से पुकारने लगे । उसके पिता महाराज जनक थे और महारानी विदेहा उसकी मां थी । अतः लोग उसे जानकी और विदेही के नाम से भी पुकारते थे । राजकुमारी सीता क्रमशः पढ़-लिखकर चौंसठ कलाओं की विशेषज्ञा हुई । यौवनावस्था में प्रवेश करने पर पर साक्षात् लक्ष्मी के तुल्य प्रतीत होने लगी ।

राजकुमारी सीता के साथ जिस शिशु राजकुमार ने जन्म लिया था, उसे उसके पूर्व जन्म के वैरी देवता ने उसका अपहरण कर लिया था । वह देवता उसके प्राण लेना चाहता था, किन्तु राजकुमार के पुण्य प्रबल थे और आयुष्य भी लम्बा था । अतः देवता के विचार बदल गये और उसने उसके प्राण नहीं लिये । परन्तु वापस न लौटाकर वह उसे वैताढ्यपर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित रथनुपुर नगर के राजमहल की छत पर छोड़ कर चला गया । उस स्थिति में उसका कोई रक्षक नहीं था । भवितव्यतावश महाराज चन्द्रगति उसी समय किसी कार्यवश छत पर आये और उन्होंने साक्षात् देवकुमार के तुल्य अत्यन्त तेजस्वी उस बालक को देखा । उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के तत्काल ही उसे उठा लिया । महाराज चन्द्रगति का ह्रदय खुशी से भर गया । वे अपना निःसन्तानत्व का चिरसंचित दुःख एक साथ ही भूल गये । तत्क्षण ही उस नवजात शिशु को लेकर नीचे आए और महारानी पुष्पवती की गोद में उसे रख दिया । उन्होंने नगर में घोषणा करवाई कि महारानी के उदर में कोई गूढ़ गर्भ था । उसने अचानक ही एक पुत्ररत्न को जन्म दिया है । यह समाचार सुनते ही प्रजा में आनन्द की लहर दौड़ गई ।

घर-घर में मंगल-तोरण सजाए गए और शहनाइयां बजने लगीं। रथनुपुर के प्रत्येक व्यक्ति हर्ष विभोर होकर नाचने लगे। महाराज चन्द्रगति ने भी उस समय राज्य की ओर से विविध प्रकार के उत्सव-महोत्सव आयोजित किये। उन्होंने देखा कि वह बालक एक प्रकार के तेजः पुंज से उद्योतित हो रहा है। इसलिए उसका नाम भामण्डल रखा।

इधर सीता विवाह करने योग्य बन चुकी थी, महाराज जनक ने उसके लिए सुयोग्य वर ढूंढना आरम्भ किया। उन्होंने बड़े-बड़े राज्यों में अपने प्रवीण व्यक्तियों को भेजा। सीता के लिए कोई सुयोग्य अच्छा वर मिले, इस बात के लिए उन्होंने कुछ भी उठा नहीं रखा, महाराज जनक और विदेहा दोनों ही (सीता के वर के लिए) हर समय चिंतित रहने लगे।

महाराज जनक पर उसी समय एक विपत्ति भी आई। उनके राज्य की सीमाओं पर अनेक म्लेच्छ लोग निवास करते थे। उन लोगों ने राजा जनक के राज्य के सीमावर्ती क्षेत्रों में उपद्रव मचाना प्रारम्भ कर दिया। महाराज जनक के पास सीमावर्ती लोगों के द्वारा उपद्रव की शिकायतें आने लगीं। वे एक परम धर्मिष्ठ और सीधे-सादे भद्र व्यक्ति थे। जब म्लेच्छ लोग नित्य नवीन उपद्रव करने लगे तो वे तंग आ गए। उन्होंने अपने चिर-परिचित मित्र राजा अयोध्यापति दशरथ को सहायता के लिए याद किया। समाचार प्राप्त होते ही वे कूच करने की तैयारियां करने लगे। उनके बड़े राजकुमार राम ने उन्हें जाने से रोका, वे पिताश्री का आशीर्वाद एवं आदेश प्राप्त कर अपनी वाहिनी के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान कर गए। वीर-भ्राता लक्ष्मण भी उनके साथ हो लिये। राम और उनके लघु-भ्राता लक्ष्मण दोनों मिथिला पहुंचे। स्थिति से अवगत हो उन्होंने म्लेच्छों से युद्ध करने के लिए वहां से कूच कर दिया। अन्त में निरुपाय होकर म्लेच्छों ने महाराज अयोध्यापति दशरथ की शरण ली और उनकी प्रजा होकर वहीं निवास करने लगे। इधर महाराज जनक के देश का क्लेश मिट गया एवं हर प्रकार से उनके राज्य में चैन की वंशी बजने लगी। महाराज जनक राजकुमार

राम को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए । राम को सर्वगुण सम्पन्न और वीर देखकर उन्होंने अपनी प्यारी पुत्री सीता का विवाह श्री राम के साथ करने का निश्चय कर लिया । सीता के मन में भी राजकुमार राम के प्रति उनके वीरत्व से आकर्षण हो गया । राजकुमार राम सानन्द अयोध्या लौटे । अपने दोनों राजकुमारों का यशोगान एवं अद्‌भूत कीर्ति और सीता के सम्बन्ध की बात सुनकर महाराज दशरथ अत्यधिक प्रसन्न हुए ।

राजकुमारी सीता के सौन्दर्य की बात प्रायः देशव्यापी हो चुकी थी । महर्षि नारद ने भी सीता के सौन्दर्य की बात सुनी । वे एक दिन अचानक राजकुमारी सीता के महलों में आ टपके । महर्षि का भयावह और डरावना रूप देखकर राजकुमारी सीता घबराई । भयाक्रान्त हो वह चिल्लाने लगी । राजकुमारी सीता की आवाज सुनकर संरक्षक दौड़े आये । उन्होंने नारद को पकड़कर बड़े-बड़े रस्सों से बांध दिया । पता चलते ही महाराज जनक और महारानी विदेहा भी घटनास्थल पर पहुंचे । महर्षि नारद को देखते ही उन्होंने उनके चरण पकड़ लिये और अज्ञानवश अपराध के लिए क्षमा याचना की । फिर भी नारद तो नारद ही ठहरे । उन्होंने वहां तो कुछ नहीं कहा, किन्तु अपने अपमान का बदला लेने के लिए राजकुमारी सीता का एक सुन्दर चित्रपट बनाया । लगता था मानो चित्रपट में साक्षात राजकुमारी सीता ही खड़ी है । महर्षि नारद उस चित्रपट को लेकर सीधे वैताढ्य पर्वत पर राजकुमार भामण्डल के पास पहुंचे और राजकुमारी सीता का चित्र दिखलाकर उसे पागल बना दिया ।

पुत्र की ऐसी दशा देखकर महाराज चन्द्रगति ने अपने एक निजी विद्याधर को महाराज जनक के यहां भेजा । उस समय महाराज जनक नींद में सो रहे थे । विद्याधर ने महाराज जनक का पल्यंक उठाया और वैताढ्य की पर्वत मालाओं पर स्थित रथनुपुर में महाराज चन्द्रगति के सम्मुख लाकर रख दिया । महाराज जनक अपने को उस नये वातावरण में पाकर भयाक्रान्त हो रहे थे । महाराज चन्द्रगति ने उनका स्वागत

किया और कहा—'राजन् ! आप घबरायें नहीं । मैं आपकी पुत्री सीता को अपनी पुत्रवधू बनाना चाहता हूं । सीता सौंदर्य की दृष्टि से रति का अवतार है तो मेरा पुत्र भामण्डल भी कामदेव के अवतार से कोई कम नहीं है । इनका योग मिलाना आपके हाथ में है । 'शुभस्य शीघ्रम्' इस जनश्रुति के अनुसार शीघ्रातिशीघ्र आप स्वीकृति देकर मुझे कृतार्थ करें ।' महाराज जनक ने कहा—'आप बिल्कुल उचित कह रहे हैं । किन्तु पुत्री दो बार नहीं दी जा सकती । मैं अपनी पुत्री सीता को महाराज दशरथ के सुपुत्र राजकुमार राम को दे चुका हूं ।'

महाराज चन्द्रगति ने कहा—'राजन्, मैं तो आपकी पुत्री सौहार्द के नाते मांग रहा हूं । अन्यथा अभी आपके सामने सीता को यहां लाकर भामण्डल के साथ उसका विवाह कर सकता हूं । आपको जैसे यहां उठाकर लाया गया है, क्या उसी प्रकार सीता को नहीं लाया जा सकता ?' महाराज जनक भय से कांप उठे, उन्होंने कहा—'नहीं, ऐसा करना उचित नहीं, इसके लिए तो हमें कोई दूसरा सरल उपाय सोचना चाहिए ।'

महाराज चन्द्रगति ने भी सोचा—आखिर यह एक प्रेम का प्रसंग है, तो प्रेम बनाए ही रखना चाहिए । उन्होंने महाराज जनक से कहा—देखिये, हमारे यहां वज्रावर्त और अर्णवावर्त ये दो दिव्य धनुष हैं । ये दोनों धनुष सहस्र-सहस्र देवताओं के द्वारा सेवित हैं । आप दोनों धनुषों को अपने यहां ले जाइये और घोषित कर दें, कि इन धनुषों को जो चढ़ायेगा उसे ही सीता ब्याही जाएगी ।' यद्यपि महाराज जनक ऐसा करना नहीं चाहते थे, फिर भी विवशता के कारण उन्हें यह शर्त स्वीकार करनी पड़ी । महाराज चन्द्रगति ने दोनों धनुषों को साथ देकर महाराज जनक को मिथिला पहुंचा दिया । उन्होंने घर पहुंचते ही उक्त घटना के समाचार महाराज दशरथ के यहां कहलवा दिया उसके पश्चात् उन्होंने सीता के स्वयंवर और धनुष को चढ़ाने वाली शर्त के साथ अनेक राजाओं और राजकुमारों को आमंत्रित किया ।

इस स्वयंवर में आमंत्रित राजाओं और राजकुमारों में सर्वप्रथम महाराज दशरथ अपने चारों पुत्रों और अनेकानेक दलबल के साथ जनकपुरी में पहुंचे । इधर महाराज चन्द्रगति भी अपने प्यारे पुत्र और अनेक विद्याधरों के साथ महाराज जनक की पुरी में आये । उपर्युक्त दोनों राजाओं के शिविर पासपास में ही लगाये गये थे ।

स्वयंवर मंडप की रचना पहले से ही तैयार की गयी थी । मंडप की सजावट देखने लायक थी । उसके बीचों-बीच दोनों दिव्य धनुष रखे गये थे । निश्चित कार्यक्रम के अनुसार सभी राजा और राजकुमारों ने अपना-अपना स्थान ग्रहण किया । नाना प्रकार के चित्रों और आदर्शों से मंडित अनेकानेक राजाओं और राजकुमारों से परिपूर्ण वह मंडप एक दिव्य सभागार को भी मात कर रहा था ।

जैसे ही राजकुमारी जानकी अनेक अलंकारों से अलंकृत और दिव्य पोशाक में सजकर अपनी सहेलियों के साथ स्वयंवर मंडप में आकर खड़ी हुई, महाराज जनक ने मंडप में उपस्थित राजाओं और राजकुमारों को सम्बोधित करते हुए कहा— 'मेरे मेहमानों ! इस स्वयंवर मंडप के बीचों-बीच ये जो धनुष दिखाई दे रहे हैं, इन दोनों धनुषों के नाम वज्रावर्त और अर्णवावर्त हैं । इन धनुषों को जो चढ़ायेगा, राजकुमारी सीता उसी व्यक्ति को पति रूप में वरण करेगी ।'

धनुष चढ़ाने की शर्त को सुनकर राजकुमार लक्ष्मण उत्तेजित हो उठे । उन्होंने महाराज जनक को सम्बोधित करते हुए कहा—'हम नहीं समझ पाये, आपने यह स्वयंवर मंडप और धनुष चढ़ाने की बात कैसे कही ? जबकि राजकुमारी सीता का सम्बन्ध आप श्रीराम के साथ कर चुके हैं । यह कहां की बुद्धिमानी है ! सम्बन्ध निश्चित हो जाने के पश्चात् स्वयंवर मंडप की रचना और धनुष चढ़ाने की शर्त रखना—ये दोनों बातें किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नहीं कही जा सकतीं । मैं देखूंगा इस मंडप में बैठे हुए राजाओं और राजकुमारों में से किसकी मां ने सौंठ खायी है, जो इस वज्रावर्त और अर्णवावर्त को चढ़ाये । कौन

ऐसा शक्तिशाली है, जो सीता की ओर नजर उठाकर देखे । मैं अपनी उपस्थिति में ऐसा कभी नहीं होने दूंगा । राजकुमारी सीता राम को दी जा चुकी है । इस बात को महाराज जनक तो क्या, जनक के पूर्वज भी नहीं बदल सकते ।' यह कहकर लक्ष्मण म्यान से तलवार निकालकर खड़े हो गये । सारा मंडप कांप उठा । उस समय राजकुमार राम ने लक्ष्मण को शांत किया ।

महाराज जनक ने कांपते हुए सीता को आगे बढ़ने के लिए संकेत किया । सर्वप्रथम भामंडल ने जब इस रूप राशि को एकटक देखा, वह मूर्च्छित सा हो गया । मंडप में एक प्रकार की हलचल हो गयी । उसे नाना प्रकार के शीतल उपचारों द्वारा सचेत किया गया । सैकड़ों राजा, महाराजा और राजकुमार सभी एकमात्र राजकुमारी सीता की ओर टकटकी लगाए देख रहे थे । किन्तु राजकुमारी की दृष्टि एकमात्र राम से जुड़ी हुई थी । सीता की सहेलियों ने कहा—'प्यारी साखी ! तुम तो इस धनुष देव की आराधना करो । क्योंकि तुम्हें वर दिलाने वाला यह धनुष ही है । अतः इसी की पूजा और उसी का स्मरण करो ।' अपनी सहेलियों की यह व्यंग्योक्ति सुनकर राजकुमारी जानकी ने कहा—

मो मन में निहचे सजनी ! कहुं तात हुते प्रन मेरो महा है,
रीत पतिव्रत राख चुकी, मुख भाख चुकी अपनो कुलख है ।
भूप अनेक विराजित हैं, पर मो मन में रमी राम रख है,
चाप निगोड़ी अवेजरी जाओ, चढ़े तो चढ़े न चढ़े तो कहा है ।

'मेरा मन तो एक श्रीराम से ही जुड़ा हुआ है । मैं अपने पति का चुनाव, उसी दिन कर चुकी जिस दिन वे मिथिला का संकट मिटाने आये थे । यद्यपि पिताजी ने विवशतावश धनुष चढ़ाने की शर्त रखी है, किन्तु मेरा प्रण है कि धनुष चढ़ाने या न चढ़ाने पर भी मैं इस जन्म में श्रीराम का ही वरण करूंगी ।

राजकुमारी सीता अपने दोनों करों में वरमाला थामे हुए अपनी ...ंय के साथ खड़ी हुई थी । इधर क्रमशः धनुष चढ़ाने का कार्यक्रम

चालू हुआ । सर्वप्रथम विद्याधरों की बारी आयी । उनमें राजकुमार भामंडल जैसे ही धनुषों के पास पहुंचे । दोनों धनुष नृत्य करने लगे । दोनों धनुषों के ऊपर सांपों और अग्नि के चित्र थे । चित्रगत सर्प जीवित हो उठे और आग की ज्वालाएं प्रसारित होने लगीं । इस प्रकार की भयावह स्थिति को देखकर अनेक विद्याधर राजा और राजकुमार धनुषों के पास ही नहीं पहुंच सके । वे सबके सब लज्जित होकर वापस बैठ गये । विद्याधरों की ऐसी लज्जाजनक स्थिति को देखकर कुछ राजा और राजकुमार तो अपने स्थान से खड़े ही नहीं हुए, जो खड़े हुए थे, वे बीच से ही लौटकर आये और मुंह नीचा कर अपने-अपने आसनों पर बैठ गये ।

इस प्रकार सभी राजा और राजकुमार परास्त हो गये । इस स्थिति को देखकर राजकुमार राम अपने और लघु भ्राता लक्ष्मण के साथ खड़े हुए और शांतिपूर्वक धीरे-धीरे धनुषों की ओर बढ़ने लगे । उस समय कुछ विद्याधर और कुछ अन्य राजा एवं राजकुमार उनकी मखौल उड़ाते हुए कहने लगे—'आये हैं ये बेचारे धनुष चढ़ाने' । जब ये विद्याधर और अनेक बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी नहीं चढ़ा सके तो इनकी क्या बिसात है ? इधर राजकुमारी सीता उनके माता-पिता व परिवार के लोग प्रजाजन सभी मिलकर यह कामना कर रहे थे कि शीघ्रातिशीघ्र श्रीराम धनुष के पास पहुंचे और धनुष पर बाण चढ़ाकर विजयी बनें । उधर ज्योंही श्रीराम ने धनुष को चढ़ाने के लिए हाथ उठाया तो वे नृत्य करते हुए दोनों धनुष शांत हो गये । उन पर जो सांप फुफकार रहे थे, वे शांत हो गये । अग्नि ज्वालाएं भी शांत हो गयीं । राम ने वज्रावर्त धनुष को उठाया और उस पर बाण चढ़ाकर भीषण टंकार किया । उसी समय अर्णवावर्त धनुष पर लक्ष्मण ने बाण चढ़ाया और वैसे ही भयंकर टंकार किया । धनुषों के अतिप्रचंड शब्द सुनकर जनकपुरी के लोग और माता-पिता एवं पारिवारिक जन सभी आनन्द से झूम उठे । राजकुमारी सीता के रोम-रोम खिल गये । वह राजकुमार राम के सम्मुख आयी और उन्हें वरमाला पहनाकर कृत-कृत्य हो गयी । चन्द्रगति अपने पुत्र

भामण्डल को लेकर अपने नगर की ओर लौट गये, तथा अन्य विद्याधर भी वहां से प्रस्थान कर गये। अन्यान्य राजा-महाराजा भी अपने-अपने नगरों की ओर प्रस्थान कर गये। महाराज जनक ने अपनी नगरी को और अच्छी तरह सजाया। विविध प्रकार के उत्सवों और महोत्सवों के साथ श्रेष्ठ लग्न में राजकुमारी सीता का राम के साथ पाणिग्रहण करवाया। महाराज दशरथ भी पुत्रवधू और अपने पुत्रों के साथ सानन्द अयोध्या लौट आये। प्रजाजनों ने अयोध्या नगरी में भी विभिन्न प्रकार के उत्सवों का आयोजन किया। इस प्रकार जीवन की घड़ियां आनन्द के साथ बीत रही थीं। राजकुमार राम, लक्ष्मण, भरत व शत्रुघ्न—चारों भाई महाराज दशरथ के सान्निध्य में नाना प्रकार की कलाओं का अध्ययन कर रहे थे।

उस समय अयोध्या नगरी के उद्यान में कैवल्य ज्ञान के धनी मुनि महाराज आकर ठहरे। महाराज दशरथ अपने परिवार के साथ एवं अन्यान्य नगर निवासीजनों के साथ सर्वज्ञ महाराज के दर्शनार्थ उद्यान में पहुंचे। मुनि महाराज के सम्मुख श्रोताओं की एक बहुत बड़ी परिषद् जुड़ी थी। संयोगवश महाराज चंद्रगति भामण्डल और महारानी पुष्पवती भी आ निकले। मुनि महाराज के दर्शन करते-करते भामंडल की आंखें सीता के ऊपर पड़ीं। सीता परिणीता है यह कोई भामण्डल से छिपी हुई बात नहीं थी। फिर भी उसकी वृतियां शांत नहीं हो पायी थीं। सर्वज्ञ महामुनिराज ने धर्मोपदेश करते हुए सीता और भामण्डल का पिछला वर्णन करते हुए कहा—'भैया! भामण्डल सीता के प्रति तुम अब तक भी मुग्ध होकर अशांत हो! तुम नहीं जानते कि सीता कौन है? भामण्डल तुम और सीता दोनों एक उदर में लेटे थे। तुम दोनों ने महारानी विदेहा की कोख से एक साथ जन्म लिया है। यह जानकी तुम्हारी सगी बहन है। कर्मों की गति बड़ी ही विचित्र है। जन्म होते ही तुम्हारे पूर्व भव के वैरी देवता ने तुम्हारा अपहरण कर तुम्हें रथनूपुर के महाराज चंद्रगति के महल की छत पर छोड़ दिया। अतः तुम

वैताढ्य पर्वत पर रथनुपुर में महाराज चंद्रगति के आवासों में बड़े हुए हो और यह तुम्हारी सगी बहन जो आज महाराज दशरथ की पुत्रवधू कहलाती है, वह तुम्हारे पिता जनक के प्रासादों में बड़ी हुई है ।'

भामण्डल यह सुनकर चकित रह गया । वह वहां से तत्काल उठा और अपनी बड़ी बहन सीता के चरणों में जा गिरा । उसने सीता से अज्ञानवश किये गये अपराधों के लिए क्षमा-याचना की । देखते-ही-देखते सारा वातावरण बदल गया । जिस राम को वह अपना शत्रु मान रहा था, वही राम अब उसके परम बल्लभ बहनोई थे । साले-बहनोई दोनों बड़े प्रेम से गले मिले एवं सर्वज्ञ भगवान् का सुधामय उपदेश सुनने में लीन हो गये । महाराज दशरथ ने सर्वज्ञ भगवान् से अपने पूर्वभव के विषय में प्रश्न किया । सर्वज्ञ महाराज ने जनक, दशरथ, चंद्रगति, पुष्पवती, सीता, भामण्डल एवं वैरी देवता का सारा वृत्तांत कह सुनाया । सर्वज्ञ मुनि महाराज की वैराग्य रस से परिपूर्ण वाणी सुनकर लोगों पर मानो वैराग्य का समुद्र ही उमड़ पड़ा । मुनि की वाणी से प्रभावित होकर महाराज चंद्रगति और महारानी पुष्पवती अपने पुत्र भामण्डल को राज्य देकर वहीं दीक्षित हो गये । महाराज दशरथ ने भी घर आकर अपनी महारानियों तथा मंत्रियों को बुलाकर कहा – 'मैं अब संयम ग्रहण कर आत्म-कल्याण करना चाहता हूं । अतः मैं चाहता हूं की बड़े राजकुमार राम को राज्याभिषेक कर निश्चित होकर संयम के मार्ग पर उतर जाऊं ।'

महाराज दशरथ की वैराग्य-भावना देखकर कैकेयी-पुत्र भरत ने भी पिता के साथ दीक्षा लेनी चाही । वह एक प्रकार से संयम के लिए तैयार ही हो गया । महारानी कैकेयी को जब यह ज्ञात हुआ तो वह भरत को रोकने के लिए महाराज दशरथ के पास पहुंची । महाराज दशरथ के पास कैकेयी को वरदान देने का एक वचन सुरक्षित था । कैकेयी ने उस दिये गये वरदान के द्वारा भरत के लिए अयोध्या का राज्य मांगा । महाराज दशरथ ने भरत को राज्य देने की स्वीकृति दे

दी। किन्तु भरत ने कहा कि राम के रहते मैं राज्य ग्रहण नहीं कर सकता। भरत के कथन का अपने ढंग से अर्थ ग्रहण करते हुए राम ने कहा—'मेरे रहते हुए तुम राज्य नहीं करते तो मैं वनवास ग्रहण करता हूं। तुम राज्य करो।' बस इतना कहकर राम उसी समय मां कौशल्या के पास आए और उसे सारी स्थिति की अवगति कराकर आशीर्वाद प्राप्त कर वे वन की ओर प्रस्थान कर गये। जैसे ही सीता को यह समाचार मिला, वह तत्क्षण मां कौशल्या के पास दौड़ी आई और प्रणाम कर चलने लगीं।

मां कौशल्या ने भांति-भांति से समझाने का प्रयत्न किया। उसने कहा—'देखो बेटी! यहां सदा तुम वाहनों पर सवार होकर आती-जाती हो, किन्तु वहां वनवास में एक भी वाहन हाथ लगने वाले नहीं हैं। यहां तुम हर समय मखमल के गद्दों पर बैठती-उठती हो, किन्तु वहां वनवास में तुम्हें नुकीले पत्थरों पर बैठना-उठना पड़ेगा। यहां तुम हमेशा—तीनों समय स्वादिष्ट भोजन करती हो, किन्तु वहां वन में फल-फूलों के अतिरिक्त कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है। अतः मेरा कहना मानो प्यारी बहू! क्या तुम नहीं जानती, शास्त्रों में कहा है—'सासु नी सेवा किया, पीयु सेव्यो सौ बार' हमारे शास्त्रों में इस प्रकार की शिक्षाएं भरी पड़ी हैं, सास की एक दिन की सेवा और पति की सौ दिन की सेवा यह बराबर बतलाया गया है।' इस प्रकार मां कौशल्या ने बहुत कुछ कहा पर उनकी एक भी नहीं चली। सीता अपने कर्तव्य को समझती थीं अतः मां कौशल्या को प्रणाम कर राम के पीछे-पीछे चल पड़ीं। इसी प्रकार जब लक्ष्मण को पता चला तो वे भी अपने कर्तव्य का पालन करने की दृष्टि से तैयारी करने लगे। वे तत्काल ही मां कौशल्या, कैकयी और सुप्रभा के निवास स्थान पर पहुंचे। उन्हें सारी स्थिति से अवगत कर उनका आशीर्वाद प्राप्त कर वे अपनी जन्मदात्री—मां सुमित्रा के पास पहुंचे और उनसे कहा कि मैं भैया राम और सीता के साथ वनवास जाना चाहता हूं। यह सुनते ही मां सुमित्रा ने बड़े उत्साह के साथ कहा—हां, बेटा! क्यों नहीं?

तुम्हें तो उनकी सेवा में जाना ही चाहिए । तुम धन्य हो जो कि इतने उदार विचार रखते हो । ऐसा सुनहरा अवसर तो किसी भाग्यशाली को ही मिलता है । जाओ, तुम जल्दी जाओ ! अपने बड़े भैया राम की और भाभी की अत्यन्त तत्परता के साथ सेवा करना । राम को अपने पिता के तुल्य और अपनी भाभी को मेरे तुल्य समझकर चलना है । बेटा ! वहां वनवास में पूरी–पूरी निगाह और सावधानी रखना, उनकी सारी जिम्मेवारी तुम्हारे कंधों पर है ।'

श्रीराम, लक्ष्मण और सीता जब वन की ओर प्रस्थान करने लगे, उस समय शहर की सहस्रों–सहस्रों स्त्रियां सीता से मिलकर, जब वापस लौटीं तो वे रोती हुई परस्पर बातें कर रही थीं , 'धन्य है, धन्य है, भाई ! इस महासती सीता को जो इस राजसी ठाठ को ठोकर मारकर पति के साथ वनवास जा रही है । आज सुख में प्रेम दिखाने वाली स्त्रियों से तो दुनिया भरी है । किन्तु कष्टों के समय में पति की सेवा करने वाली सीता के समान कोई विरली ही मिलेगी ।' इस प्रकार शहर की अनेकानेक महिलाएं शोक में विह्वल हो रहीं थीं । उस समय सारी की सारी अयोध्या पर शोक के बादल छा रहे थे, सारा शहर मानो उस शोक की आग में झुलस रहा था । उस स्थिति में महारानी कैकयी के लिए न जाने लोगों ने क्या–क्या शब्द वापरे, उन सबका पता लगाना कठिन है । इसमें कोई सन्देह वाली बात नहीं हो सकती ! क्योंकि जिस समय आदमी के हृदय में दुःख होता है, तो वह चाहे जैसे शब्दों का प्रयोग कर बैठता है । किन्तु राम-राम ही थे, इतना बड़ा परिवर्तन होने पर भी महाराज राम मां कैकेयी के प्रति अंश मात्र भी नाराज नहीं हुए । मां कौशल्या को और मां कैकेयी को एक ही तुला से तोल रहे थे । वे अपनी सभी माताओं को पूजनीयता की दृष्टि से देख रहे थे । उनकी दृष्टि से कौशल्या और कैकेयी में कोई अन्तर नहीं था ।

इस प्रकार भगवान् राम उस रोती-बिलखती प्रजा को छोड़कर आगे चले । जब तक वे दृष्टिगत रहे, लोग देखते रहे, जब वे आंखों

से ओझल हो गये तो सारे लोग अयोध्या की ओर मुड़ पड़े। राम, लक्ष्मण और सीता अब अयोध्या को छोड़कर बहुत दूर निकल गए।

इधर भरत ने राज्य ग्रहण करने से स्पष्ट इनकार कर दिया। सबके समझाने पर भी अपना दृढ़ निश्चय नहीं बदला, तब महाराज दशरथ ने सामंत मंत्री को बुलाया और कहा—'भरत राज्य लेना नहीं चाहता अतः जाओ, तुम राम को वापस अयोध्या ले आओ।' राजा के आदेश से सामंत कुछ व्यक्तियों के साथ वन को रवाना हुए और राम के पास जाकर सारे समाचार कहे, परन्तु राम ने उन्हें समझाबुझाकर वापस भेज दिया और वे आगे बढ़ने लगे। जब सामन्त जाते हुए राम को एकटक निहार रहे थे, तो राम ने उन्हें बड़े स्नेह से वापस लौट जाने के लिए कहा।

सामन्त मंत्री ने अयोध्या पहुंचकर जब दशरथ को राम के वापस न लौटने के समाचार कहे तो दशरथ अत्यन्त ही खिन्न, उदास और निराश हो गये। उन्होंने पुनः भरत को राज्य-भार सम्भालने के लिए समझाया। महारानी कैकेयी एवं अन्यान्य मंत्रियों ने दबाव डाला परन्तु सब प्रयत्न व्यर्थ गये।

भरत के इनकार करने पर माता कैकेयी सामन्त मंत्री और भरत, राम को मनाने के लिए उनके पास पहुंचे। कैकेयी ने राम को बहुत समझाया परंतु राम ने भी भरत को ही राज्य ग्रहण करने के लिए कहा। उन्होंने सीता से जल कलश मंगवाया और सामन्त मंत्री को साक्षी बनाकर भरत का राज्याभिषेक कर दिया। अब भरत के सामने अन्य कोई उपाय नहीं रहा। राम ने भरत को कुछ आवश्यक निर्देश देकर, विदा किया और वे छोटे-छोटे गांवों में होते हुए घने जंगलों की ओर बढ़ने लगे। घूमते-घामते वे दण्डकारण्य में पहुंच गये। उस वन में एक स्थान पर उन्होंने घास-फूस की कुटिया बनाई और बड़े आनन्द से रहने लगे।

उस समय लंका में राजा रावण राज्य करता था। सुग्रीव, हनुमान आदि अन्य राजा अपना नेता मानते थे और उसके संकेत पर चलते

थे । लंकापति रावण के अनेक रानियां, पुत्र और पौत्र आदि थे । महासती मन्दोदरी उसकी पटरानी थी । इन्द्रजीत और मेघनाथ उसके वीर पुत्र थे । कुम्भकर्ण और विभीषण दो भाई थे । विभीषण धार्मिक प्रवृत्ति वाले नीति-निपुण व्यक्ति थे । रावण प्रायः उसी के परामर्श से कार्य करता था । रावण की छोटी बहन का नाम सूर्पणखा था । सूर्पणखा स्वच्छन्दता और स्वतंत्रता-प्रिय नारी थी । इसलिए वह खर नामक विद्याधर के साथ भाग गई थी और उसकी पत्नी बनकर रहने लगी । खर विद्याधर के दूषण और त्रिशिर छोटे भाई थे । विद्याधर खर अपने छोटे भाईयों के साथ पाताल लंका का राज्य करता था । विद्याधर खर की पत्नी महाराज रावण की भगिनी सूर्पणखा के शम्बुक और सुन्द नामक दो पुत्र हुए ।

एक बार शम्बुक ने सूर्यहास खड्ग की साधना प्रारम्भ की । सूर्यहास खड्ग की विधिपूर्वक साधना करने वाला तीन खण्ड का अधिपति हो जाता है । इसके साधक को बारह वर्ष और सात दिन तक बेले-बेले की तपस्या करनी पड़ती है । तपस्या में किसी वृक्ष की शाखा से पैरों को बांध कर, उल्टे सिर लटकते हुए मंत्र का जाप करना पड़ता है । जाप करते समय सूर्यहास खड्ग उसके आस-पास रहता है । तपस्या के साथ-साथ उस खड्ग में भी तेजःपुंज का समावेश होता रहता है ।

इस प्रकार वह क्रम से साधना कर रहा था । उसे इस कठिन साधना में रत रहते हुए बारह वर्ष और चार दिन बीत चुके थे । उसका सूर्यहास खड्ग अति तेतःपुंज से परिपूर्ण हो, सूर्य की भांति चमक रहा था । उसका तपस्या में अब एक बेला और एक पारणे का दिन ही अवशेष रह गया था । शम्बुक की उत्तरसाधिका उसकी अम्बा सूर्पणखा थी । वह पारणे के दिन उसे विधिवत् पारणा कराने के लिए हर तीसरे दिन वहां उपस्थित होती थी । शम्बुक सूर्य की तरह प्रकाशित होने वाले सूर्यहास खड्ग को देखकर आनन्दित हो रहा था । वह अब और भी उत्साह के साथ जाप करने लगा था ।

मनुष्य चाहे कितना ही प्रयत्न करे, अखिर जो होना है वही होता है। एक दिन लक्ष्मण घूमते-घूमते उधर पहुंचे गये। उन्होंने वहां प्रकाश पुंज बिखेरता हुआ वह सूर्यहास खड्ग देखा और उसे अपने हाथ में लेकर उस वंशबीड़ में चलाया। बस फिर क्या था ? वंशबीड़ के साथ-साथ ही शम्बुक का सिर भी कट कर नीचे आ गिरा और रक्त धारा बह चली। लक्ष्मण ने देखा कि वंशबीड़ के साथ किसी व्यक्ति का सिर कट गया है और उसी से यह रक्त धारा बहकर आ रही है। उन्हें इसके लिए काफी पश्चात्ताप हुआ, पर अब तो हो भी क्या सकता था ? वे तत्काल ही भगवान् राम के पास पहुंचे और सारी घटना उनके चरणों में निवेदित की। राम ने सुनकर लक्ष्मण से कहा—'भाई ! मेरी दृष्टि में आज से यह एक कलह का वृजारोपण हो गया है। तुमने यह कार्य अविचारपूर्वक किया जिससे किसी निरपराध व्यक्ति की हत्या हो गई। सूर्यहास खड्ग की साधना करने वाला व्यक्ति, कोई साधारण नहीं हो सकता। इस व्यक्ति के पीछे किसी-न-किसी बड़ी शक्ति का हाथ है। पर खैर अब जो भी स्थिति सामने आयेगी उससे निपटना ही होगा। अपने मन में धैर्य रखो और स्थिति की प्रतीक्षा करो।

इधर शम्बुक का सिर कटने के बाद उसकी मां सूर्पणखा पारणा लेकर वहां पहुंची। सूर्पणखा अपने मन में सोच रही थी—आज मेरे लाडले की साधना का अन्तिम दिन है। इस घोर तपस्या का आज यह अन्तिम पारणा है। आज मैं इस उपलक्ष्य में अपने लाडले शम्बुक को बहुत-बहुत बधाइयां दूंगी। परन्तु ज्योंही उसने यह दुःखद दृश्य देखा, वह मूर्च्छित होकर धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ी। कुछ देर बाद जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई तो उसका मन ग्लानि से भर गया। वह पूर्णतया शोक निमग्न थी। उसकी आंखों से अविरल अश्रु-धारा बह रही थी। अचानक ही उसकी दृष्टि लक्ष्मण के पदचिह्नों पर पड़ी। वह उन पदचिह्नों का अनुसरण करती हुई भगवान् राम, लक्ष्मण और सीता के पास पहुंची। उसकी दृष्टि भगवान् राम पर पड़ी और वह उनकी रूप-राशि पर मुग्ध हो गई। उसने तत्काल ही रूप-परिवर्तिनी विद्या के

द्वारा एक षोडश वर्षीय श्यामा का रूप धारण कर राम से विवाहार्थ निवेदन करने लगी। राम ने कहा—'मैं तो विवाहित हूं तुम लक्ष्मण के पास जाओ वह अभी कुंवारा हैं।' जब लक्ष्मण के पास आई तो लक्ष्मण ने कहा—'मुग्धे' ! मैं तो अभी राम का अनुचर हूं उनकी सेवा करना मेरा हमेशा का कार्य है, शादी करता हूं तो मेरी सेवा में एक प्रकार की बाधा उपस्थित होती है। अतः मेरा अभी इस स्थिति में विवाह करने का विचार नहीं है। तुम ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम के पास ही जाओ।' वह घूमकर राम के पास आई। राम ने फिर लक्ष्मण के पास भेजा। इस प्रकार उसने उन दोनों भ्राताओं के बीच कई चक्कर लगाए। अन्त में वह इस रहस्य को समझ गई राम, लक्ष्मण पर क्रुद्ध होकर अपने घर चली गई।

राजा खर ने अपनी पत्नी के मुंह से शम्बुक की हत्या के समाचार सुने तो वह क्रोध से लाल हो उठा और अपनी समस्त सेना लेकर श्रीराम के साथ समर करने के लिए आ पहुंचा। राम को यह पता चला कि शम्बुक का पिता लड़ाई के लिए आया है, तो वे भी धनुष-बाण लेकर चलने लगे। उस समय लक्ष्मण ने उन्हें रोका और वे स्वयं युद्ध के लिए चल पड़े। राम ने कहा—'लक्ष्मण ! तुम अकेले हो अगर युद्ध में कोई कष्टप्रद स्थिति बन जाये, तो तुम तुरन्त ही सिंहनाद कर देना, मैं तत्काल ही सहायतार्थ तुम्हारे पास पहुंच जाऊंगा।' किन्तु लक्ष्मण ने राम की इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया और वे सीधे रण-भूमि में पहुंचे। उन्होंने खर की सेना को ललकारा। भयंकर युद्ध छिड़ गया। लक्ष्मण अकेले ही उन चौदह हजार सैनिकों के साथ एक नट की तरह नाच रहे थे। सूर्पणखा को अपने पति की जीत के प्रति संदेह था। लड़ाई आगे किस प्रकार चालू रह सके। इस स्थिति पर विचार कर, वह अपने भाई रावण के पास लंका पहुंची।

वहां पहुंचकर उसने रावण से कहा—'भैया ! राम और लक्ष्मण दो भील-पुत्र-दण्डकारण्य में आकर रह रहे हैं। उन्होंने तुम्हारे भानजे शम्बुक की हत्या कर डाली है। शम्बुक वहां सूर्यहास खड्ग की साधना कर रहा था कि उसी राम के छोटे भाई लक्ष्मण ने उसकी हत्या कर

डाली । तुम्हारे बहनोई दण्डकारण्य में उनमें युद्ध के लिए गए हुए हैं ।' इस प्रकार सारे समाचार उसने रावण के सम्मुख रखे । किन्तु रावण ने उन समाचारों पर कोई ध्यान नहीं दिया । इधर-उधर की बातें कर उसके शम्बुक की हत्या वाली बात को बिल्कुल कपूर की भांति उड़ा दिया । सूर्पणखा ने जब देखा कि सीधी अंगुलियों से घी नहीं निकलेगा, तो उसने एक चाल चली और कहने लगी ।

'भैया ! उनके साथ एक नारी-रत्न भी है, जिसकी सुन्दरता का वर्णन करने के लिए मैं असमर्थ हूं । मैं समझती हूं तुम्हारे अन्त-पुर में अनेकानेक रानियां हैं किन्तु उस सीता के सम्मुख वे सबकी-सब पानी पिलाने वाली दासियों के तुल्य हैं । भैया ! सीता तो सीता ही है—

'इन्द्र की परी है कैधों धरी है विधाता आप
चन्द्रमां ते चीर काढ़ी सीर अमी पान की
कंधन-वरण तनु रचना दिखात खोट
सावन की तीज मानूं बीज आसमान की
रूप को बखान भ्रात ! बात ते न कह्यो जात
करत प्रशंसा मेधा भ्रमत सुरान की
स्वर्ग पाताल लोक मर्त्यलोक ढूंढ़ देखो
कामिनी न दूजी ऐसी जैसी भ्रात ! जानकी'

महासती सीता के रूप की प्रशंसा सुनकर लंकेश्वर राजा रावण कामविह्वल हो उठा । वह चेतना खोकर जड़ता का आलिंगन करने लगा । राजा रावण पुष्पक विमान पर सवार होकर तत्क्षण वहां पहुंचा। उसने दूर से देखा महासती सीता अकेली नहीं है । उसके पार्श्व में भगवान् राम बैठे हुए हैं । रावण वहीं रुक गया । उसके पैर पीछे की ओर खिसकने लगे । वह महासती सीता का अपहरण करना चाहता था। उसे एक उपाय सूझा ।

उसने दिशावलोकिनी देवी का स्मरण किया । देवी प्रस्तुत हुई । महाराज रावण ने सीता के अपहरण सम्बन्धी अपने विचार कहे । देवी ने कहा—'लंकेश ! सीता का अपहरण तुम्हारे लिए उचित नहीं रहेगा । समस्त दुनिया में बदनाम हो जाओगे ।'

रावण ने कहा—'मुझे शिक्षा की आवश्यकता नहीं है । मैंने तुम्हें शिक्षा प्राप्त करने के लिए याद नहीं किया है । मैंने जो विचार तुम्हारे सामने रखे, उनमें अगर तुम मेरा सहयोग कर सकती हो तो करो । अन्यथा अपने स्थान पर जाकर आराम करो ।' देवी को राजा रावण के ये शब्द कुछ कटु लगे । वह तत्क्षण ही उस दिशा में पहुंची जहां लक्ष्मण राजा खर के साथ संग्राम कर रहे थे । देवी ने वहां से सिंहनाद किया, वह सिंहनाद राम और सीता को सुनाई दे रहा था । किन्तु अन्य किसी को भी नहीं । जैसे सीता के कानों में नाद की गुंज पड़ी, उन्होंने श्रीराम से कहा— 'महाराज ! लगता है लक्ष्मण शत्रुओं से घिर गए हैं । शत्रुओं ने उन्हें विवश कर दिया है । इसी कारण उन्होंने यह सिंहनाद किया है । प्रभो ! आप उनकी सहायता के लिए पधारें । अरे ! यह फिर सिंहनाद सुनाई दे रहा है । भगवान् ! अब विलम्ब न करें । शीघ्रातिशीघ्र पधारें । और वहां की स्थिति का अवलोकन करें ।' राम ने कहा—'प्रिये ! मुझे तो यह कोई प्रपंच लगता है । लक्ष्मण इन कीड़े और पतंगों से हार जाये, ऐसी रात में नहीं जन्मा । अतः तुम धैर्य रखो । लक्ष्मण अभी विजय प्राप्त कर आता ही होगा ।' सीता ने कहा—'स्वामिन् ! अब देर असह्य है । निश्चय ही लक्ष्मण किसी संकट की स्थिति में फंस गए हैं । आप उनकी संभाल के लिए एक बार अवश्य जायें । लक्ष्मण हमारे लिए प्राण न्योछावर करते हैं, उन पर संकट आये और आप शान्त भाव से यहां बैठ सिंहनाद सुनते रहें । उह ! कैसा लगता है । आप तो करुणा-सागर कहलाते हैं, फिर लक्ष्मण के लिए इतनी निष्ठुरता ? यह आपके लिए शोभा नहीं देती ।' सीता की तिलमिलाहट देखकर राम ने कहा—'प्रिये ! लक्ष्मण तो मुझे प्राणों से भी प्यारा है । उसके लिए मैं जितना करूं, थोड़ा है, किन्तु इस निर्जन वन

मैं तुम्हें छोड़कर कैसे जाऊं ?' सीता ने कहा—आर्यपुत्र ! यहां तो कोई नहीं है । आप चिन्ता न करें । युद्ध-भूमि यहां से अधिक दूर नहीं है । मैं सोचती हूं काफी दूर तक तो मैं आपके दृष्टिगत होती ही रहूंगी । वापस लौटते समय भी ऐसा ही हो सकेगा, फिर चिन्ता किस बात की ?' आखिर सीता की आग्रह भरी भावना को राम नहीं टाल सके और वे लक्ष्मण की दिशा में चल पड़े । जाते समय मार्ग में अनेक अपशकुन हुए, फिर भी राम उन अपशकुनों की उपेक्षा कर आगे बढ़ ही गये । होनहार कभी टलता नहीं ।

उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां ।
विकसति यदि पद्मं, पर्वताग्रे शिलायाम् ॥
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः ।
तदपि न चलतीयं भाविनी कर्म रेखा ॥

आखिर जो घटित होने वाला है, वह घटित होकर ही रहता है । भगवान् राम ज्यों ही सीता की दृष्टि से ओझल हुए, राजा रावण सीता के सामने एक राक्षस की तरह आ खड़ा हुआ । सीता उसे देखते ही भयभीत हो गई, वह भय से कांपने लगी ।

रावण ने कहा—'सुन्दरी ! कोमलांगि ! आज तुम्हारा भाग्य जगा है । देखो, यह रथ तुम्हारे लिए प्रस्तुत है । अब तुम्हें पैदल चलने की आवश्यकता नहीं ।' सीता ने कहा—'तुम कौन हो भद्र ! जो इस प्रकार अनर्गल भाषा बोलते चले जा रहे हो । किसी पराई औरत के विषय में तुम्हें ऐसे बोलने का क्या अधिकार है ? तुम जानते हो मैं राम की धर्मपत्नी हूं । सावधान ! अगर आगे पैर बढ़ाया तो जीवन से हाथ धोना पड़ेगा । चले जाओ यहां से ।' रावण ने कहा—'प्रिये ! मुझे अधिक परिचय देने की आवश्यकता नहीं, राम और लक्ष्मण दोनों जंगली भील हैं । इस प्रकार भील-पुत्र के साथ पाणिग्रहण कराकर तुम्हारे पिता ने बहुत बड़ी भूल की है । तुम भोली हो जो इन भील-पुत्रों के साथ वन-वन की खाक छानती फिरती हो । सीते ! तुम मेरी बात मानकर रथ

पर बैठो, अन्यथा बलपूर्वक अभी हाथ पकड़कर ले जाऊंगा ।' सीता निरुपाय थी क्योंकि उसे परपुरुष का स्पर्श नहीं करना था । वह रुदन करती हुई ही रथ पर आ बैठी । रावण उसी क्षण आकाश मार्ग से लंका की ओर चला गया ।

संयोगवश रामभक्त जटायु ने उसे देखा । उसने रावण को चोंच से घायल कर दिया । देखते ही देखते उनके शरीर को लहू-लुहान कर दिया । रावण ने भी तब अत्यन्त क्रुद्ध होकर तलवार से जटायु के दोनों पंख काट डाले । जटायु असहाय होकर जमीन पर आ गिरा ।

अब लंकेश आकश मार्ग से सीता को लिये हुए लंका की ओर बढ़ता जा रहा था । महासती सीता उस पापी राक्षस से छुटकारा पाने के लिए तड़प रही थी । वह चिल्ला-चिल्लाकर भूमिस्थ लोगों को पुकार रही थी । 'अरे ! मुझे इस पापी के पंजों से छुड़ाओ, पता नहीं यह राक्षस कौन है ! मुझे बलपूर्वक उठाकर ले जा रहा है ! हा अब मुझे कौन बचाये । मैं राजा दशरथ की कुलवधू हूं । महाराज राम की महारानी हूं । लक्ष्मण मेरे देवर हैं हा ! पतिदेव ! हा ! राम ! आपकी अनुपस्थिति में यह महापापी मुझे लिये जा रहा है । आप जहां भी हैं, शीघ्र आएं और मेरी रक्षा करें । हा ! देवर लक्ष्मण ! पता नहीं यह कौन दुराचारी है । तुम्हारी अनुपस्थिति में यह मुझे लिये जा रहा है । तुम मेरी कितनी सेवा करते थे, कितना ध्यान रखते थे । हा ! इस दुःख की वेला में तुम भी उपस्थित नहीं हो । मेरे प्यारे देवर लक्ष्मण ! अगर मेरी आवाज तुम तक पहुंचती हो तो तुम शीघ्रातिशीघ्र आकर इस पिशाच से मुझे बचाओ । हा ! हा ! इस दुःखद वेला में कोई तो आओ । मैं महाराज जनक की सुपुत्री हूं और भामण्डल मेरा भाई है । हा! पतिदेव राम हा ! देवर लक्ष्मण ! हा ! भामण्डल भ्रात ! अपनी बहन को इस पापात्मा के चंगुल से छुड़ाओ ।' इस प्रकार विलाप करती हुई महासती सीता को रावण लंका की ओर लिये जा रहा था ।

उसी समय एक रत्नजटी नामक विद्याधर आकाशगामिनी विद्या का अभ्यास करता हुआ आकाश में उड़ रहा था । उसने जब भामण्डल

का नाम सुना तो तत्काल ही रावण के सम्मुख आया । उसने सोचा—अरे ! यह तो मेरे स्वामी भामण्डल की बहन है, लगता है यह पापिष्ट रावण उसे अपहरण कर लंका की ओर ले जा रहा है । उसने तत्काल ही रावण को दूर से ही ललकारा किन्तु जैसे ही निकट पहुंचा रावण ने एक चांटा ऐसा जमाया कि रत्नजटी वापस नहीं सम्भल सका । उसी क्षण धरती पर आ गिरा । रावण अबाध गति से चलता हुआ अपनी राजधानी लंका में पहुंचा और सीता को अशोक वाटिका में अशोक वृक्ष के नीचे लाकर बैठा दिया । उसने सीता की व्यवस्था के लिए कई दासियां नियुक्त कीं । त्रिजटा, जो कि विभीषण की पुत्री थी, उन सब में प्रमुख थी । इस प्रकार व्यवस्था कर रावण अपने निवास स्थान पर पहुंचा । इधर सीता ने सारी स्थितियों को देखते हुए एक प्रतिज्ञा की कि जब तक राम और लक्ष्मण के कुशलता के समाचार नहीं सुन लूं, तब तक मुझे आहार करने का प्रत्याख्यान है ।

इधर भगवान् राम लम्बे-लम्बे डग भरते हुए लक्ष्मण के पास पहुंचे । उन्होंने दूर से ही आवाज लगाई—'लक्ष्मण ! मैं आ पहुंचा हूं, अब तुम्हें किसी बात के लिए विचार करने की आवश्यकता नहीं है ।' लक्ष्मण ने उनकी ओर चौंककर देखा और बोले—'महाराज, आप यहां क्यों आये हैं ?' राम ने उत्तर दिया—'लक्ष्मण ! मैं तुम्हारा सिंहनाद सुनकर आया हूं ।' लक्ष्मण सशंकित होकर बोले—'अकेली सीता को वन में छोड़कर आपने भयंकर भूल की है । आप शीघ्र जाकर सीता को संभालें । कोई अनिष्ट न हो जाए ।'

यह सुनकर राम के चित्त में गहरी चिन्ता उत्पन्न हो गई । वे समझ गये कि कुछ-न-कुछ प्रपंच अवश्य है । वे शीघ्रता से कदम बढ़ाते हुए आवास-स्थल पर पहुंचे । सीता को वहां न पाकर वे पागल हो उठे और उसे ढूंढते हुए ज्यों ही कुछ आगे बढ़े कि उन्हें सिसकता हुआ जटायु दिखाई दिया । जटायु के दोनों पंख कटे हुए थे । वह पूर्णतः घायल था । पापी की सारी घटना समझकर राम ने जटायु पक्षी को दी और कहा—'जटायु, तू एक प्रकार से मेरा भाई है । मैं

समझता हूं कि तू स्वामीभक्त, सच्चा सेवक है । तुझे चिन्ता करने की जरूरत नहीं है । तुने यथाशक्ति अपने कर्तव्य का पालन किया है ।' राम ने उसकी अन्तिम स्थिति देखकर उसे अपनी गोद में बैठाया । उन्होंने उसे अपने हाथों से पुनः-पुनः सहलाया और नमस्कार मंत्र सुनाया । अन्त में उसे संथारा भी करवाया । जटायु ने उसे अपने अंतस्करण से ग्रहण किया । वह संथारे में आयुष्य पूर्णकर चौथे स्वर्ग में पहुंचा ।

इधर वीर लक्ष्मण ने उन चौदह हजार विद्याधरों से घोर संग्राम किया । उस घमासान युद्ध में सर्वप्रथम खर का तीसरा भाई त्रिशिरा मारा गया, उस युद्ध की स्थिति में खर का विरोधी वीर विराध अपनी दस हजार सेना के साथ लक्ष्मण के सहयोग के लिए उनके पीछे आकर खड़ा हो गया । वीर विराध को देखते ही खर आग-बबूला हो गया । वीर विराध का पिता चन्द्रोदय पाताल लंका का राज्य करता था । खर चन्द्रोदय को मारकर ही पाताल लंका का स्वामी बना था । इस स्थिति में अवसर का लाभ उठाने के लिए और अपने पिता का बदला लेने के लिए, विराध भी लक्ष्मण के साथ आ मिला । लक्ष्मण ने जब वीर विराध को भली-बुरी सुनाते खर को देखा, तो उन्होंने एक ही बाण से खर को यमलोक पहुंचा दिया । कुछ ही समय बाद दूषण को भी मार गिराया, दूषण के गिरते ही सारी सेना एक साथ ही भाग खड़ी हुई ।

महाराज लक्ष्मण वीर विराध को साथ लेकर अपने निवास-स्थान की ओर बढ़े । उन्होंने देखा राम एक भ्रमित-चित्त आदमी की तरह इधर-उधर चक्कर लगा रहे हैं । लक्ष्मण राम के पास पहुंचे और सारी स्थिति को समझा । उन्होंने बिलखते हुए राम को धैर्य बंधाया और कहा कि महाराज आप चिन्ता न करें । हम शीघ्र ही सीता को वापस लौटा लायेंगे । जब श्रीराम कुछ शान्त हुए तो वीर विराध ने भी उनके चरणों में शीश झुकाया और अपने दुःखों की सारी कहानी सुनाई । राम ने उन्हें पाताल लंका का राज्य वापस दिलाने का वचन देकर सन्तुष्ट

किया । किन्तु ज्यों ही राम पाताल लंका का अधिकार विराध को दिलाने के लिए वहां पहुंचे, तो खर का छोटा बेटा सुन्द अपनी वाहिनी को लेकर युद्ध के लिए उपस्थित हो गया । सूर्पणखा ने जब युद्ध में राम, लक्ष्मण को वीर विराध की सहायता करते हुए देखा तो अधमरी-सी हो गई । वह शीघ्र ही रावण के पास पहुंची और अपना दुखड़ा गाने लगी । किन्तु वह तो सीता के अनुराग में पागल हो रहा था । उसने सूर्पणखा की उस दुःख से परिपूर्ण कहानी पर विशेष ध्यान नहीं दिया । रावण सीता के ध्यान में रंग-राग, खान-पान, स्नान-ध्यान सब कुछ भूल-सा गया था । उसकी सारी शारीरिक कान्ति घटती जा रही थी । वह सीता से प्रेम करने के लिए रात-दिन तड़प रहा था । इधर महासती सीता उसे किसी भी स्थिति में नहीं चाह रही थी ।

एक दिन रावण ने महासती सीता को मनाने के लिए अपनी महारानी मंदोदरी को अशोक वाटिका में भेजा । सीता एक महायोगिनी की तरह अशोक वृक्ष के नीचे बैठी-बैठी राम-राम की धुन लगा रही थी । उसका कोमलांग कुम्हला गया था । उसकी दृष्टि नीचे की ओर झुकी हुई थी । जब सीता की दृष्टि मन्दोदरी की ओर नहीं उठी तो उसने स्वयं ही अपना परिचय देते हुए कहा—'बहन, मेरा नाम मन्दोदरी है । मैं महाराज रावण की पटरानी हूं । मैं अभी-अभी उनके आदेश से तुमसे मिलने आई हूं । मैं देखती हूं, तुम्हारा भाग्य जाग उठा है । तीन खण्ड का अधीश राजा रावण तुम्हें चाह रहा है । सीते ! राजा रावण तुम्हारी इस रूप-राशि पर मुग्ध है । अतः मेरी बात मानो और परोसे गये भोजन को लात मत मारो । शीघ्र ही महाराज रावण के महलों में चलो और भौतिक सुखों का लाभ लूटो । महाराज जनक ने तुम्हें इस भिखमंगे राम के पीछे लगाकर महाभूल की है । क्या काग के गले में कभी मोतियों की माला शोभा देती है ?'

सारी बातें सुनकर महासती सीता ने क्षुब्ध होकर कहा—'जैसा रावण है, वैसी ही उसकी बहन सूर्पणखा है । दोनों एक ही मिट्टी के

घड़े हैं, लेकिन तुम सती होकर ऐसी बातें कैसे कह रही हो ? क्या हंसी हंस को छोड़कर काग के साथ रहना पसन्द करेगी ? क्या कोई भी समझदार व्यक्ति अमृत को छोड़कर विष का पान करना चाहेगा ? कहां तो गीदड़ के तुल्य रावण और कहां शेर के तुल्य राम ! मन्दोदरी ! तुम्हें इस लंपट की प्रशंसा करते शर्म नहीं आई ? पापिनी ! इस प्रकार के नीच और घृणित कार्य की दलाली करके तुम क्यों डूब रही हो ?' मन्दोदरी सीता के वचन से लज्जित हुई । वह अपने किये गये व्यवहार का पश्चाताप करती हुई जैसे आई थी वैसे ही लौट गई ।

सीता अभी पूरी शान्त भी नहीं हो पायी थी कि रावण उसके सामने आ खड़ा हुआ । रावण अपनी लाज-शर्म छोड़कर महासती सीता को विविध प्रकार से ललचाने लगा । उसने विभिन्न प्रकार के भौतिक वस्त्राभूषण और बड़े-बड़े बाग-बगीचे, प्रासाद आदि दिखलाकर उसे राजी करना चाहा, किन्तु सब व्यर्थ गये । देखते-ही-देखते सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ गया । रावण जब सीता को अनेक प्रकार के प्रलोभनों से अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका तब उसने दूसरी युक्ति सोची और कहने लगा कि देखता हूं कि यह कैसे मेरी ओर नहीं झुकती । रावण ने उसी क्षण सीता के सामने अपनी विद्या के बल पर एक भयंकर जंगल उपस्थित किया । सीता ने देखा भूत और प्रेतनियों के अनेक जोड़े अट्टहास करते हुए उसके सामने नृत्य कर रहे हैं । उस भयंकर अंधकारमयी रात में अनेकानेक भयंकर हिंसक पशु जैसे शेर, व्याघ्र, चीते, शूकर, भालू आदि दहाड़कर उसे और भी भयभीत कर रहे थे । कुछ बड़े-बड़े महाकाय अजगर अपनी जिह्वायें फैला रहे थे । मानो वे उसे जीते-जी निगल जाना चाहते हैं । किन्तु सीता इस स्थिति का मुकाबला करती हुई अडोल और निश्चल रही । रावण ने देखा कि उसके सभी प्रयोग निष्फल गए, तो अन्त में हार मानकर अपने स्थान पर लौट गया । रावण के इस अन्यायपूर्ण व्यवहार की चर्चा महाराज विभीषण के कानों तक पहुंची । महाराज विभीषण बड़े ही धर्मनिष्ठ और न्यायप्रेमी व्यक्ति थे । वे तत्काल ही महासती सीता के दर्शनार्थ अशोक वाटिका

में पहुंचे । महासती ने अपने प्रति विभीषण का सदाकर्षण देखा, तो उन्होंने रावण का समग्र व्यवहार कह सुनाया । वह विभीषण के सामने एक शेरनी की तरह दहाड़ उठी । उन्होंने कहा—'रावण ने मुझे अकेली समझकर शायद ऐसा व्यवहार किया है, किन्तु मैं अकेली नहीं हूं । आप निश्चित समझें । सत्य और शील मेरे साथी हैं । भव्य भावना और तपस्या मेरी अनन्य सहचरी है । मेरी इन आत्मीय शक्तियों का रावण कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता और न ही उन्हें वह छीन सकता है ।' विभीषण सीता की ऐसी तेजस्विता देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए । उन्होंने जाते-जाते कहा—'बहन ! आपको पता होगा कि रावण के प्रत्याखान है, कि वह पर-नारी को उसकी इच्छा के बिना स्पर्श नहीं कर सकता । अतः मेरा आपसे निवेदन है कि आप आराम से रहें । आपके मन में अगर कोई कमजोरी नहीं है, तो रावण आपका एक बाल भी बांका नहीं कर सकता । आपको किंचित् भी घबराने की आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार सीता को आश्वस्त कर महाराज विभीषण सीधे रावण के निजी कक्ष में पहुंचे और हर प्रकार से उसे भला-बुरा कहकर समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु कुबुद्धि परायण रावण ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया ।

इधर पाताल लंका से सूर्पणखा जब अपने पुत्र सुन्द को लेकर भाग गई, तो राम और लक्ष्मण वीर विराध को वहां का राजा बनाकर वहीं रहने लगे, एवं वीर विराध ने भी अपनी पुरानी राजधानी को सम्भाल लिया । वह स्थायी रूप से अब यहीं रहने लगा । महाराज राम हर समय सीता के वियोग-विरहसागर में डूबे रहने लगे ।

किष्किन्धा अधिपति सुग्रीव की पत्नी तारा बड़ी ही रूपवती थी । साहसगति नाम का विद्याधर महारानी तारा के रूप पर मुग्ध था । उसने तारा को पाने के लिए रूप–परिवर्तिनी विद्या की साधना की थी । वह हर समय ताक में रहता था । एक दिन महाराज सुग्रीव सैर के लिए बाहर निकले कि अवसर पाकर साहसगति ने सुग्रीव का रूप धारण कर सीधा महारानी तारा के महलों की ओर बढ़ा । संयोग की बात, इधर

गिरा दिया था । वह वहीं पड़ा-पड़ा भूखा-प्यासा दुख के दिन काट रहा था । महाराज सुग्रीव को आते देखकर वह भयभीत हो उठा । उसने सोचा कि रावण ने मुझे मारने के लिए इसको भेजा है । किन्तु मैं भी वानर-पति से लड़कर मरूंगा । सरलता से बानर-पति के हाथ पड़ूं ऐसा अवसर उनके हाथ नहीं आने दूंगा । यह सोचकर वह वानर-पति को आते देखकर भी लेटा ही रहा । किन्तु सुग्रीव जब उसके बिलकुल निकट आ गये तो उसकी सारी शंकाएं दूर हो गईं । वह स्थिति को शीघ्र ही ताड़ गया कि सुग्रीव रावण के भेजे हुए नहीं आये हैं, अपितु कोई दूसरा ही कारण प्रतीत होता है । उसे लेटा हुआ देखकर, सुग्रीव ने धमकाते हुए कहा—'अरे ! तुझमें इतने अभिमान की मात्रा कब से आ गई । मैं आया और तू लेटा का लेटा ही रहा ।' रत्नजटी ने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो ! आपके समक्ष अभिमान कैसा । महाराज रावण महासती सीता का अपहरण कर लिये जा रहा था । मैंने उसको ललकारा और महासती को उसके पंजे से छुड़ाने का प्रयत्न किया । किन्तु उसने मुझे घायल कर नीचे गिरा दिया, जिससे मुझे भारी चोट लगी । इसी कारण मैं आपके आने पर भी खड़ा नहीं हो सका ।' यह बात सुनते ही सुग्रीव ने उसे पकड़कर विमान के अन्दर बैठा लिया । सीता का समाचार मिलने की प्रसन्नता में वे बड़े वेग से विमान चलाते हुए राम के दरबार में पहुंचे । उन्होंने रत्नजटी की ओर निर्देश करते हुए सारी-की-सारी घटना बतलायी । भगवान् राम ने तत्काल ही रत्नजटी को उठाकर अपने गले से लगा लिया ।

महासती सीता का पता लगने के पश्चात् महाराज सुग्रीव ने वानर वीरों की एक सभा बुलाई । सभा में यह निश्चय हुआ कि सर्वप्रथम एक दूत को लंका भेजा जाये, वह दूत लंका में जाकर विभीषण को सारे समाचारों से अवगत कराये । यदि विभीषण के समझाने पर रावण सीता को वापस लौटा दे तो सारी समस्या अपने आप सुलभ हो जायेगी । अगर ऐसा नहीं हो सके, तो फिर वापस आकर वहां की सारी स्थितियों से भगवान् राम को अवगत करायें । इसके पश्चात्

आगे की कार्यवाही के विषय में सोचा जायेगा। प्रस्ताव तो पारित हो गया, किन्तु वहां जाकर वापस जीवित लौट सके, ऐसी क्षमता रखने वाला वीर कौन हो सकता है ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न था। महाराज सुग्रीव ने अपने निकट संपर्क में आने वाले सभी वीरों पर दृष्टि डाली। देखते-देखते अंजनी-पुत्र हनुमान के प्रति उनकी दृष्टि पहुंची। बस, फिर क्या था तत्काल ही अंजनी-पुत्र वीर हनुमान को बुलाया गया।

श्री पवन पुत्र वीर हनुमान भगवान् राम के चरणों में उपस्थित हुए। महाराज सुग्रीव ने उनकी वीर वृत्ति का परिचय दिया। भगवान् राम ने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा-'वीर आंजनेय ! तुम लंका में जाओ और महासती सीता के पूर्ण विश्वस्त समाचारों से हमें अवगत करो।'

हनुमान ने कहा—'प्रभो ! सीता माता को आपका क्या सन्देश दूं ?' आंजनेय के इस प्रकार पूछने पर भगवान् राम ने कहा—'हनुमान! सीता से कहना–

'अन्न तो लागंत फीको, स्वाद नहीं जलपान।
सोवतां तो नींद नावे, एक थांरो ध्यान ।।'

जाओ जानकी से कहना कि तुम्हारे विरह में अन्न तो मिट्टी की तरह फीका लगता है। अल्पाहार में भी कोई रुचि नहीं जागती है। तुम सीता से कहना कि तुम्हारे विरह में राम को रात्रि में नींद नहीं आती है और दिन में किसी भी कार्य में मन नहीं लगता है। भूख और प्यास दोनों ही कहीं देशांतर चली गई हों, ऐसा लगता है। तुम्हें अधिक क्या बतलाऊँ, उन्हें कहना कि उठते-बैठते, खाते-पीते, बोलते-चलते एक उन्हीं का ध्यान है, और उन्हें वापस लौटाने के लिए यहां बहुत बड़ी संख्या में सेना एकत्रित की गई है। उन्हें कहना कि शीघ्रातिशीघ्र रावण को शेणकर तुम्हें लौटा ले जायेंगे। देखो आंजनेय ! सम्भव है सीता तुम्हारा विश्वास न करे, अतः यह मेरी नामांकित मुद्रिका लेते जाओ।'

इस प्रकार से श्रीराम का आशीर्वाद प्राप्त कर हनुमान विमान में बैठे एवं आकाश मार्ग से उड़ चले । मार्ग में गुजरते हुए उन्होंने अनेक चामत्कारिक कार्य किये और अनेक राजाओं को सेना सहित श्रीराम के चरणों में प्रेषित किया । अन्त में श्री हनुमान लंका पहुंचे और महाराज विभीषण से मिले । बातचीत के दौरान विभीषण ने कहा—'मैं आपको क्या बताऊं ! मैंने रावण को समझाने में कोई कसर नहीं रखी । किन्तु लगता है रावण की बुद्धि को पाला मार गया है । उसे सच्ची बात हलाहल-जहर-सी लगती है, राम-भक्त विभीषण की बातचीत श्री हनुमान ने बड़े ध्यान से सुनी और उनकी अनुमति प्राप्त कर वे अशोक वाटिका में गये । रूप-परिवर्तिनी विद्या के द्वारा हनुमान ने एक वानर का रूप धारण किया और जिस अशोक वृक्ष के नीचे महासती सीता विराजित थीं, हनुमान उसी वृक्ष के पास पहुंचे । एक ऐसी शाखा पर जा बैठे जो ठीक सीता के मस्तक के ऊपर झुकी हुई थी । हनुमान ने सीता को बड़े ध्यान से देखा । वह 'श्रीराम, श्रीराम, का जाप कर रही थी । उन्होंने भगवान राम की नामांकित मुद्रिका छोड़ी । मुद्रिका ठीक महासती सीता की गोद में आकर गिरी । वे एक बार तो चौंकी, किन्तु जब ध्यान से देखा, तो पहचानकर उसे उठा लिया । उस पर श्रीराम नाम पढ़ते ही उसे अपने हृदय से लगा लिया । कुछ ही क्षणों के पश्चात् वही आनन्द एक भीषण चिन्ता के रूप में परिणत हो गया । महासती एक प्रतिकूल विचार-प्रवाह में बह चली । वह सोचने लगी कि इस मुद्रिका को देखकर मैं आनन्द विभोर हूं । किन्तु चिन्ता की बात यह है कि भगवान राम के रहते हुए यह मुद्रिका यहां कैसे आई ? उनसे छीनकर लाने की ताकत वाला तो कोई योद्धा जन्मा ही नहीं । किन्तु मैंने उन्हें युद्ध में भेजा था । पता नहीं वहां क्या स्थिति बनी होगी । सीता शंकाओं के सागर में गोते लगाने लगी और उसके रोम-रोम से पसीने का स्रोत बह चला ।

हनुमान कपि के रूप में एक ध्यान से सीता मां के चेहरे पर उतरते-चढ़ते भावों को पढ़ रहे थे । ज्यों ही पवनपुत्र ने उनके चेहरे पर

विषाद की रेखाएं देखी, वे तत्क्षण ही अपना मूल रूप धारणा कर मां सीता के सम्मुख हाथ जोड़े हुए उपस्थित हो गये और चरणों में नमस्कार करते हुए बोले—'मातेश्वरी ! मुद्रिका मैं ही लेकर आया हूं राम-लक्ष्मण दोनों भाई सकुशल एवं परमानन्द में हैं । आप किसी भी प्रकार की चिन्ता न करें । इस समय वे महाराज सुग्रीव की राजधानी किष्किन्धा नगर में विराज रहे हैं । मातेश्वरी ! अब राम और लक्ष्मण दो ही नहीं हैं । महाराज सुग्रीव, भामण्डल आदि अनेक राजे-महाराजे महाराज राम की सेवा में उपस्थित हैं । लाखों-लाखों सैन्य सुभटों का वहां जमघट लग रहा है । मेरा नाम हनुमान है । मुझे उन्होंने करुणा कर आपकी सेवा में उपस्थित होने का अवसर प्रदान किया है । मातः, अब मैं यहां अधिक ठहरना उचित नहीं समझता । कृपया आप मुझे अपनी निशानी दें, ताकि मैं समय पर पहुंचकर उन्हें आपके समाचारों से अवगत कर सकूं ।'

तब सीता ने चूड़ामणि हनुमान के हाथों में थमाते हुए कहा—'कपिवर ! राम नाम के आधार पर ही मैं जी रही हूं । जिस दिन उनके साक्षात् दर्शन होंगे, मेरे लिए वही दिन धन्य होगा ।' इस प्रकार हनुमान सीता के अमृत वचन प्राप्त कर विदा हो ही रहे थे । कि सीता की सेवा में लगी रहने वाली त्रिजटा ने कहा—'आप वहां श्रीराम को सीता के क्या समाचार सुनायेंगे ? सीता ने यहां आने के पश्चात् आज तक कुछ भी नहीं खाया है ।' ये सुनकर हनुमान ने सीताजी से पारणे के लिए आग्रह किया किन्तु सीता के मन में भय था । वे सोच रही थीं कि अगर रावण के कार्यकर्ताओं को पता लगा तो इसकी एक-एक हड्डी बिखेर देंगे । अतः उन्होंने शीघ्र ही प्रस्थान करने को कहा, किन्तु हनुमान तो जमकर ही बैठ गये ।

उन्होंने कहा—'जब तक आप पारणा नहीं करेंगी, मैं यहां से विदा होने वाला नहीं हूं ।' आखिर सीताजी को स्वीकृत देनी पड़ी । हनुमान तत्काल ही उद्यान से फल तोड़कर लाये, एवं सीता माता को पारणा करवाया । विदा होने लगे तो माता से बोले—'अगर आपकी आज्ञा हो

तो मैं भी कुछ जलपान कर लूं ।' सीता ने कहा—'देखो ! यहां के राक्षस बड़े ही क्रूर हैं । तुम यहां पर किसी भी प्रकार की गड़बड़ मत करना और जो फल पककर नीचे गिर चुके हों उनसे ही अपना काम चला लेना । किसी भी वृक्ष के ऊपर चढ़ने का प्रयत्न मत करना ।'

हनुमान ने जैसे ही उस उद्यान की छटा देखी विचार बदल गये । वे सोचने लगे रावण बड़ा अधर्मी है । ऐसे पापी के यहां ऐसे उद्यान का क्या काम ? हनुमान ने वहां खड़े-खड़े ही विद्या के योग से वानरों का दल उपस्थित कर दिया । देखते ही देखते सारा देव-रमण-उद्यान वानरों से घिर गया । उन वानरों ने प्रायः वृक्षों को उखाड़-उखाड़ कर तने ऊपर की ओर कर दिये और फल-फूलों वाले भाग जमीन की ओर कर दिये । इस प्रकार से हनुमान ने उस देव-रमण-उद्यान को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । तब बेचारा माली रोता हुआ रावण के पास पहुंचा और सारी स्थिति उसके सम्मुख रखी । रावण ने अपने पुत्र इन्द्रजीत को भेजा । दोनों में कुछ देर तक युद्ध चला । अन्त में इन्द्रजीत ने हनुमान को नाग-पाश बंधन में बांधकर रावण के दरबार में उपस्थित किया । रावण ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—'दुष्ट वानर ! तुझे ये उत्पात कैसे सूझा ?' श्री हनुमान ने जब अपने को राम का दूत बतालया तो रावण ने हंसकर कहा—'अरे मूर्ख ! उसका साथ देने से तुम्हें क्या मिलने वाला है ?' 'तुम्हारे जैसे व्यभिचारी और पापी व्यक्तियों की संगति करना हम घोर पाप समझते हैं ।' हनुमान ने उत्तर दिया । 'अतएव तुमसे सम्बन्ध तोड़कर अयोध्यापति श्रीराम से हमने सम्बन्ध जोड़ा है । हम अब श्रीराम की शरण में हैं । दुराचारी रावण अब तेरे मौत के दिन निकट आ गये हैं, ऐसा लगता है ।'

रावण इस प्रकार हनुमान के मुख से अपनी निन्दा सुनकर जल उठा । उसने कहा—'वाचाल वानर ! नागपाश में बंधा हुआ है, फिर भी चुप नहीं रहता । मैं देखता हूं तुम दुश्मन की प्रशंसा कर बेमौत मरना चाहते हो । चुप रह अन्यथा तेरा काला मुंह कर गधे की सवारी कराकर लंका के प्रमुख बाजारों मे घुमाकर इज्जत मिट्टी में मिला दी

जायेगी ।' भला हनुमान जैसे व्यक्ति इस प्रकार की बात सुनकर कैसे धैर्य रख सकते थे । वे एक ही झटके में नागपाश बन्धन को एक कच्चे धागे की तरह तोड़कर आकाश में उड़ गये और उसी क्षण बिजली की तरह कड़कड़ाहट करते नीचे आये और रावण के सिर पर जोर से लात का प्रहार कर उन्होंने किष्किन्धा की ओर प्रस्थान कर दिया । बेचारा रावण 'पकड़ो-पकड़ो, इस दुष्ट बन्दर का पकड़ो' इस प्रकार चिल्लाता ही रह गया । रावण के सभी बड़े-बड़े पदाधिकारी भी मुंह बाये देखते ही रह गये ।

हनुमान ने जो कार्यभार लिया था, उसमें पूर्ण सफलता मिली । वे बड़े उत्साह के साथ किष्किन्धा में राम की परिषद में पहुंचे और चूड़ामणि उनके सामने रख दी । राम ने चूड़ामणि को पहचानते हुए कहा—

'अरे ! हनु ! तुम जानत हो, कसे जानकी है किनकी छिति मांही हे ।
प्रभु लंक कलंक बिना, उस रावण के तरु की परछांही ॥
अरे ! जीवित है, कहि वे कोहि राम ते, क्यों न मुई हमतें बिछराई ।
प्राण बसे पद पंकज में, यम आवत है पर पावत नांही ॥

'भगवान् ! मैं वहां पहुंचकर महाराज विभीषण से मिला । साधारण बातचीत के पश्चात् कुछ जानकारी प्राप्त कर मैं रावण के देव-रमण-उद्यान में पहुंचा । वहां अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई सीता को देखा । आपके वियोग में उन्होंने खाना-पीना तक त्याग रखा है । मुझसे समाचार प्राप्त कर मेरे बहुत अनुनय करने पर उन्होंने अन्न-जल ग्रहण किया । वे वहां अत्यन्त कष्टपूर्ण जीवन बिताती हुई आपके नाम का जाप करती रहती हैं, यदि अधिक विलम्ब हुआ, तो माताजी प्राणविसर्जन कर देगीं । अतः शीघ्र ही लंका में पहुंचना चाहिए ।' राम और लक्ष्मण ने सीता के समाचारों को बड़े ध्यान से सुना, उन्होंने हनुमान के लंका जाने के पश्चात् पर्याप्त बल जुटा लिया था । हनुमान ने भी कई स्थानों से राम के पास सेना भेजी थी । इस प्रकार एक

विशाल वाहिनी के साथ राम ने लंका की ओर प्रस्थान किया । राम आगे बढ़ते हुए समुद्र के किनारे पहुंचे । राम के सैनिकों ने समुद्र को पार करने के लिए एक सेतु बनाया और लंका में पहुंचे ।

भक्त विभीषण ने जब ये बात सुनी तो वे अत्यंत चिंतित हो उठे और रावण के पास पहुंचे । उन्होंने वस्तुस्थिति बताते हुए महासती सीता को वापस लौटाने की सलाह दी । विभीषण की सलाह से क्रुद्ध होकर रावण ने उसे अपमानित कर सभा-भवन से निकाल दिया । दुःखी विभीषण अपने परिवार के साथ श्रीराम की शरण में पहुचा । राम ने बड़े स्नेह से विभीषण को सपरिवार अपना लिया । राम के सैन्य दल का पड़ाव बीस योजन क्षेत्र में था । रावण की सेना का पड़ाव पचास योजन क्षेत्र में था । दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध छिड़ गया । दोनों ओर के अनेक सुभट काम आये, फिर भी युद्ध प्रतिदिन अधिकाधिक भयावह होता जा रहा था । रावण की सेना में कुंभकरण और इन्द्रजीत दोनों ही चुने हुए वीर थे । परन्तु वे राम के सैनिकों द्वारा पराजित हुए । सैनिकों ने उन दोनों को बांधकर डाल दिया । यह सुनकर रावण क्रुद्ध होकर युद्ध के मैदान में उतरा । उसने भयंकर युद्ध करते हुए लक्ष्मण पर शक्ति बाण का प्रहार किया, जिससे वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े । यह देखकर राम आवेश में आ गये । उन्होंने रावण को युद्ध के लिए ललकारा । किन्तु रावण उस समय विजय प्राप्त था । वह युद्ध के लिए राम के सम्मुख नहीं हुआ । राम भाई के दुःख से दुःखित थे । उन्होंने पीछे से रावण के रथ को तोड़ डाला । रावण ने दूसरा रथ बदला, उसे भी तोड़ डाला । तीसरे और चौथे रथ को भी उन्होंने बात की बात में तोड़ डाला । कहते हैं कि भगवान् राम ने उस समय रावण के सात रथों को तोड़कर चूर-चूर कर डाला । राम उस समय आवेश में थे । रावण ने उनका सामना करना उचित नहीं समझा और वह युद्ध-भुमि को छोड़कर लंका में प्रवेश कर गया ।

इधर मूर्च्छित लक्ष्मण को देखकर विभीषण सुग्रीव आदि बड़े दुखी । संयोगवश किसी के द्वारा उन्हें यह पता चला कि द्रोणमेघ राजा की

पुत्री विशल्या के स्नानोदक के स्पर्श से लक्ष्मण की मूर्च्छा भंग हो सकती है। तब अंगद आदि सुभट अनेक राजकुमारियों के साथ विशल्या को रातों-रात उठाकर लंका में ले आये। विशल्या के स्नानोदक से लक्ष्मण सचेत हो गये। राम की सेना में हर्ष की लहर छा गयी। परन्तु रावण ये समाचार सुनकर अत्यंत दुखी एवं उदास हो गया। उसका हृदय भावी अनिष्ट की शंका और भय से मुरझा गया। फिर भी सीता के प्रति उसका मोह घटने के स्थान पर बढ़ता ही जा रहा था। उसने सीता को धमकाने के लिए बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की और सीता के पास जाकर बोला—'सीते! तुम मेरा कहना मान लो अन्यथा मैं बहुरूपिणी विद्या से अनेक रूप धारण कर राम-लक्ष्मण को मारकर बलपूर्वक तुम्हारा शील भंग कर दूंगा।' सीता पर रावण के शब्दों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह बोली—'यदि राम और लक्ष्मण तुम्हारे द्वारा मार दिये गये, तो मैं भी चारों आहारों का त्याग करती हुई प्राण विसर्जन कर दूंगी।'

सीता के शुद्ध एवं तेजोमय वचन सुनकर रावण का हृदय एक बार तो द्रवित हुआ परन्तु पुनः उसकी दुर्बुद्धि ने उसके सद्-विचारों को दबा दिया जिससे वह सीता के प्रति आसक्ति भाव को न त्याग सका।

रावण पुनः राम-लक्ष्मण के साथ युद्ध में रत हो गया। उसकी बहुरूपिणी विद्या काम नहीं आयी। वीर लक्ष्मण ने दिव्य चक्र से काम तमाम कर दिया। तब देवताओं ने दुंदुभि बजायी और राम-विजय के गीत गाये। तत्पश्चात् अपनी सती साध्वी पत्नी सीता को लेकर पुष्पक विमान के द्वारा अयोध्या लौट आये। राम-लक्ष्मण और सीता ने माता के चरणों में प्रणाम किया। भाई भरत से बड़े प्यार से मिले। अयोध्या में आनन्द का वातावरण छा गया। भरत ने राम को राज्य सौंप दिया और अपनी माता कैकेयी के साथ जैन भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। इधर शुभ मुहूर्त में राम का राज्याभिषेक हुआ। राम को अष्टम बलदेव और महाराज लक्ष्मण को अष्टम वासुदेव के पद से अलंकृत किया गया। वासुदेव इस धरती के छः खंडों में से तीन खंड के अधिपति बनते

हैं । राम-राज्य में प्रजा बड़ी सुखी थी । प्रजा के प्रति किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं था । सभी को समान सुख-सुविधाएं प्राप्त थीं भाइयों में भी बड़ा प्रेम था । श्रीराम के आठ हजार रानियां थी, जिसमें सीता प्रमुख थी । लक्ष्मण के सोलह हजार रानियां थीं, जिसमें विशल्या प्रमुख थी । इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण का जीवन रानियों सहित बड़े आनन्द से बीत रहा था ।

राम के अन्तःपुर में महासती सीता को सबसे अधिक सम्मान प्राप्त था । वे भी अन्तःपुर की सभी रानियों के साथ अपनी सगी बहनों जैसा व्यवहार रखती थीं । परन्तु सौतिया डाह के कारण सौतें महासती सीता से अकारण ही द्वेष-भावना रखती थीं ।

एक बार सीता ने स्वप्न में अष्टापद का जोड़ा देखा । वह इस स्वप्न का आशय न समझ सकने के कारण आश्चर्य अनुभव कर रही थी । कुछ दिन पश्चात् सीता ने गर्भ धारण किया । श्रीराम अब सीता के प्रति और अधिक प्रेमाकृष्ट रहने लगे । सीता की सौतों को यह असहनीय था । इसलिए वे सीता को राम की दृष्टि से गिराने का उपाय ढूंढ़ रही थीं । सबने मिलकर एक षडयन्त्र रचा । महासती सीता से आदेश प्राप्त कर एक संगोष्ठी आयोजित की । संगोष्ठी में एक सौत ने विनम्रता से एक प्रसंग चलाया और कहा—'बहन सीते ! तुमने तो वनवास के समय अनेक पहाड़, गुफाएं, जंगल आदि देखे हैं, तुम बड़ी सौभाग्यशालिनी हो !' दूसरी ने कहा—'अरे ! बहन ने तो लंका भी देखी है ।' तीसरी ने कहा—'लंका देखी है तो लंकापति रावण को भी देखा होगा ।' चौथी बोली—'लंकापति रावण ही तो इन्हें ले गया था, फिर नहीं देखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता ।' पांचवी ने कहा—'अरी बहनों ! रावण के विषय में तो सुना जाता है कि वह एक बड़ा तेजस्वी और प्रतापी राजा था ।' रावण की चर्चा प्रसंग में एक ने कहा—'बहन सीते ! तुम्हें हम सबके लिए रावण का चित्र बनाकर दिखलाना होगा । तुम्हारे लिए यह कार्य कोई कठिन नहीं है, क्योंकि छः महीनों तक तुम

लंका में निवास कर चुकी हो । इस अवधि में न जाने कितनी बार रावण को देखा होगा ।' सीता ने सरल भाव से उत्तर दिया—' जिसे मैंने देखा ही नहीं उसे मैं किस प्रकार पन्ने पर अंकित कर सकती हूं ।' मैंने रावण के पैरों का भाग अवश्य देखा है, उनका चित्र मैं बना सकती हूं ।' बस फिर क्या था ! सीता की सभी सौतों ने उसके चारों ओर घेरा डाल दिया और कहने लगीं—'बहन सीते ! हम उसके पैरों से ही उसकी समस्त आकृति का अनुमान लगा लेंगी ।' तब सीता ने कलम के द्वारा रावण के पैरों की आकृति अंकन कर अपनी सौतों को दिखलायी । सभी ने सीता की चित्रकला की प्रशंसा की तथा पद-चित्र की कई प्रतियां बनवायीं और अपने-अपने शयन-कक्षों में लगा दी ।

राम ने उन सबके शयन-कक्षों में रावण के पैरों वाले चित्रों को देखा । पूछने पर सीता की सौतों ने कहा—'पटरानी महासती सीता का बनाया हुआ, रावण के पैरों का यह चित्र है । वह निरन्तर रावण के पैरों की इस तरह पूजा करके फिर भोजन करती हैं । आपकी पटरानी के हृदय में आज भी रावण का स्थान है ।'

महाराज राम सीता को पवित्र दृष्टि से देखते थे । उन्हें सीता का पुर्ण विश्वास था । सौतों के षड्यंत्र का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । अपनी कपट योजना विफल होते देख सौतों ने अयोध्या नगर में उस चित्र की प्रतियां वितरित करवायी तथा उन्होंने सीता के विषय में इतना अपवाद फैलाया कि बच्चे-बच्चे के मुंह से वह सुना जा सकता था । अयोध्या शहर का सारा वातावरण दूषित हो गया । राम के कानों में भी यह बात पहुंचाई गई, किन्तु राम ने फिर भी विश्वास नहीं किया । राम ने कुछ अपने विश्वस्त आदमियों को जानकारी के लिए नगर में भेजा, परन्तु मूल सूत्र का उन्हें पता नहीं लगा । अन्त में वे स्वयं वेश बदलकर अयोध्या की गलियों, कूचों और मुहल्लों में सीता के सम्बध में फैले हुए अपवाद की जानकारी करने के लिए निकले । अनेक लोगों की बातें सुनते हुए वे नगर के धोबियों के मुहल्ले में पहुंचे । एक धोबिन अपने पति से कपाट खोलने के लिए उतावल कर

रही थी, जबकि धोबी उसकी बात पर ध्यान ही नहीं दे रहा था। धोबिन कह रही थी, 'दरवाजा खोल दो, मैं इतनी रात गये बाहर खड़ी हूं। मुझे भय लग रहा है। जल्दी से दरवाजा खोलो।' धोबी ने उत्तर दिया— 'दुष्टे! इतनी रात गये तू कहां थी? मुझे पता है रात के बारह बज रहे हैं। पहले इसका उत्तर दे, तभी द्वार खोलूंगा।' धोबिन ने कहा— 'चुप! खबरदार! अगर अंट-संट बोला। क्या हो गया कुछ देर मन बहला आई तो?' महाराज राम के घर वाली महासती कहलती है, वह महासती सीता भी तो रावण के घर छः महीनों तक रहकर आई है।

धोबी ने कहा—'कुलटे! तू सीता का उदाहरण देती है। इस भरोसे भूल मत जाना। अगर घर में पैर रख दिये तो सिर फोड़ डालूंगा। मैं उस राम की तरह सत्वहीन नहीं हूं, जो घर में रख लूं। जा जहां से आई है वहीं जाकर रह।'

राम ने धोबिन और धोबी की चर्चा सुनकर दांतों तले अंगुली दबा ली। इस बात का उनके हृदय पर बुरा असर पड़ा। वे वज्राहत-से हो गये और आगे नहीं बढ़े। वहीं से अपने प्रासादों की ओर लौट आये। किसी के सामने बात नहीं की। चुपचाप अपनी शय्या पर सो गये। परन्तु उन्हें नींद नहीं आई। सवेरा होते-होते ही उन्होंने कृतान्तमुख सेनापति को बुलाया और उसे सीता के लिए कहा—'सेनापति! जाओ, सीता को ले जाओ और उसे किसी भयंकर जंगल में छोड़ आओ। जहां मनुष्य मात्र के दर्शन तक न हों, ऐसी स्थिति में वह किसी न किसी हिंसक प्राणी की शिकार होकर मर जायेगी।'

समाचार पाकर लक्ष्मण और सुग्रीव राम से मिले। उन्होंने महाराज राम से ऐसा न करने के लिए बहुत अनुनय किया, किन्तु राम ने किसी की भी नहीं सुनी। विचित्र है कर्मों की गति! जिस सीता के लिए लाखों-लाखों सुभटों को बलि चढ़ाकर रावण को मौत के घाट उतारा, जिस सीता के वियोग में राम ने अपनी आंखों से सावन-भादों की-सी आंसुओं की झड़ी लगायी, जिसके वियोग में हार्दिक वेदना का अनुभव

किया, उसी सीता को आज घर से निकाल रहे हैं । नहीं-नहीं, घर से नहीं, अयोध्या से निकाल ही नहीं, उन्हें मौत के मुंह में धकेल रहे हैं ।

कृतान्तमुख सेनापति ने दुखी होकर सोचा, मैं आज पराधीन हूं अतएव इस प्रकार का यह क्रूर कार्य मुझे करना पड़ रहा है । वह सीता माता के पास आकर कहने लगा—'माताजी ! आप तैयारी कर शीघ्र ही रथ पर बैठें, पीछे से भगवान् राम भी पधार रहे हैं ।' राम का नाम सुना कि सीता तत्काल रथ पर आ बैठी । कृतान्तमुख सेनापति ने रथ को पवन वेग से हांककर शीघ्र ही सिंहनिनाद अटवी में ला खड़ा किया । सीता ने उस भयंकर अटवी की ओर निहारा और सेनापति से कहा—'हम यहाँ कहाँ आ गये ? यह तो बड़ा भयंकर स्थान है, क्या भगवान् राम नहीं आये ?' यह सुनकर सेनापती रथ से नीचे उतरा और अपनी आंखों से आंसू बहाता हुआ हाथ जोड़कर कहने लगा—'मातेश्वरी ! भगवान राम ने लोक-निन्दा के भय से पीड़ित होकर आज आपका परित्याग किया है । मैं उन्हीं के आदेश से आपको यहां छोड़ने के लिए आया हूं । माता, मेरे मुंह से ये शब्द निकल रहे हैं । मुझे धिक्कार है ।'

यह सुनते ही सीता बेहोश होकर गिर पड़ी । कृतान्तमुख सेनापति ने ज्योंही देखा, वह माता को मृत समझकर एक बच्चे की तरह जोर-जोर से रोने लगा । जंगल की ठंडी हवा लगने पर सीता सचेत हुई और धैर्य का आलम्बन ले सेनापति से कहने लगी—'भाई ! यह क्या घटित हो गया । मैं तो कुछ और ही कल्पना कर रही थी । पुत्रों का जन्म होगा, शहनाइयां बजेंगी, बधाइयां बंटेंगी । आंगन में स्वजन मिलेंगे, मंगल गीत गाने का अवसर मिलेगा । मुझे राम जैसे पति मिले हैं और लक्ष्मण जैसे देवर प्राप्त हैं । सारा परिवार मुझे पूज्य की दृष्टि से देखता है, तीन खण्ड की महारानी हूं । मेरे घर में किस चीज की कमी है । अंजुली भर-भरकर उछालूं तो भी कोई कमी आने वाली नहीं है । खर्च करने का अति उत्तम अवसर आ रहा है । दिल भर कर दान दूंगी

लोगों के हृदय पीड़ा से कराह उठे । नेत्रों में आंसुओं की धारा बह चली । वज्रजंघ ने सारा वृत्तान्त सुनकर कहा – 'प्यारी बहन ! तुम्हारे लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं है । अच्छा हो, तुम मेरे साथ घर चलो । तुम मेरी धर्म की बहन हो । किसी प्रकार का संकोच मत करो । आओ, इस रथ पर सवार होकर घर चलें ।' सीता पुण्डरीकपुर में अपने धर्म भाई वज्रजंघ के घर पर पहुंच गई । राम के विरह को भुलाकर सीता अब अपने गर्भ की सुरक्षा में जुट गई । वह समय–समय पर पोषध-सामायिक आदि भी करती रहती थी । नमस्कार मंत्र की माला और कुछ स्मरण-भजन करना उसके लिए अनिवार्य-सा था ।

इधर भारी दिल को लेकर कृतान्तमुख सेनापति भी अयोध्या पहुंचा । श्रीराम को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया । राम ने पूछा—'सीता को कहां छोड़ा ?' उसने अपने रुंधे कण्ठ से कहा—'स्वामिन् ! मैं माताजी को लेकर सिंहनिनाद अटवी में पहुंचा ओर रथ को ठहरा कर उनके सम्मुख खड़ा हो गया । मां ने कहा—'सेनापति हम कहां आ गए ? क्या स्वामी नहीं पधारे ?' प्रश्नो यह शब्द सुनते ही मेरी आंखें भर आयीं और मैं रोने लगा । मेरे मुंह से शब्द नहीं निकल रहे थे । आखिर मैंने अपने मन को दृढ़ किया और आपका आदेश बतलाया । सुनते ही कोमल-हृदय माता रथ से नीचे गिर पड़ीं और मूर्च्छित हो गयीं । होश आने पर कहने लगीं—'सेनापते तुम श्रीराम से कहना कि लोगों के बहकावे में आकर जैसे मुझे त्यागा है वैसे कहीं जैन धर्म को न त्याग देना ।' इस प्रकार कृतान्तमुख सेनापति के मुंह से सीता के समाचार सुनते हुए श्रीराम अत्यंत दुःखी हुए । वे सीता के शोक में विह्वल हो उठे । उनके दोनों नेत्र श्रावण-भादों की तरह बरसने लगे । वे लक्ष्मण, सुग्रीव और कृतान्तमुख सेनापति को साथ लेकर वहां पहुंचे, जहां सीता को छोड़ गया था, किन्तु अब सीता कहा ! पहाड़ों की घाटियों और गहरी वन वीथियों को राम ने एक-एक कर देखा, किन्तु कहीं पर भी सीता के पैरों के निशान नहीं मिले ।

राम आखिर सीता को किसी हिंसक पशु के हाथ लगी समझकर अपने साथियों के साथ रोते-बिलखते अयोध्या लौट आये, और उदासीन वृत्ति से रहने लगे। महासती सीता की जिन सौतों ने चाल खेलकर जो कलंकारोपण किया था, वे भी अब पश्चात्ताप कर रही थीं। श्रीराम को सीता की अनुपस्थिति में भी अपनी ओर आकृष्ट न देखकर उन्हें अपने किये पर बड़ा ही दुःख हो रहा था।

इधर महासती सीता अपने धर्म भाई महाराज वज्रजंघ के घर पर रहती हुई सुचारु रूप से गर्भ की रक्षा कर रही थीं। नौ महीने व्यतीत होने पर उन्होंने राम के ही समान तेजस्वी दो पुत्रों को जन्म दिया। महाराज वज्रजंघ ने नामकरणोत्सव पर लोगों को महादान देकर अपनी कामना पूर्ण की। बड़े पुत्र का नाम अनघलवण और छोटे का नाम मदनांकुश रखा। अन्य रामायणों में इनके नाम लव और कुश देखने को मिलते हैं। महासती सीता के मन में जो हर्ष उमड़ रहा था, उसका कोई पार नहीं था। वह हर प्रकार से अपने पुत्रों को देखकर फूली नहीं समा रही थी। महासती सीता को दोनों पुत्र परिपुष्ट होकर बढ़ते जा रहे थे। सीता अपने लाड़ले कुमारों को हर समय सुसंस्कारी बनने की प्रेरणा देती रहती थी। अष्टांग निमित्त वेत्ता अणुव्रती सिद्धार्थ ने सीता की प्रार्थना स्वीकार कर दोनों कुमारों को बेहत्तर कलाओं का ज्ञान देकर उन्हें पूर्ण निपुण बनाया।

दोनों कुमारों ने युवावस्था में प्रवेश किया। महाराज वज्रजंघ को दोनों कुमारों के विवाह की चिन्ता हुई। उन्होंने अनघलवण के लिए एक चिन्तन किया और अपनी कन्या शशिचूला तथा अनेक अन्य राजाओं की कन्याओं के साथ उसका विवाह सम्पन्न कर दिया। मदनांकुश के लिए महाराज पृथु की कन्या कंचनमाला उपयुक्त समझी गई, किन्तु महाराज पृथु ने अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा कि जिनके कुल और वंश अज्ञात हों उन्हें मैं अपनी लाडली लड़की कैसे सौंप सकता हूं? महाराज वज्रजंघ ने अपना अपमान समझा और तत्काल ही महाराज पृथु की सीमा पर रणतूर बजाने का आदेश दे

दिया । दोनों ओर की सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ एवं महाराज वज्रजंघ को उस युद्ध में वन्दी बना लिया गया । लवणांकुश भला ऐसी स्थिति में शांत कैसे बैठे रह सकते थे । दोनों भाई युद्ध क्षेत्र में पहुंचे और पृथु की सेना को खदेडं दिया । महाराज पृथु ने अपनी हार स्वीकार कर अंकुश के साथ अपनी लाडली का पाणिग्रहण का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और वज्रजंघ को मुक्त कर दिया । बस फिर क्या था ? सारी सेना बरातियों के रूप में परिवर्तित हो गई और अंकुश का विवाह कंचनमाला के साथ अत्यन्त आनन्दोल्लास के साथ हो गया । ललनाओं ने मंगल गीत गये । लोगों ने चारों और बाधईयां बांटीं । महाराज पृथु का नगर विशाल उत्सव आयोजन का स्थल बन गया, संयोग से महर्षि नारद वहां उपस्थित हो गये । लवणांकुश ने प्रणाम कर उनके चरण छुए । महर्षि नारद ने दोनों कुमारों को हृदय से लगा लिया । यह देखकर चारों ओर लोगों में एक प्रकार की फुसफुसाहट होने लगी । महर्षि नारद को यह समझने में देर न लगी कि इन्होंने अंकुश को अपनी पुत्री तो सौंप दी, किन्तु अंकुश के वंश के विषय में संशय का भूत वैसे ही खड़ा है ! उन्होंने संशय मिटाते हुए कहा –'ये दोनों कुमार भगवान् राम के राजकुमार एवं महासती सीता के सुपुत्र हैं ।' यह सुनकर सबके हृदय कमल की तरह खिल उठे । वातावरण प्रसन्नतामय तो था ही साथ ही ये युवक महाराज राम के पुत्र हैं, यह सुनकर सबके मन-मयूर नाच उठे ।'

तब महर्षि नारद से प्रश्न करते हुए लवणांकुश ने कहा— 'पूज्य महर्षि ! इस प्रकार प्रसव-काल में पूज्य पिताजी के द्वारा माताजी को अकेली सिंह निनाद अटवी में छुड़वाना, आपको कैसा लगा ? महर्षि ने उत्तर देते हुए कहा—'वत्स यह तो बहुत ही बुरा हुआ, किन्तु इन महापुरुषों को कहे कोन, जो कुछ कर देते हैं, वही ठीक मान लिया जाता है ।

लवणांकुश ने कह—'मुनिप्रवर ! आवेश ऐसा आ रहा है, कि भगवन् राम को बतलाये कि असती के उदर से पैदा हुए पुत्र कैसे होते

हैं ? भगवन् ! कृपया बतलाइये तो सही वह अयोध्या यहां से कितनी दूर है ?' मुनि ने स्मित हास्य बिखेरते हुए कहा—'वत्स ! अयोध्या यहां से एक सौ आठ योजन है । परन्तु तुम लोगों के लिए यह कोई दूर वाली बात नहीं है ।' दोनों राजकुमारों ने कहा—'तब तो विलम्ब करना व्यर्थ है ।' निर्णय लेकर दोनों सीता-पुत्रों ने अपने-अपने स्वसुरों की सेनाओं के साथ अयोध्या पर चढ़ाई कर दी । जब सीता ने जिज्ञासा प्रकट की तो पुत्र बोले—'हम पिताजी और चाचाजी से युद्ध-क्षेत्र में मिलने जा रहे हैं ।' यह सुनकर सीता चौंक उठी और समझाती हुई बोल—'नहीं-नहीं, बेटे ! ऐसा नहीं किया करते । श्रीराम तुम्हारे पिता हैं । लक्ष्मण तुम्हारे चाचा हैं । उनसे युद्ध करने वाली बात मुझे अच्छी नहीं लग रही है, यह अनुचित है ।

'तुम्हें पूरी जानकारी नहीं है । तुम्हारे पिताश्री और लक्ष्मणजी के सामने तीन खंड का राज्य करने वाला बेचारा रावण भी नहीं टिक सका, तो फिर तुम्हारी क्या विसात है ।' पुत्रों ने विनम्रता से निवेदन किया—'माता ! हमें रोको मत, इससे अच्छा ही परिणाम निकलेगा । आपका सतीत्व निखरकर उभरेगा ।' इस प्रकार कहकर उन्होंने रणभेरी बजवायी और युद्ध के लिए प्रयाण कर दिया । अन्यत्र कहीं पड़ाव न डालते हुए वे सीधे अयोध्या की सीमा पर पहुंचे । अचानक रणभेरी सुनकर अयोध्या के राजप्रासादों में एक प्रकार की हलचल मच गयी । राम का आदेश पाकर कृतान्तमुख सेनापति कुछ सेना के साथ युद्ध में उतरा । बड़ी तीव्र गति से युद्ध प्रारंभ हुआ, किन्तु लव-कुश के अचूक निशानों के सामने कृतान्त सेनापति नहीं टिक पाया और इस बात का पता जब राम-लक्ष्मण को लगा तो वे स्वयं तत्क्षण युद्ध भूमि में आ खड़े हुए । उनके साथ सुग्रीव, हनुमान और महाराज विभीषण भी उस युद्ध-भूमि में प्रस्तुत हुए ।

इधर महर्षि नारद ने सोचा कोई अनर्थ न हो जाये । अतः वे सीधे महाराज भामण्डल के पास पहुंचे और सीता के मिल जाने की बधाई दी, भामण्डल ने तत्क्षण ही अपना विमान संभाला और पुण्डरीकपुर में आकर अपनी प्यारी बहन सीता से मिले । उन्होंने बहन से सुख-दुःख

की बातें पूछी । महासती ने कहा—'भाई ! किसी का दोष नहीं, मेरे कर्मों का ही दोष है । मेरे पतिदेव का दोष मैं नहीं मानती हूं । परन्तु एक चिन्ता का विषय अवश्य बन गया है । तुम्हारे भानजे, राम और लक्ष्मण से युद्ध करने के लिए अयोध्या गये हैं ।' भामण्डल ने कहा—'यह तो अच्छा नहीं हुआ । तुम्हें उनको रोकना चाहिए था । तुम जल्दी करो, मेरे साथ विमान में बैठो । हम अयोध्या पहुंचकर उन्हें समझायें और राम-लक्ष्मण के रोष को भी शान्त करें । इससे पहले की कोई अप्रिय घटना न घट जाये ।'

भामण्डल और सीता दोनों बहन-भाई विमान द्वारा अयोध्या पहुंचे । उन्होंने संकेत से लवणांकुश को बुलाया । पुत्रों ने महासती सीता के चरणों में प्रणाम किया । सीता ने भामण्डल का परिचय देते हुए कहा—'मेरे प्यारे पुत्रों ! ये मेरे ज्येष्ठ भ्राता भामण्डल हैं । ये तुम्हारे सगे मामा हैं ।' दोनों भाईयों ने भामण्डल के चरणों में नमस्कार किया । भामण्डल ने उन्हें समझाते हुए युद्ध न करने की सलाह दी, किन्तु लवणांकुश दोनों भाई अपने निश्चय पर डटे रहे । वे दोनों ही भूमि में आ डटे । उनके साथ भामण्डल भी गये । वे लवणांकुश की ओर से लड़ने लगे । लवणांकुश के बाणों की प्रहारों से राम की सेना में भगदड़ मच गई । ऐसी स्थिति में विभीषण, सुग्रीवादि बड़े-बड़े योद्धा सामने आये । उन्होंने दौड़ती हुई सेना को स्थिर करने का प्रयत्न किया । आश्चर्यचकित सुग्रीवादि ने भामण्डल से कहा—'क्यों, क्या बात है ? भामण्डल ! आप शत्रु पक्ष की ओर से क्यों लड़ रहे हैं ?' भामण्डल ने कहा—'मैं तो जिधर था उधर ही हूं ।' सुग्रीवादि नरेशों ने कहा—'कैसे ?' उन्होंने कहा—'बहन सीता की तरफ पहले भी था और अब भी उसकी ओर हूं ।' सुग्रीवादि नरेशों ने कहा—'क्या राम और सीता दो हैं ?' भामण्डल ने कहा—'हां, जब से राम ने सीता को त्यागा, उसी दिन से वे दो हैं ।'

सुग्रीवादि नरेशों ने कहा—'भामण्डल आखिर बात क्या है ? ये दोनों वीर बालक कौन हैं ?' भामण्डल ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा—'ये

दोनों बालक सीता के उदर से उत्पन्न, श्रीराम के सुपुत्र हैं, लवण और अंकुश के नाम से विख्यात हैं।' सुग्रीव आदि नरेशों ने कहा—'क्या सीता संसार में हैं?' भामण्डल ने सारा रहस्य खोल दिया और कहा कि इन दोनों राजकुमारों को मैंने बहुत समझाया किन्तु ये तो मानते ही नहीं हैं, भेद खुल जाने के बाद सभी बड़े-बड़े नरेश महासती सीता की सेवा में उपस्थित होने लगे। एक-एक कर सभी महारथी खिसक गये। इधर राम की सेना में पुनः भगदड़ प्रारम्भ हो गई।

यह दशा देखकर श्रीराम और लक्ष्मण लवणांकुश से युद्ध करने लगे, किन्तु शत्रुओं के प्रति जो रोष जागना चाहिए वह उनके मन में चेष्टा करने पर भी नहीं जाग रहा था। अपितु करुणा की भावना बलात् उमड़ रही थी, हृदय मानो कह रहा था, इनसे प्यार करें और युद्ध को स्थगित करें। जब युद्ध करते-करते निकट पहुंचे तो राम ने पूछा—'हे बालकों! तुम कौन हो? तुम्हारे माता-पिता कौन हैं?' लवणांकुश ने कहा—'क्या कोई संबंध करना है, जो हमारा परिचय पूछ रहे हैं। यह कोई घर नहीं है, यह युद्ध-भूमि है। हमने तो सुन रखा है कि आपने लंका के महाराज रावण को यमलोक पहुंचाया है। महाराज! हम तो बच्चे हैं। आपसे युद्ध करने का कौशल प्राप्त करने आये हैं। हम चाहते हैं कि जिस शैली से आप महाराज रावण से लड़े हैं उसी शैली से हमसे युद्ध करें ताकि हम भी कुछ युद्ध कला की पैंतरेबाजियों से अवगत हो सकें।' यह सुनकर श्रीराम लक्ष्मण को भी कुछ जोश आया और उन्होंने अपने दिव्य शस्त्रों का उन पर प्रयोग किया, किन्तु सब निष्फल। इतने में ही अंकुश ने जोश में आकर लक्ष्मण पर ,एक बाण चलाया, जिसकी वेदना से लक्ष्मण मूर्छित होकर धड़ाम से जमीन पर जा गिरे। यह एक विशेष बात थी। साधारण व्यक्ति के बाण से वासुदेव का मूर्छित हो जाना, यह कोई कम आश्चर्य वाली बात नहीं थी। होश में आते ही महाराज लक्ष्मण ने अंकुश पर अपने सुदर्शन-चक्र का प्रयोग किया, किन्तु वह अंकुश पर आक्रमण नहीं कर, वापस उनके पास ही लौट आया। इसी प्रकार राम के हल और मूसल भी अपना कार्य न

कर वापस लौट आये । क्योंकि यह दिव्य अस्त्र अपने स्वजनों पर आक्रमण नहीं करते । यह देखकर वे चिन्ता सागर में गोते खाने लगे । कभी सोचते— 'यह कोई हमारे ही स्वजनादि है, तो कभी सोचते कि क्या हमारी उपस्थिति में ही कोई दूसरे वासुदेव, बलदेव प्रकट हो गये हैं । बड़ा ही उलझन भरा प्रश्न है । क्या करें और किससे पूछें ? इस प्रकार राम और लक्ष्मण दोनों भाई चिन्ता की लहरों में निमग्न हो रहे थे कि महर्षि नारद सिद्धार्थ को साथ लिये हुए वहां उपस्थिति हुए ।

महर्षि नारद ने इस प्रकार संशय में पड़े हुए राम और लक्ष्मण को लवणांकुश का परिचय देते हुए कहा—'ये दोनों राजकुमार तुम्हारे ही हैं, महासती सीता ने इन्हें जन्म दिया है ।' महर्षि नारद के मुंह से यह सारा वृत्तान्त सुनकर भगवान राम बाग-बाग हो गये और शस्त्रास्त्रों को दूर फेंककर पुत्रों से मिलने के लिए दौड़े । इधर लवणांकुश भी अपने आयुधों को जमीन पर गिराकर सम्मुख आए और राम-लक्ष्मण के चरणों में झुक गए । दोनों भाईयों ने दोनों पुत्रों को उठाकर अपने हृदय से लगा लिया । महासती सीता भी पिता-पुत्रों का मिलन देखकर परमानन्दित हुई । वह राम से बिना मिले ही पुण्डरीकपुर की ओर प्रस्थान कर गई । भगवान राम बहुत-बहुत आनन्द और मंगल के साथ दोनों पुत्रों को लेकर अयोध्या में आये । दोनों पुत्रों की बधाईयों में शहर के सभी लोगों ने उत्सव मनाये ।

राम पुत्रों के उत्सवों में सीता को भूल ही गये । लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण आदी ने उन्हें याद दिलाया कि जब पुत्रों को अपना लिया है, तो अब महासती सीता को भी बुला लेना चाहिए । राम का आदेश प्राप्त कर सुग्रीव पुष्पक विमान में बैठकर पुण्डरीकपुर पहुंचे और राम का संदेश सुनाया । महासती सीता ने एक बार तो इनकार कर दिया । परन्तु फिर सुग्रीव के साथ विमान में बैठकर अयोध्या पहुंची और अयोध्या के बाहर ही उद्यान में ठहर गई । वहां श्री लक्ष्मण उनके दर्शनों के लिए गए । श्रीराम भी उनसे साक्षात्कार करने के लिए वहां पहुंचे ।

सती सीता ने पापी लोगों की आंखें खोलने के लिए अग्नि-परीक्षा की बात कही। राम ने अपने अनुचरों को एक बड़ा अग्नि-कुण्ड तैयार करने के लिए आदेश दिया। बात की बात में ही एक विशाल कुण्ड खुद कर तैयार हुआ। उसमें अग्नि प्रज्वलित कर जनता जनार्दन को आह्वान किया गया। इस विशाल अग्नि-कुण्ड के चारों ओर शहर के सहस्रों-सहस्रों नर-नारी आकर एकत्रित हुए।

महासती सीता ने राम का आदेश पाकर गन्धोदक से स्नान कर, शरीर को पवित्र किया एवं बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण धारण किये। अपार जन-समूह ने उनके दर्शन किये। उस समय महासती सीता अपनी तेजोमय रूप सम्पदा से इन्द्र की पत्नी को भी मात कर रही थी। महासती सीता नमस्कार महामंत्र का स्मरण करती हुई धीरे-धीरे उस महाअग्नि-कुण्ड के पास पहुंची। सीता को ज्यों ही लोगों ने अग्नि-कुण्ड के कगार पर देखा उन्होंने राम के विरुद्ध आवाजें उठायीं। कहने लगे—'राम इसकी परीक्षा नहीं ले रहे हैं, इस बेचारी को जीवित ही भून देना चाहते हैं।' कुछ व्यक्तियों द्वारा यह भी कहते सुना गया कि—'राम ने इसे कभी सुख से नहीं जीने दिया। अब यह इसकी अन्तिम अवस्था है। राम इस बेचारी कोमलांगी को अब उस आग की भट्ठी में झोंक देना चाह रहे हैं।'

इस प्रकार से चारों ओर लोग राम का विरोध कर रहे थे। दुनिया दुरंगी है, वह चढ़े को भी हंसती है और उतरे को भी।

इधर महासती सीता ने उस महाअग्नि-कुण्ड के कगार पर खड़ी होकर अपने इष्ट को याद कर कहा—'दिन का साक्षी सूर्य है और रात्रि का साक्षी चन्द्रमा है। मैंने मन, वचन और काया से भगवान राम को छोड़कर अगर दूसरे व्यक्ति की वांछा की हो तो इस अग्नि-कुण्ड की आग मुझे जलाकर भस्मसात् कर दे, अगर मैंने मनसा-वाचा-कर्मणा श्रीराम के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष की वांछा नहीं की तो यह अग्नि-कुण्ड जल का सरोवर बन जाये।'

इस प्रकार कहकर महासती सीता ने ज्यों ही अग्नि-कुण्ड में छलांग भरी तत्क्षण ही वह अग्नि-कुण्ड पानी से छलाछल एक सरोवर के रूप

में परिणत हो गया । जल के मध्य भाग में एक कमलाकृति रत्न जड़ित सिंहासन दिखाई दे रहा था । महासती सीता धीरे-धीरे तैरती हुई सिंहासन के पास पहुंची और उस पर आरूढ़ हो गई । उपस्थित जनसमूह जय-जयकार कर रहा था । आकाश में देवता धन्य-धन्य कर रहे थे । महर्षि नारद तो शील की महिमा देखकर आनन्द में झूम उठे । उस समय एक अद्‌भुत घटना घटी । महासती सीता ने आंख उठाकर देखा— उस सरोवर की सीमा को लांघकर पूरे वेग के साथ पानी वाहर जा रहा है और चारों ओर खड़े हुए आदमियों को आप्लावित कर रहा है । स्थिति को सम्भालते हुए सीता ने पानी को अपनी ओर उलीचा, फिर स्थिति सामान्य हो गई ।

भगवान् श्रीराम महासती से क्षमा-याचना करने के लिए उनके निकट पहुंचे और अपने अन्तःकरण से क्षमा-याचना कर, उसे राज प्रासादों में चलने के लिए कहने लगे । सीता ने कहा—'प्रभो ! आपने मुझे जंगल में त्याग दिया था, उसी प्रकार आज मैं इन भौतिक सुखों को अस्थिर समझकर तिलांजलि दे रही हूं । प्रभो ! अब मैं इस संसार के उलझन भरे भौतिक सम्बन्धों को त्यागकर दीक्षित होना चाहती हूं । दुनिया के माया जाल से निकलकर अनन्तानन्त कर्म-बन्धनों से मुक्त होना चाहती हूं । अतः कृपया मुझे आप दीक्षा की अनुमति प्रदान करें ।

श्री राम यह सुनकर गद्‌गद हो उठे । उन्होंने अनेक प्रकार से सीता को समझाया परन्तु विफल रहे । अन्त में उन्होंने दीक्षा की अनुमति दे दी । सीता ने जयभूषण मुनि के पास भागवती दीक्षा ग्रहण कर अद्‌भुत शान्ति का अनुभव किया । तव भगवान् राम ने जय-भूषण मुनि से सीता पर कलंक लगने के विषय में प्रश्न किया । मुनि ने कहा—'पूर्व जन्म में सीता श्रीभूति नामक पुरोहित की पुत्री थी । उसका नाम वेगवती था । एक दिन उसने शहर के उद्यान में देखा कि एक सुदर्शन नाम के प्रतिभाधारी मुनि ध्यान में तल्लीन हैं और अनेक लोग उनके अगल-बगल में उपस्थित स्तुति कर रहे हैं । वेगवती से यह सहा

नहीं गया । उसने लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा—'तुम लोग किसके दर्शन कर रहे हो और किसकी स्तुति कर रहे हो, यह मुनि तो पूरा व्यभिचारी है । मैंने अभी थोड़ी देर पहले ही इसे एक सुन्दर स्त्री से कुकर्म करते हुए देखा है । यह तो तुम लोगों को भ्रमित करने के लिए ध्यान करता है । वस्तुतः तो यह बड़ा ही लम्पट और कुकर्मी है ।' बस इतना कहना था कि लोगों के लिए तो चिड़ियों में पत्थर फेंकने वाली स्थिति पैदा हो गई । सभी अपने-अपने घरों की ओर जाने लगे । कहा भी है—'गतानुगतिको लोकः' थोड़ी ही देर में मैदान साफ हो गया । प्रतिभाधारी सुदर्शन ने इस प्रकार जैन धर्म की अवहेलना देखकर एक प्रतिज्ञा ली, कि जब तक इसका सच्चा निर्णय नहीं निकलेगा तब तक अन्न-पानी नहीं लूंगा और न ही इस स्थान से इधर-उधर हटूंगा । इस प्रकार की कठिन प्रतिज्ञा के कारण शासन अनुरागी देवता ने वेगवती का मुंह बन्द कर दिया । वह न खा सकती थी और न पी सकती थी । जब इस प्रकार बात का पता वेगवती के माता-पिता को चला तो इसे काफी डांटा-फटकारा । आखिर वेगवती ने भय-भ्रान्त होकर अपनी त्रुटि स्वीकार कर ली । वह मुनि के पास पहुंची और अपने किये का पश्चात्ताप करने लगी । वेगवती का बन्द मुंह अब खुल चुका था और उसने अनेक व्यक्तियों के सम्मुख अपने किये का प्रायश्चित किया । लोग पहले की तरह ही मुनि के चरणों में आकर झुकने लगे और उसी प्रकार स्तुति एवं गुणगान करने लगे ।

भगवान् राम भी इस वृतान्त से पूर्ण सन्तुष्ट हो अपने राज-प्रसादों की ओर मुड़े । महासती सीता ने साठ वर्षों तक संयम की आराधना की और अन्त में एक मास के संथारे के साथ उनकी आत्मा बारहवें स्वर्ग में इन्द्र के रूप में उत्पन्न हुई ।

महासती सीता का जीवन बड़ा ही पवित्र था । वह महाराज रावण जैसे दुराचारी के हाथों में पहुंचकर भी जाज्वल्यमान आग की भांति रही । उसने अपने जीवन में अखण्ड शील की आराधना की । वनवास

के समय में महा भयंकर जंगलों में निर्भय होकर रही। यह सब उसके शील का ही प्रभाव था। भगवान राम ने जो इतनी बड़ी सेना एकत्रित की वह भी उसके शील का ही प्रभाव था। लक्ष्मण लंका के युद्ध में शक्ति प्रहार से मूर्च्छित हो गये थे। उसके प्राणों की रक्षा भी सीता के शील के प्रभाव से ही हुई। शील ही काम कलश है। शील कल्प-वृक्ष है और शील चिन्तामणि रत्न है। शील के विषय में लिखने के लिए कोई शब्द नहीं है, जितना लिखा जाए थोड़ा ही होगा।

* * *

महासती कुन्ती

प्राचीन काल में यदुवंश एक अत्यधिक ख्यातिप्राप्त वंश हो चुका है । इस वंश के शौरीपुर नगर में एक अंधक्वृष्णि राजा थे । उनकी महारानी का नाम सुभद्रा था । महारानी सुभद्रा की कुक्षि से (1) समुद्र विजय, (2) अक्षोभ, (3) स्तिमित, (4) सागर, (5) हिमवान, (6) अचल, (7) धरण, (8) पूरण, (9) अभिचन्द्र, (10) वसुदेव— इन दस पुत्रों ने तथा कुन्ती और माद्री दो राजकुमारियों ने जन्म ग्रहण किया । राजकुमारी कुन्ती क्रमशः बढ़ती हुई विवाहोचित अवस्था को प्राप्त हुई । तब महाराज अंधक्वृष्णि को उसके सम्बन्ध के विषय में चिन्ता होने लगी । उन्होंने अपनी ओर से योग्य वर की खोज प्रारंभ की ।

उस समय हस्तिनापुर नाम के नगर में तेजस्वी एवं पराक्रमी पाण्डु राजा राज्य करते थे । महाराज अंधक्वृष्णि के व्यक्ति वहां पहुंचे और आवश्यक जानकारी प्राप्त कर वापिस शौरीपुर लौटे । उन्होंने महाराज पाण्डु के विषय में सभी समाचार कहे । महाराज अंधक्वृष्णि को यह वर पसन्द आ गया और उन्होंने अपनी ज्येष्ठ पुत्री कुन्ती का विवाह हस्तिनापुर के महाराज पाण्डु के साथ अत्यन्त आनन्द और उल्लास के साथ कर दिया । महारानी कुन्ती सच्ची पतिव्रता थी । उनकी कुक्षि से क्रमशः तीन पुत्रों ने जन्म लिया । बड़े का नाम युधिष्ठिर, मझले का नाम भीम और सबसे छोटे का नाम अर्जुन था । महाराज पाण्डु के एक पत्नी और भी थी, जिसका नाम माद्री था । उसकी कुक्षि से नकुल और सहदेव ये दो पुत्र उत्पन्न हुए । महाराज पाण्डु के इन पांचों पुत्रों ने आगे चलकर अत्यधिक ख्याति प्राप्त की । युधिष्ठिरादि पांचों बन्धुओं में परस्पर अत्यन्त प्रेम था । विशेष बात यह थी कि नकुल और सहदेव यद्यपि कुन्ती के पुत्र नहीं थे फिर भी महारानी कुन्ती इन दोनों बन्धुओं

पर अपने पुत्रों से भी अधिक स्नेह रखती थी । उसने यह कभी प्रकट नहीं होने दिया कि युधिष्ठिर भीम और अर्जुन उसके अपने पुत्र हैं, और नकुल, सहदेव उसकी सौत के । महारानी कुन्ती इस पांचों राजकुमारों को अपना मानकर ही चलती थी, एवं उन सब पर बराबर प्यार बरसाती थी । जिससे लोगों की यह धारणा-सी बन गई थी कि युधिष्ठिरादि पांचों राजकुमारों की मां कुन्ती ही है । महारानी कुन्ती के ये पांचों पुत्र क्रमशः बाल्यावस्था को पारकर युवा अवस्था को प्राप्त हुए ।

महाराज धृतराष्ट्र पाण्डु के बड़े भाई थे, किन्तु वे जन्मजात अंधे थे । अतः राज्याधिकारी महाराज पाण्डु ही बने । महाराज धृतराष्ट्र के गान्धारी आदि आठ महारानियां थीं और उन सबकी कुक्षि से दुर्योधन, दुश्शासन आदि सौ पुत्रों ने जन्म ग्रहण किया । महाराज धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव एवं महाराज पाण्डु के पुत्र पाण्डव कहलाये । दुर्योधनादि कौरवों, युधिष्ठिर आदि पाण्डवों की शिक्षा-दीक्षा द्रोणाचार्य के तत्त्वाधान में हुई । इन सब राजकुमारों में भीम और अर्जुन विशेष स्थान प्राप्त कर चुके थे । वे बलिष्ठ भी थे । इसी कारण से दुर्योधन मन में रात दिन इनसे जलता रहता था ।

विद्या-अध्ययन के पश्चात् महाराज पाण्डु ने पांचों भाइयों के लिए योग्य कन्याएं ढूढ़ीं और अपने सभी राजकुमारों का पाणिग्रहण करवा दिया । इस प्रकार इन पांचों पाण्डवों के एक-एक पत्नी तो थी ही, किन्तु एक पत्नी इन्हें ऐसी प्राप्त थी, जिस पर पांचों का अधिकार था । जिसका नाम द्रौपदी था ।

महाराज पाण्डु ने अपने पुत्रों को हर प्रकार से योग्य एवं सम्पन्न समझकर धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर को सौंपा एवं स्वयं धर्म-ध्यान आदि क्रियाओं में संलग्न हो गये । वे राजकाज की ओर निरपेक्ष रहने लगे । महाराज युधिष्ठिर ने राज्य संभाला । उन्होंने दुर्योधन को इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) का राज्य देकर उसे वहां का राजा बना दिया । दुर्योधन सपरिवार इन्द्रप्रस्थ नगर को राजधानी का रूप देखकर वहां निवास करने

लगा । इधर भीम, अर्जुन आदि चारों भाई दिग्विजय के लिए चारों दिशाओं में निकल पड़े, और उन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की। उन्होंने अपने बल के साथ अनेक बड़े-बड़े राजाओं को अपने अधीन किया । चारों भाई इस प्रकार संसार में विजय पताका फहराकर हस्तिनापुर लौट आए । पाण्डवों ने अपने श्रम और बल से अपने राज्य का बहुत विस्तार किया । युधिष्ठिर धर्मपुत्र के नाम से संसार भर में चमक उठे । वे सत्यावादी धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे ।

कुन्ती भगवान की परम भक्त थी और एक सच्ची श्राविका कहलाती थी। वह अपने तप-जप और नियमों का दृढ़ता के साथ पालन करती थी । आदमी में किसी भी प्रकार का थोड़ा-सा भी संकट आ जाता है । तो वह घबरा उठता है । परन्तु माँ कुन्ती बड़ी ही साहसी स्त्री थी । एक बार वह अपने पुत्रों और पुत्र-वधू के साथ गमन कर रही थी कि चलते-चलते उनके सामने एक बड़ा भयंकर जंगल आ गया । उस जंगल मे एक बावड़ी बनी हुई थी, जो पानी से लबालब भरी हुई थी । बावड़ी में अनेक रंगों के कमल खिले हुए थे । द्रौपदी का ध्यान उस कमल राशि पर पड़ा । कमल बड़े ही आकर्षक थे । उन्होंने भीम से एक कमल ला देने के लिए आग्रह किया । वे उस बावड़ी में पहुंचे । बावड़ी काफी लम्बी-चौड़ी थी, उन्हें अन्दर घुसना पड़ा । फिर भी वे जब कमल राशि तक नहीं पहुंच सके तो तैरकर पहुंचने का प्रयत्न किया । किन्तु जैसे ही वे कमल राशि के पास पहुंचे तो पानी में डूब गये । वे भारी प्रयत्न करने पर भी ऊपर नहीं आ सके । काफी देर हो गई, अतः अर्जुन उन्हें बुलाने के लिए पहुंचे, किन्तु भीम को वहां नहीं पाकर वे स्वयं उसमें प्रविष्ट हुए । वे भी जैसे ही तैरकर कमल राशि तक पहुंचे, विलीन हो गये और वे भी ऊपर नहीं आ सके । इस प्रकार क्रमशः एक-एक कर सभी भाई एक-दूसरे को ढूंढने के लिए वहां पहुंच और उसी में तैरकर कमल राशि तक पहुंचते-पहुंचते अदृश्य हो गये ।

उस भयावह जंगल में मां कुन्ती और द्रौपदी दोनों उनका इन्तजार करती रही। सूर्य भी अस्त हो गया। चारों ओर अंधेरा छा गया। कुन्ती निश्चल थी। उसने अपनी बहू से कहा—'बेटी ! हम प्रभु का ध्यान करें, इन विपदाओं की घड़ियों में वे ही हमारे रक्षक हो सकते हैं। सर्वज्ञ भगवान के अतिरिक्त इस संसार में और कोई नजर नहीं आता।' द्रौपदी ने जैसे ही महासती कुन्ती के शब्द सुने। तत्काल ही दोनों सास-बहू ध्यान में लीन हो गई।

उसी समय महाराज इन्द्र केवल ज्ञान के उत्सव के लिए कहीं जा रहे थे। महासती कुन्ती को जब उन्होंने पुत्र-वधू सहित ध्यान-निमग्न देखा तो बड़े ही प्रभावित हुए। उन्होंने सारी स्थिति को समझकर पांडवों को छुड़वाने के लिए एक देवता को नागराज के पास भेजा। वह देव नागराज के पास पहुंचा और इन्द्र महाराज का सन्देश बतलाकर पाण्डवों के विषय में भी इन्द्र का संदेश कहा। नागराज ने इन्द्र के आदेश से तत्काल ही उन्हें छोड़ दिया। उसने पांचों पाण्डवों को दिव्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर विमान के द्वारा महासती कुन्ती और द्रौपदी के पास पहुंचा दिया। अपने पुत्रों के मिल जाने पर मां कुन्ती के हर्ष का पार नहीं रहा। युधिष्ठिर आदि पांचों ही पुत्रों ने मातेश्वरी के चरणों में नमस्कार किया एवं तत्पश्चात् वे पहले की तरह ही वन-विहार करने लगे।

महासती कुन्ती ने अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे। जैसे ही वनवास के तेरह वर्ष पूर्ण हुए कि महाभारत छिड़ गया। कहा जाता है, उस युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना समाप्त हुई। इस महायुद्ध में द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन आदि अनेक बड़े-बड़े महायोद्धा काम आ गये। अन्त में पाण्डवों की विजय हुई। विजयोल्लास के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर का पुनः राज्याभिषेक किया गया। पाण्डव अब फिर पहले की तरह अपनी राज्य-सम्पदा का उपभोग करते हुए सुखी जीवन बिताने लगे।

एक बार भगवान अरिष्टनेमि वहां पधारे । सुनकर जब मानस तृप्ति का अनुभव कर रहा के मन में भी वैराग्य की भावना उमड़ पड़ी । के साथ प्रार्थना की – 'भगवन् ! मेरा मन भी गया है । भगवान अरिष्टनेमि ने उनकी उत्व पति-पत्नी दोनों को दीक्षित कर अपने शिष्य श्रे महासती कुन्ती और महाराज पाण्डु दोनों ने भग ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया ।



महासती द्रौपदी

एक पुरुष के दो, तीन, चार, पांच, सात यावत् बत्तीस हजार और चौंसठ हजार तक स्त्रियों के होने की बात प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं, लेकिन किसी एक स्त्री ने एक साथ दो, चार, पाँच या सात पति किए हों ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता । उदाहरण यदि हैं तो एक द्रौपदी का है जिसने भावीवश पांच पति स्वीकार किये । वह पांच पतियों को स्वीकार करके भी महासती कहलाती थी ।

जैन धर्म में सती की परिभाषा

जैन धर्म की मान्यता के अनुसार जो स्त्री मनसा, वाचा, कर्मणा अन्य पुरुष की वांछा नहीं करती, वह सती कहलाती थी । वह अपने से बड़ों को पिता, समवयस्कों को भाई और छोटों को पुत्र के तुल्य समझती थी । इस व्यवस्था में भी यदि कोई नाजुक स्थिति उपस्थिति होती थी तो चन्दनबाला की माता महारानी धारिणी की तरह प्राणों को त्यागकर अपने शील की रक्षा भी करती थी । प्राण न्योछावर कर देती थी किन्तु प्रण को खण्डित नहीं करती थी । जैन पद्धति के अनुसार आज भी यही प्रणाली चालू है । किन्तु कुछ अपवादिक स्थितियां भी होती हैं । जैसे—

द्रौपदी का सतीत्व

द्रौपदी के पांच पति होते हुए भी सतियों की श्रेणी में आती है । जिस व्यवस्था में वह अपने आपको समुचित रूप से रखती थी, उस व्यवस्था

के अनुसार उसके सतीत्व में किसी प्रकार की बाधा दिखाई नहीं देती। महासती द्रौपदी ने अपने सहवास के लिए एक क्रम स्थापित कर रखा था, उसकी अपनी एक सुनियोजित रूप-रेखा थी। वह उसके अन्तर्गत रहकर ही सतीत्व की पवित्रता में बढ़ी-चढ़ी थी।

द्रौपदी का पूर्व भव

अनेक वर्षों पहले यह चंपा नगरी में सोम, सोमदत्त और सोमभूति नाम के तीन ब्राह्मण रहते थे। वे तीनों परस्पर भाई-भाई थे। बड़े भाई की पत्नी का नाम—नागश्री, मंझले भाई की पत्नी का नाम—भूतश्री और छोटे भाई की पत्नी का नाम—यक्षश्री था। इन सबका भोजन बारी-बारी से एक स्थान पर पकता था। एक दिन नागश्री की बारी थी, उसने बड़े ही प्रेम से भोजन बनाया और साथ-साथ कई प्रकार के व्यंजन भी पकाए थे। नागश्री ने उस दिन अनेक प्रकार के मिर्च-मसाले डालकर एक लौकी का व्यंजन भी तैयार किया था। स्वाद चखने के लिए चखा तो खारा ज़हर के समान लगा। उसने पहले बिना चखे बनाया, इसका बहुत पश्चात्ताप किया किन्तु अब मिट्टी में डालने के अतिरिक्त और हो भी क्या सकता था। उसने तत्काल ही उसी प्रकार का एक दूसरा स्वादिष्ट व्यंजन तैयार किया और पहले वाले को कहीं गिराने की टोह में थी।

इतने में ही उसने देखा कि धर्मरुचि अणगार एक महीने की तपस्या का पारणा लाने जा रहे हैं। वह तत्काल ही मुनिवर के पास आई और निवेदन किया कि महाराज! मेरे घर भिक्षा के लिए पधारें। मुनिश्री उसके घर पधारे और जैसे ही भिक्षा का पात्र खोला, नागश्री ने वह सारा का सारा तुम्बे का व्यंजन पात्र में उड़ेल दिया। उसने सोचा—अच्छा हुआ, मुझे इस गिराने के लिए बाहर नहीं जाना पड़ा, घर पर ही अकुरड़ी (अवकर) आ गई।

धर्मरुचि मुनि

धर्मरुचि मुनि जैसे ही गोचरी लेकर अपने गुरु धर्मघोष के पास पहुंचे और य॰ दिखलाई। धर्मघोष आचार्य ने वह व्यंजन देखते ही कहा—

'तपस्वी मुने ! यह तो हलाहल जहर है । इसे खाते ही तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी । अतः इसे तुम्हें कहीं एकान्त विशुद्ध (निर्वद्य) स्थान में ले जाकर विसर्जन कर देना चाहिए ।'

धर्मरुचि मुनि गुरु का आदेश प्राप्तकर, उसे विसर्जन करने के लिए बाहर गए । जीवरहित स्थान देखकर उन्होंने उस व्यंजन की एक बूंद जमीन पर डाली । उन्होंने देखा कि उस एक बूंद पर थोड़ी ही देर में चींटियों के ढेर के ढेर इकट्ठे हो गए । मुनि ने सोचा, इस सारे व्यंजन को भूमिगत करना एक महा हिंसा के बुलावा देना होगा । ऐसा सोचकर मुनि इस सारे के सारे व्यंजन को अकेले ही खा गए । थोड़ी देर के बाद उनके शरीर में अपूर्व वेदना उठी । मुनि इससे अवगत थे ही । वे धर्म-ध्यान में लीन हो गए । परम साहसिक धर्मरुचि अनगार ने संथारा किया और स्वल्प समय में ही प्राण त्याग कर स्वार्थ सिद्धि नाम के विमान में उत्पन्न हुए ।

जब मुनि काफी देर तक नहीं आए तो उनकी टोह में संत वहां पहुचे । धर्मरुचि मुनि तो पहले ही प्रयाण कर चुके थे । धर्मघोष आचार्य ने समाचार सुनकर स्थिति की अन्वेषणा की । उन्होंने सभी सन्तों को बुलाया और नागश्री ब्रह्मणी के उस कड़वे तुम्बे के व्यंजन की समस्त चर्चा कह सुनाई । क्रमशः वह बात सारे शहर में फैल गई । नागश्री के घर वालों को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने उसे काफी भला-बुरा कहा, इसे ऋषिघातिनी की उपाधि भी मिली । अन्त में उसकी काफी भर्त्सना कर अपने घर से निकाल दिया गया । नागश्री के पास अब कोई उपाय नहीं रह गया था । अब वह एक भिखारिन की तरह शहर में भटक-भटककर अपना पेट पाल रही थी । जिस किसी रास्ते से व जिस-जिस मुहल्ले से वह गुजरती, लोग उस पर धिक्कार की बौछारें करते थे । अन्त में उसके शरीर में श्वास, काश, उदरशूल, जलोदर आदि सोलह प्रकार की महाव्याधियां उत्पन्न हो गईं जिसके कारण वह अत्यन्त दुखों को झेलती हुई, आर्त्त, रौद्र ध्यान में मरकर छठवें नरक के गर्त में गिरकर अपरिमित दारुण दुख सहे ।

सुकुमालिका के रूप में

नागश्री का जीव छठी नारकी से निकलकर बीच में एक मत्स्य का भव कर सातवीं नारकी में, उसके पश्चात् वह बीच में तिर्यञ्च पंचेन्द्री का एक-एक भव करता हुआ प्रत्येक नरक में दो-दो बार गया। इतना ही नहीं इसके पश्चात् भी उसने पृथ्वी आदि योनियों में भटकते हुए क्रमशः चंपा नगरी के निवासी सागरदत्त सार्थवाह के घर पुत्री के रूप में जन्म ग्रहण किया। उसका नाम पिता न सुकुमालिका रखा। सुकुमालिका रुप रंग में किसी एक देवांगना से कम नहीं थी किन्तु वस्तुतः पूर्व संचित कर्मों के कारण उसके स्पर्श आदि विषकन्या के तुल्य थे। जब वह विवाहोचित समय को प्राप्त हुई तो उसके पिता ने जिनदत्त सेठ के पुत्र सागरदत्त के साथ उसका विवाह कर दिया। सागरदत्त ने ज्योंही उसके शरीर को स्पर्श किया तो उसे अग्निमयी पुतली के स्पर्श जैसा अनुभव हुआ, उसे लगा मानो सैकड़ों खड्ग उसके शरीर पर चलाये जा रहे हैं। उसे सुकुमालिका का स्पर्श अत्यन्त कष्टप्रद लगा। इस स्थिति का पूर्णतः अध्ययन कर सागरदत्त ने इसे विषकन्या समझा और वह अपनी नवपरिणीता वधु को छोड़कर अपने घर चला गया।

सुकुमालिका को दुःखिनी समझकर उसके पिता ने एक भिखारी के साथ सम्बन्ध जोड़ा, किन्तु 'बावो मर्‌यो फूल की जाई, रह्या तीन का तीन' इस जनश्रुति के अनुसार वह भिखारी भी उसे छोड़कर भाग गया। इस प्रकार सुकुमालिका अकेली ही रही। पिता ने उसे धर्म-ध्यान की शिक्षा दी एवं उसे वैराग्य में आरोपित किया।

साध्वियों का उपदेश

एक दिन उसके घर पर भिक्षा के लिए साध्वियां आयीं। उसने साध्वियों को अपने हाथ से प्रांसुक अन्न का दान दिया। उसने साध्वियों से बात करते हुए पुरुष को वश में किया जा सके, ऐसे मंत्र के विषय में प्रश्न किया। साध्वियों ने कहा—'बहन, हम तो वैराग्य का उपदेश करती

हैं । किन्तु इस मामले में हम मौन ही हैं । इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है ।' साध्वियों की बात सुनकर वह गहरे वैराग्य के महासागर में उतर पड़ी एवं साध्वियों के पास दीक्षा ग्रहण कर ली । 'चट रोटी पट दाल' वाली कहावत चरितार्थ हो गई । सच ही है भव-स्थिति पकने पर क्या नहीं हो सकता । वह घोर तपस्या करती हुई साधना में लीन रहने लगी । एक बार उसने उपनी गुरुआनी से उद्यान में जाकर आतापना लेने की आज्ञा मांगी । गुरुआनी ने उसे निषेध करते हुए कहा—'साध्वी उपाश्रय के अन्तर्गत ही आतापना ले सकती है उन्हें खुले मैदान में जाकर आतापना लेना शास्त्र विहित नहीं है । गुरुआनी के निषेध करने पर भी वह नहीं मानी और खुले मैदान में जाकर आतापना लेती रही । एक दिन उसने देखा कि एक स्त्री पांच पुरुषों के साथ आमोद-प्रमोद कर रही है ।

निदान करना

वह मन ही सोचने लगी, यह भी एक स्त्री है और मैं भी एक स्त्री हूं । किन्तु हाय ! कितना फासला, कितना अन्तर जो इस पर पांच-पांच सुन्दराकृति वाले पुरुष मोहित हो रहे हैं । एक मैं हूं, जो एक भिखारी भी मेरे साथ पूरी जिन्दगी तो क्या, एक क्षण भी रहना पसन्द नहीं करता । मैं चाहती हूं कि यदि मेरे जप-तप और संयम का कोई फल है तो अगले जन्म में मैं भी इस स्त्री की ज्यों पांच पुरुषों की प्रिय तरह वनूं मुझे भी पांच पति प्राप्त हों । इस प्रकार उसने तीव्र कामाभिलाष से यह निदान कर लिया । उसकी गुरुआनी को जब इसके निदान करने का पता चला तो उसने बहुत कुछ समझाया । किन्तु उसने अपने उस निदान का प्रायश्चित नहीं किया । वह अकेली होकर अपने शरीर की और भी अधिक शोभा-विभूषा करने लगी । इस प्रकार वह पूर्ण रूप से शिथिलाचारिणी वन गई । उसके आचार और विचारों में शैथिल्य ही शैथिल्य झलकने लगा । अन्त में वह विराधक दशा में ही पन्द्रह दिन का अनशन करके दूसरे देवलोक में देवगणिका के रूप में अवतरित हुई ।

देवगणिका का आयुष्य पूर्ण कर वह महाराज द्रुपद की महारानी चुल्लणी की कुक्षि से एक सुन्दराकृति वाली पुत्री के रूप में अवतरित हुई। महाराज द्रुपद पंचाल देश के एक राजा थे। उनकी राजधानी का नाम कम्पिलपुर था। महाराज द्रुपद ने अपनी प्यारी राजकुमारी का नाम द्रौपदी रखा। राजकुमारी का वर्ण कुछ सांवला होने के कारण उसे लोग कृष्णा भी कहने लगे थे। पूर्व जन्म में द्रौपदी ने जो तपस्याएं कीं उसके फलस्वरूप उसका रूप-लावण्य एवं सौंदर्य व्यक्ति-व्यक्ति के मन को अत्यन्त लुभावना लगता था। द्रौपदी के दो भाई थे। एक का नाम धृष्टद्युम्न और दूसरे का नाम शिखण्डी था। शिखण्डी नपुंसक था।

द्रौपदी का स्वयंवर

द्रौपदी ज्योंही यौवनावस्था में प्रविष्ट हुई कि उसके माता-पिता उसके लिए योग्य वर की चिन्ता में संलग्न हो गये। किन्तु अनेक स्थानों पर खोज पड़ताल करने पर भी द्रौपदी के अनुरूप कोई वर नहीं मिल रहा था। अन्त में काफी सोच-विचार कर उन्होंने एक विचित्र स्वयंवर मंडप की रचना की। स्थान-स्थान पर दूतों को भेजा गया। अनेक राजे-महाराजे, युवराज और राजकुमार आमंत्रित किये गये एवं उसमें राधा-वेध की शर्त रखी गई। राधा-वेध का तात्पर्य है कि एक सौ आठ पुतलियों के एक चक्र का निर्माण किया जाता है। उसमें एक राधा नाम की पुतली भी आरोपित की जाती है। चक्र ऊपर की ओर छत से लटका दिया जाता है। वह गोलाकार घूमता रहता है। उसके ठीक नीचे एक तेल से भरा कड़ाह रखा जाता है। जो व्यक्ति उस तेल में घुमते हुए चक्र के प्रतिबिम्ब के देखकर उस राधा नाम की पुतली की दायीं आंख की पुतली को तीर से वेध डाले, वह राधा-वेध कहलाता है। जो व्यक्ति राधा-वेध करेगा उसे ही द्रौपदी वरण करेगी। इस स्वयंवर-मण्डप में दूर-दूर से अनेक राजे-महाराजे, राजकुमार और युवराज आए हुए थे। इधर यादवों, कौरवों, और पाण्डवों से परिवृत महाराज कृष्ण भी यहां सुशोभित हो रहे थे। इस प्रकार उस स्वयंवर-मण्डप की

शोभा भी देखते ही बनती थी । आए हुए सभी मेहमान अपने-अपने नामांकित आसनों पर विराजमान थे ।

अपने रूप-लावण्य से अप्सराओं को भी मात देती हुई द्रौपदी ने जैसे ही स्वयंवर-मण्डप में पैर रखे, सारे मण्डप के उपस्थित जन टकटकी लगाकर द्रौपदी की ओर निहारने लगे । उस समय ऐसा लगता था मानो किसी ने सारे मण्डप पर जादू का करिश्मा चला दिया हो । चारों ओर से आवाजें उठने लगीं—'अहा ! हा ! कन्या क्या है यह तो एक देवकुमारी का अवतार है, कोई भाग्यशाली ही इसके साथ पाणिग्रहण करेगा ।' महाराज द्रुपद सभासदों के बीच में पधारें और उन्होंने समागत अपने प्रिय मेहमानों को राधा-वेध की बात से अवगत करते हुए सारी स्थिति समझाई । इसके पश्चात् अनेक राजे-महाराजे, युवराज और राजकुमारों ने राधा-वेध करने के लिए काफी प्रयास किया, किन्तु किसी को भी सफलता प्राप्त नहीं हुई । इसका कारण था, कि अर्जुन के अतिरिक्त इस विद्या का कोई ज्ञाता नहीं था । अन्य लोगों की असफलता देखर अर्जुन राधावेध के उस स्थान पर पहुंचा और अपने गुरु द्रोण की बतलाई गई विधि के अनुरूप अधोमुख रह कर तेल के कड़ाह में उस एक सौ आठ पुतलियों के घूमते हुए चक्र के प्रतिबिम्ब को देखकर उस राधा नाम की पुतली की दाईं आंख की पुतली को तीर के द्वारा बींध दिया । अर्जुन के इस लक्ष्य वेध से दुश्मनों के हृदय पर बड़ा आघात पहुंचा, परन्तु इसका कोई उपाय अब नहीं रह गया था । श्रीकृष्ण आदि स्वजनों के हृदय-सागर में आनन्द की उर्मियां, छलकने लगीं और हृदय बांसों उछलने लगे । द्रौपदी ने तत्क्षण ही अर्जुन के गले वरमाला पहना दी । यद्यपि द्रौपदी ने वह वरमाला केवल अर्जुन के गले में ही पहनाई थी किन्तु देवमायावश वह वरमाला पांचों पाण्डवों के गले में नजर आने लगी । उपस्थित लोगों के मन में आश्चर्य का एक बवन्डर खड़ा हो गया । जिसकी कोई भी सीमा नहीं थी । महाराज द्रुपद के मन में भी एक चिन्ता खड़ी हो गई । वे सोचने लगे

कि कन्या तो एक, दामाद पांच खड़े हो गये । अब क्या किया जाए और किससे पूछा जाए ।

चारण मुनि का आगमन

सब में एक चिन्ता की लहर दौड़ ही रही थी कि तत्काल एक चारण मुनि जो कि विशिष्ट ज्ञानी थे, वहां आ उतरे । श्रीकृष्ण के प्रश्न करने पर चारण मुनि ने द्रौपदी के पूर्व भव की वार्तानुसार कहा—'इसने अपने पूर्व जन्म में इसी प्रकार का निदान किया था, अतः इसके ये पांच पति विहित हैं । चारण मुनि की बात पर सबने विश्वास किया एवं माता-पिता ने अपनी प्यारी पुत्री का विवाह पांचों पाण्डवों के साथ कर दिया । विवाहोपरान्त पांचों पाण्डव अपने परिवार के साथ हस्तिनापुर आ गये एवं द्रौपदी के साथ सानन्द रहने लगे । पांचों पाण्डवों के विंध्य आदि पांच पुत्र द्रौपदी की कुक्षि से उत्पन्न हुए । द्रौपदी के अतिरिक्त पांचों पाण्डवों के पृथक्-पृथक् रानियां भी थीं । उनमें सुभद्रा अर्जुन की पत्नी का नाम था । वह महाराज कृष्ण की छोटी बहन लगती थी जिसकी कुक्षि से एक पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम अभिमन्यु रखा गया था । उसके जन्मोत्सव के प्रसंग पर एक अद्‌भुत सभा-मण्डल का निर्माण किया गया था । जिसके अन्तर्गत अनेकों प्रकार की आश्चर्यजनक सजावट की गई थी । जहां जल भरा था वहां स्थान और जहां स्थल था वहां जल दृष्टिगत हो रहा था । इस प्रकार से उस सभा-मण्डप में अनेक आश्चर्यमय वस्तुएं लगाई गई थीं । उस अवसर पर महाराज युधिष्ठिर ने अनेक राजे, महाराजे, युवराज और राजकुमारों को आमंत्रित किया था । दुर्योधन, दुश्शासन आदि अपने चचेरे भाईयों को भी आमंत्रित किया था । अवसर पर वे सभी अपने मामा शकुनि के साथ यहां आए । दुर्योधन ने जैसे ही सभा-मण्डप में प्रवेश किया, उसे पानी से भरा स्थान दिखाई दिया । उसने अपने कपड़े भीगने के डर से ऊंचे किए किन्तु यहां तो पानी नहीं था, अतः युधिष्ठिर आदि सभी लोग उसकी स्थिति पर हंस पड़े । दुर्योधन स्थल समझकर आगे बढ़ रहा था अकस्मात् पानी आ गया, और वह फिसलकर उसमें गिर पड़ा ।

सामने के उपस्थित लोगों ने इसकी काफी मजाक उड़ाई । भीम, अर्जुन, द्रौपदि आदि ने उसका उपहास करते हुए कहा—'बाप अन्धा तो बेटा भी अन्धा, अन्धे का बेटा अन्धा ही होता है ।'

दुर्योधन के हृदय में यह वाक्य तीर की तरह चुभ गया । वह चुपचाप वहां से उठा और बिना ही कुछ बोले अपने शहर की ओर चल पड़ा । दुर्योधन को पांडवों की वढ़ती सम्पत्ति के विषय में तो जलन थी ही, अब यह दूसरी अपमान की ज्वाला और धधक उठी । उसने चलते-चलते ही अपने मामा शकुनि से कहा—'मामा ! क्या यह सब देखते ही रहोगे या कुछ इसके लिए सोचना है ।' शकुनि ने दुःख प्रकट करते हुए, दुर्योधन से कहा—'नहीं-नहीं, इसका प्रतिशोध तो लेना ही है । भला इस प्रकार का उपहास और फिर ऊपर से नमक !' दुर्योधन और शकुनि दोनों ने मिलकर इसका बदला लेने के लिए एक सभा-भवन की योजना बनाई । शीघ्र ही एक सुन्दर सभा-भवन का निर्माण हो गया । उसने अपने परिवार वालों के सामने यह योजना रखी । तत् पश्चात् उसने महाराज युधिष्ठिर को इसके उद्घाटन के अवसर पर सपरिवार आमंत्रित किया ।

द्यूत-क्रीड़ा

सरलता की प्रतिमूर्ति महाराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ नगर पधारे । चारों भाईयों और अनेक निकटवर्ती लोगों के साथ उन्हें देखकर दुर्योधन वड़ा ही प्रसन्न हुआ । सरलमना महाराज युधिष्ठिर का उस दिन दुर्योधन ने वड़ा ही अद्भुत स्वागत कर लोगों में एक प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त की । किन्तु हो सकता है इसके नीचे उसका आशय दूसरा ही हो । सभा-भवन में प्रवेश किये महाराज युधिष्ठिर को कुछ ही क्षण हुए होंगे कि चौपड़ विछ गई । ऋृजुमना युधिष्ठिर खेलने के लिए वैठ गए । दुर्योधन का आग्रह देखकर उनका मन रखने के लिए वैठ तो गए । किन्तु भाई के मन की कुटिल भावना को नहीं जान सकें । दुर्योधन ने वैठते ही कहा—'भैय्या ! आज हम लोग सादी चौपड़ नहीं खेलेंगे ।

हार-जीत के लिए कुछ न कुछ दाव लगाया जाए ।' युधिष्ठिर इसको नहीं समझ सके और उन्होंने दाव लगाने प्रारम्भ कर दिये । यहां युधिष्ठिर की हार होने लगी । दुर्योधन प्रत्येक दाव जीत रहा था और धर्म-पुत्र की हार होती जा रही थी । इसका कारण था, कि शकुनि के पास दिव्य पासे थे, दुर्योधन उन्हीं पासों से खेल रहा था । यही कारण था कि उसकी जीत होती चली जा रही थी । महाराज युधिष्ठिर क्रमशः अपना सारा राज्य हार गये । 'जुए मीठी हारे' इस जनश्रुति के अनुसार वे उचके नहीं और आखिर में उन्होंने अपना निजी कोष और चारों भाईयों को भी दान में लगा दिया । महाराज युधिष्ठिर जब चारों भाइयों को हार गये तो उन्होंने अपने आपको और द्रौपदी को भी दांव पर लगा दिया । हार निश्चित थी । इस प्रकार धर्मपुत्र दुर्योधन की उस कूट सभा में आकर अपना सब कुछ हारकर एक भिखारी के समान बन गए । अहो ! विचित्रा खलु कर्म गतिः ।

द्रोपदी चीर-हरण

दुर्योधन ने दुशासन को सम्बोधित करते हुए कहा—'पाण्डव अपना सर्वस्व हार चुके हैं, उनके पास अब कुछ नहीं बच रहा है, अतएव अब वे मेरे दास हैं और द्रौपदी मेरी दासी है । तुम शीघ्र जाओ और द्रौपदी को शीघ्रातिशीघ्र मेरे समाने ले आओ ।' दुर्योधन की आज्ञा पाते ही दुशासन तत्काल ही दौड़ा और द्रौपदी को बलात् घसीटकर सभा-मण्डप में ले आया । दुर्योधन ने निर्लज्जता के साथ द्रोपदी को अपनी जंघा की ओर संकेत करते हुए कहा—'प्रिये ! आओ ! यहां बैठो, अब तो मैं ही तुम्हारा सर्वेसर्वा हूं ।' द्रौपदी दुर्योधन के इस अपमानजनक वाक्य को कैसे सह सकती थी, क्योंकि सती थी । द्रौपदी पूर्ण आवेश में आ गई और कहने लगी— अरे ! पापिष्ठ ! दुर्योधन ! इस प्रकार बोलते हुए तुझे लज्जा का अनुभव नहीं होता ? दुरात्मन् ! कुछ तो कौरव-कुल की आन रखता ।' इस प्रकार द्रौपदी ने उसको फटकार लगाई किन्तु दुर्योधन उन्मत्त हाथी की तरह उसी प्रकार

गुंजता रहा । उसने धृष्टता के साथ कहा—'द्रौपदी, अब तुम मेरी भाभी नहीं, दासी हो । तुमने मेरे प्रति जिन शब्दों का व्यवहार किया था वे क्षम्य नहीं हो सकते ।' क्रुद्ध दुर्योधन ने दुःशासन को सम्बोधित करते हुए कहा—'अविलम्ब इस चेटी को सारे सभासदों के बीच वस्त्रविहीन कर दो ।' यह सुनते ही दुःशासन द्रौपदी की ओर बढ़ा और उसकी साड़ी को खींचने का प्रयत्न करने लगा । उस समय द्रौपदी ने कातर नेत्रों से सभासदों की ओर देखा और भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र विदुर आदि अपने बड़ों को सम्बोधित करते हुए कहने लगी—'मेरे कुलवृद्धों ! आपके सामने आपकी एक कुल-वधू की इज्जत ली जा रही है, क्या आप इस प्रकार ही देखते रहेंगे ?

शील का चमत्कार

लगता था मानो सारे कुलवृद्धों को काठ मार गया हो । निर्जीव पुतली की तरह वे सभी देखते रहे किन्तु किसी में भी बोलने का साहस नहीं हुआ । पाण्डव तो बोल ही क्या सकते थे । पराजित मनुष्य की जो स्थिति होती है, पाण्डव उसी प्रकार से अधोमुख स्थित थे । द्रौपदी ने अपनी ओर से दुःशासन को काफी डांटा-फटकारा । किन्तु वह नहीं माना, द्रौपदी की साड़ी खींचने लग ही गया । द्रौपदी ने चारों ओर नजर उठाकर देखा, किन्तु कहीं भी उसकी रक्षा करने वाला कोई भी दिखायी नहीं दे रहा था । अन्त में उसने अपने मन को सुदृढ़ बनाया और भगवान् के ध्यान में लीन हो गयी । उसे पता नहीं कि उसके साथ क्या हो रहा है । इस स्थिति में शील-सहायक देव तत्काल ही वहां पहुंचे । दुःशासन एक-एक कर साड़ियां उतारता गया एवं शील-सहायक देवता वैसे ही एक-से-एक आगे तैयार करते गए । कहा जाता है कि साड़ियां उतारते-उतारते दुःशासन के हाथ दुखने लग गये । एक सौ आठ साड़ियों का वहां पर ढेर लग गया । न जाने और भी कितनी साड़ियां निकल सकती थीं । किन्तु दुःशासन हार गया । वह द्रौपदी को वस्त्र-विहीन न कर सका तो न ही कर सका ।

पाण्डव–वनवास

शील का अद्भुत चमत्कार देखकर सभी चित्रित-से हो रहे थे। ऐसा करने में सभी लोग एक प्रकार के कष्ट का अनुभव कर रहे थे। अन्त में विदुरजी के आग्रह से महाराज धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को इस अन्याय से रोका, और पाण्डवों को बारह साल तक वन में रहने का आदेश दिया और एक साल का गुप्तवास। आदेश प्राप्त होते ही पांचों पाण्डव, मां कुंती और द्रौपदी ने वन के लिए प्रस्थान कर दिया। माता कुंती, द्रौपदी और पाण्डवों ने वनवास में अनेक प्रकार के कष्टों का सामना किया। 'विपदि धैर्य' इस जनश्रुति के अनुसार पाण्डवों ने अपने कष्ट के समय को धैर्य और समता से निकाला। कहा जाता है कि एक बार द्रौपदी पाण्डवों से बिछुड़ गई थी और वह रास्ता भूलकर जंगल में भटक गयी थी। मार्ग में उसे एक महा अजगर और एक शेर मिले, द्रौपदी ने और कोई उपाय नहीं देखकर उनके सामने एक लकीर खींची और कहा कि यदि मेरा शीलधर्म सच्चा है तो इस लकीर को लांघ आगे मत आना। अजगर और शेर वहां से लौटकर चले गए एवं द्रौपदी को भी सही मार्ग प्राप्त हो गया। वह भी पाण्डवों के साथ आ मिली। इस प्रकार शील के प्रभाव से द्रौपदी ने वनवास-काल में पाण्डवों को और अपने आप को अनेक प्रकार के कष्टों से उबारा।

कीचक और सैरंध्री

वनवास के बारह वर्ष बीत जाने के पश्चात् पांचों पाण्डव, मां कुन्ती और द्रौपदी गुप्त प्रवास का एक वर्ष बिताने के लिए महाराज विराट की राजधानी में पहुंचे। पाण्डवों ने अपने नाम बदल दिये और विभिन्न वेश-भूषा धारण कर पांचों भाई पृथक-पृथक रूप से कार्यों पर संलग्न हो गये। द्रौपदी ने अपना नाम सैरंध्री रखा और महाराज विराट की पटरानी के पास एक दासी के रूप में रहने लगी। महाराज विराट का कीचक भी वहीं रहता था। द्रौपदी के रम्य रूप पर वह मुग्ध हो

गया और अनुचित हरकतें करने लगा । द्रौपदी उसकी भावना को युक्ति के साथ टालती रहती थी, किन्तु कीचक बड़ा ही कामुक था । उसने एक दिन सैरंध्री को मार्ग में रोककर काफी तंग किया । सैरंध्री ने अपनी सारी घटना आद्योपांत भीम से कह सुनायी ।

भीम ने सैरंध्री से कहा—'प्रिये ! भयभीत होने की कोई बात नहीं है, तुम उससे कह देना कि शहर से बाहर जो रंगशाला है वहां आज संध्या-समय मिल लेना । यहां रास्ते पर छेड़-छाड़ करना ठीक नहीं ।' बस कीचक तो फूल गया और अपनी संध्या की तैयारी में लग गया । इधर भीम ने द्रौपदी के कपड़े और आभूषण पहने और कीचक से पहले ही वह उस रंगशाला में पहुंच गये । बाद में कीचक भी वहां पहुंचा । उसने जब उस भवन में प्रवेश किया तो उसको भीम ने काफी देर तक छकाया और अन्त में उसी आलय के बीम को उठाकर उसके नीचे दबाकर मार डाला ।

महायुद्ध

एक साल का गुप्त प्रवास पूरा होने के पश्चात् पाण्डव प्रकट हुए । उन्होंने कौरवों के पास दूत भेजकर कहलवाया कि पाण्डवों का वनवास और गुप्त प्रवास दोनों पूरे हो चुके हैं । अब आप उन्हें उनका राज्य सौंप दें । किन्तु दुर्योधन ने इस बात को बिलकुल स्वीकार नहीं किया । महाराज कृष्ण ने भी काफी कहा, किन्तु दुर्योधन ने किसी की नहीं सुनी । अन्त में दोनों ओर से सेनाओं की तैयारियां हुईं । दुर्योधन और अर्जुन दोनों कृष्ण के पास पहुंचे । दुर्योधन ने महाराज कृष्ण से सारे सैन्यबल की याचना की और अर्जुन ने केवल कृष्ण को ही चाहा । इस प्रकार सारा सैनिक बल दुर्योधन की सेना के साथ था । इधर कृष्ण अकेले अर्जुन के सारथी बने । यह महाभारत का युद्ध बड़ा ही प्रलयंकारी था । कहा जाता है कि यह युद्ध अठारह दिन चला था और अठारह ही दिनों में अठारह अक्षौहिणी सेना का अन्त हो गया । इस महायुद्ध में अनेक महायोद्धा भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण, जयद्रथ, शल्य, द्रुपद, धृष्टद्युम्न तथा वीर अभिमन्यु जैसे अनेक वीर धरती माता की

गोद में समा गये । जीवित रहने वालों में केवल कृष्ण, पांच पाण्डव, सत्यकी, कृपाचार्य, अश्वत्थामा एवं कृतवर्मा— ये दस व्यक्ति थे ।

द्रौपदी की क्षमा

इस भीषण युद्ध की विभीषिका अभी कुछ-कुछ चल ही रही थी । कौरवों की पूर्ण रूपेण पराजय हो चुकी थी । फिर भी पाण्डवों की कुछ-न-कुछ क्षति करने के लिए उद्यत रहते । द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने एक प्रतिज्ञा की कि मैं आज पांचों पाण्डवों का वध करके ही घर लौटूंगा । वह एक चोर की तरह रात्रि के समय पाण्डवों के शिविर में घुसा और दबे पांव पाण्डवों को ढूंढने लगा, किन्तु उस रात्रि के महाघोर अंधेरे में वह पाण्डवों को तो प्राप्त नहीं कर सका किन्तु द्रौपदी के पांचों पुत्र जो कि एक ही स्थान पर सोये हुए थे, अश्वत्थामा ने उन्हें ही पाण्डव समझकर मौत के घाट उतार दिया । सवेरा होते ही जब पता चला तो बेचारे अश्वत्थामा को तो पाला ही मार गया । पर अब हो भी क्या सकता था ।

द्रौपदी ने जब यह देखा तो उसके ऊपर दुःख के पहाड़ ढह पड़े । वह शोक में विह्वल हो गयी और बेहोश होकर भूमि पर गिर पड़ी । पाण्डवों ने उसे सचेत किया । उन्होंने द्रौपदी को अनेक प्रकार से धैर्य बंधाया, भीम और अर्जुन ने वायदा किया कि तुम्हारे पुत्र-घाती को जीवित लाकर तुम्हारे सामने उपस्थित करेंगे । भीम और अर्जुन दोनों ने सारे दिन के युद्धोपरांत अश्वत्थामा को पकड़ा और द्रौपदी के सम्मुख ले जाकर खड़ा किया । द्रौपदी से उन्होंने कहा—'यह तुम्हारा पुत्रघाती तुम्हारे सम्मुख है, इसे तुम चाहो उसी प्रकार की मृत्यु का दण्ड दो । द्रौपदी ने उसकी दयनीय स्थिति देखकर भीम और अर्जुन से कहा—'प्रिय पुत्रों के दुःख से जैसे मैं रो रही हूं, इसकी मां भी (जो कि आपकी गुरुआनी है) रोएगी । इसे मारने पर भी मेरे पुत्र तो मुझे मिल नहीं सकते, फिर इसे मारने से क्या लाभ । प्रिय ! मेरी इच्छा है कि हम इसे अभयदान देकर छोड़ दें और ज्ञान के द्वारा अपने पुत्रों की व्यथा को भी हम भूल जायें, ऐसा मेरा अनुरोध है ।' द्रौपदी के इस

निवेदन पर अश्वत्थामा को छोड़ दिया गया । इसी का नाम है क्षमा, कहा भी है 'मार सके मारे नहीं ताका नाम मर्द' ।

द्रौपदी-हरण

विजयोल्लास के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर को पुनः राज्याभिषेक किया गया । पाण्डव अब फिर पहले की तरह ही अपनी राज्य व ऋद्धि का उपभोग करते हुए सुखी जीवन बिता रहे थे ।

इसके अन्तर्गत ही एक घटना-चक्र फिर सामने आ उपस्थित हुआ । एक दिन अपने आलय में द्रौपदी केश-विन्यास में लगी हुई थी, कि अकस्मात् ही महाराज नारदजी आ टपके । द्रौपदी ने अनदेखा कर दिया । नारदजी महाराज का पारा गर्म हो गया । उन्होंने सोचा, इसे अपने रूप का गर्व हुआ है । मुझे नमस्कार तक नहीं किया, इसने मेरा अपमान किया है । नारदजी बिना कुछ कहे ही वहां से सीधे घातकी खण्ड के दक्षिण भारत की अमरकंका नगरी में पहुंचे और महाराज पद्मनाभ को द्रौपदी का रेखाचित्र बतलाया जो कि उन्होंने रास्ते में चलते-चलते ही बना लिया था । महाराज पद्मनाभ द्रौपदी की रूपराशि पर मुग्ध हो गए । उन्होंने रातों-रात ही सोती हुई द्रौपदी का पल्यंक मंगवा लिया । उन्होंने द्रौपदी को अपनी भावना जताई उसने कहा कि यदि आप अपनी खैरियत चाहते हैं तो एक सप्ताह तक इस विषय की मेरे से कोई चर्चा न करें । मैं समझती हूं इसी में आपका और मेरा दोनों का मंगल है । प्रातःकाल जब अपने भवन में द्रौपदी नहीं मिली तो पाण्डव बड़े ही चिंतित हुए । उन्होंने स्थान-स्थान पर खोज करवाई, किन्तु द्रौपदी का कहीं भी पता न लगा । आखिर वापस घूमते-फिरते नारद महाराज ही वहां पहुंच गए । पाण्डवों को चिंतित देखकर उन्होंने बतलाया कि घातकी खण्ड की राजधानी अमरकंका नगरी में महाराज पद्मनाभ के राजमहलों में एक द्रौपदी जैसी ही बहन को देखा था, सम्भवतः वही हो सकती है । बस इतनी-सी बात कहकर ही नारदजी महाराज तो अदृश्य हो गए । पाण्डवों के लिए घातकी खण्ड में पहुंचना

अत्यन्त कठिन था। किसी सूरत में घातकी खण्ड पहुंच भी जाएं तो महाराज पद्मनाभ के हाथों से द्रौपदी को निकलवाना फणधर से मणि निकलवाने के तुल्य था। पाण्डव हर प्रकार से निरुपाय थे। उन्हें कोई भी युक्ति नहीं सूझ रही थी। महासती कुन्ती ने उन्हें निरुपाय देखकर महाराज कृष्ण को बुलवाया। उन्हें सारी बातें समझाई और पाण्डवों को उनके साथ भेजा। महाराज कृष्ण ने पद्मनाभ से युद्ध कर उसे द्रौपदी को वापस लौटाने के लिए बाध्य कर दिया। पद्मनाभ ने द्रौपदी के पास आकर जीवन-दान की भीख मांगी, द्रौपदी ने कहा—'भइया! अगर जीवित रहना चाहते हो तो भीगे कपड़े पहनकर मुझे साथ लेकर चलो, अभी तुम्हारा कार्य सिद्ध हो जाएगा। पद्मनाभ ने द्रौपदी के कहे अनुसार ही कार्य किया। महाराज कृष्ण ने उन्हें अभयदान दिया और द्रौपदी को पाण्डवों को सौंप दिया।

हास्य के कटु फल

द्रौपदी को साथ लेकर उन्होंने सुरक्षित देवता की सहायता से लवण समुद्र पार किया। महाराज कृष्ण ने पाण्डवों से कहा—'देखो आगे गंगा नदी आ रही है। तुम लोग उसे पार कर वहां ठहरना, और मेरे लिए नौका वापस भेज देना, मैं अभी सुरक्षित देव से कुछ आवश्यक बातें कर पीछे से शीघ्र ही आ रहा हूं।' ज्यों ही गंगा नदी आई पाण्डव द्रौपदी आदि के साथ नौका से पार कर गए। किन्तु नौका वापस नहीं भेजी। देखें श्रीकृष्ण बिना नौका के गंगा को कैसे पार करते हैं। महाराज कृष्ण बड़ी शीघ्रता के साथ वहां पहुंचे किन्तु जब उन्होंने वहां नौका नहीं देखी तो क्रोध में लाल हो उठे। उन्होंने एक हाथ में रथ और अश्वों को थामा। और फिर तैरकर पाण्डवों के पास पहुंचे। उन्होंने कहा—'नौका क्यों नहीं भेजी? पाण्डवों ने कहा—'हम तो आपकी परीक्षा ले रहे थे कि देखें नौका के बिना आप किस प्रकार गंगा को पार करते हैं?' महाराज कृष्ण को यह बहुत ही बुरा लगा। उन्होंने पाण्डवों को उपालंभ देते हुए कहा—'अक्षम कहीं के! तुम्हें शरम नहीं आती जो मेरे साथ इस प्रकार का व्यवहार किया। मेरी परीक्षा अभी

बाकी रह गई । इतने बड़े महायुद्ध में तुम्हें जिता दिया, फिर भी परीक्षा अभी तक अवशेष रह गई ।' पाण्डवों ने महाराज कृष्ण से क्षमा-याचना की बहुत-बहुत नम्रता की किंतु उनका क्रोध शांत नहीं हुआ । वे पाण्डवों को शेष करने के लिए कटिबद्ध हो गए । द्रौपदी ने उनके पैर पकड़े, क्षमा याचना की । इस प्रकार द्वारकानाथ महाराज कृष्ण ने द्रौपदी के कहने से उन्हें जीवन से तो नहीं मारा, किन्तु उन्हें देश से निर्वासित अवश्य कर दिया । उन्होंने कहा—'पाण्डवों अब, तुम मेरे लायक नहीं रहे । मेरे देश से निकल जाओ । मैं तुम्हें अपने राज्य से निर्वासित करता हूं ।'

पाण्डव हस्तिनापुर को छोड़कर कृष्ण की आज्ञा से दक्षिण समुद्र के तट पर पाण्डव मथुरा नाम की नगरी बसाकर वहां निवास करने लगे । द्रौपदी ने वहां एक पुत्र को जन्म दिया । उसका पाण्डु-सेन नाम रखा गया । उसके बड़े होने पर पाण्डवों ने उसे राज्य देकर द्रौपदी सहित दीक्षा ग्रहण की । पांचों पाण्डव पादोपगमन संथारा लेकर मोक्ष गए एवं द्रौपदी पांचवें स्वर्ग में महर्धिक देवता बनी, भवान्तर में मुक्त हुई ।



महासती राजीमती

राजीमती वैसे नर नहीं, नारी थी किन्तु उसने रथनेमि को मार्ग पर लाने के लिए जो कार्य किया, वह पुरुषों को मात देने वाला था। उनका यह कार्य लोगों में एक बड़ा ही चमत्कार पैदा करने जैसा था। निर्जन स्थान और अकेली स्त्री को पाकर मनुष्य का मन विकारों से विकल हो उठता है। महासती राजीमती के साथ भी एक ऐसा ही प्रसंग बना था। ऐसा स्थिति में उस अकेली नारी ने रथनेमी के उस मदोन्मत्त मनमतंग को अपने वचनों के द्वारा स्थिर किया। यह एक आलौकिक घटना थी।

राजीमती का परिचय

लगभग अस्सी-नब्बे हजार वर्ष पूर्व यदुवंश में दो महाप्रतापी राजा हुए। पहले अन्धक-वृष्णि जो शौरीपुर का राज्य करते थे, दूसरे भोजक-वृष्णि जो मथुरा की राजगद्दी पर आसीन थे। महाराज अन्धक-वृष्णि के दस पुत्र और दो पुत्रियां थीं। पुत्रों में सबसे बड़े समुद्र विजय थे। जिनके अरिष्टनेमि आदि अनेक पुत्र हुए। सबसे छोटे पुत्र वसुदेवजी थे। जिनके श्रीकृष्ण बलभद्र आदि अनेक पुत्र हुए। सबसे छोटे पुत्र भोजक-वृष्णि के दो पुत्र थे। उग्रसेन और देवक। महाराज देवक मृतिकावती नगरी का अनुशासन करते थे। महाराज कृष्ण की माता देवकी उनकी ही पुत्री थी। राजा भोजक-वृष्णि के ज्येष्ठ पुत्र महाराज उग्रसेन मथुरा का राज्य करते थे। उनके पुत्र का नाम कंस और सत्यभामा तथा राजीमती ये दो पुत्रियां थीं। सत्यभामा महाराज कृष्ण ब्याही गई थी। राजीमती ज्यों ही यौवनावस्था को प्राप्त हुई,

महाराज उग्रसेन उसके वर के लिए चिंतित रहने लगे । योग्य वर का अन्वेषण करने लगे । माता-पिता का प्रथम कर्तव्य होता है कि अपनी कन्या के लिए योग्य वर ढूंढें और योग्य वर के साथ उसका पाणिग्रहण करवायें । अगर उसके पश्चात् कोई कमी रहे तो यह उस कन्या के भाग्य की बात कही जायेगी ।

एक दिन क्रीड़ा करते हुए कुमार अरिष्टनेमि महाराज कृष्ण की आयुधशाला में पहुंच गए । वासुदेव का शस्त्रागार देखा, जहां पर अनेक प्रकार की तोपें, बन्दूकें धनुष-बाण, तलवारें, भाले, कुन्तल आदि न जाने कितने प्रकार के शास्त्र करीने से सजाए हुए पड़े थे । अरिष्टनेमी ने एक-एक को उठाकर देखा और यथास्थान पर रख दिया । एक स्थान पर उन्होंने महाराज कृष्ण का पंचायन शंख देखा । उन्होंने उसे हाथ में लिया और बजाया कि सारी की सारी द्वारिका नगरी कांप उठी । द्वारपाल अत्यन्त व्यग्रता के साथ दौड़कर अन्दर आया और कहने लगा—"धारणी-धर श्रृंग धरंत धराधर, वृक्ष कड़ाकर भांजियेजु । तड़ातड़ ताड़कि श्रेणि तुटंत समुद्र गड़ागड़ माजियेजु । धसकंत धरा खिसकंत सुरासुर दानव मानव लाजियेजु । तुम सुन्दर श्याम जदु-पति हो, टुक शंख धिरे-धिरे बाजियेजु ? महाराज ! यहां तो किसी भी वस्तु के हाथ लगाने तक की मनाही है । वहां आपने तो शंख बजाकर प्रलय ही मचा दिया । सचमुच ही अरिष्टनेमि ने बाहर झांककर देखा तो सारी द्वारिका के आलय अस्त-व्यस्त हो रहे थे । अनेकों बड़े-बड़े पुराने वृक्ष भी धराशायी बन चुके थे । पर्वतों के टोंक लुढ़क-लुढ़ककर नीचे गिर चुके थे । इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने के कारण सारा जन-जीवन भय-भ्रांत हो रहा था । भगवान कृष्ण भी अत्यन्त व्यग्रता के साथ वहां पहुंचे और स्थिति का अवलोकन किया । भगवान अरिष्टनेमि के अतुल बलिष्ठ होने का परिचय प्राप्त कर के चिंतित से हो उठे । उन्होंने सोचा कि अब इसका विवाह कर देना चाहिए । किसी भी प्रकार से इसकी शक्ति घटाना अत्यावश्यक है, पता नहीं, यह किसी समय मेरा राज्य भी छीन सकता है ।

याचना की । महाराज उग्रसेन ने तत्काल ही सम्बन्ध पक्का कर दिया । राजीमती का सम्बन्ध भावी तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि के साथ निश्चित हो गया । इससे बढ़कर अच्छा सम्बन्ध और कौन-सा हो सकता था । इस प्रकार सोच कर महाराज उग्रसेन ने सावन शुक्ला छठ विवाह का दिन भी निश्चित कर दिया । सारे यादव कुल ने भावी भगवान का विवाह करने के लिए, एक बहुत बड़ी बारात लेकर मथुरा के लिए प्रस्थान किया । उस बारात में हाथी, घोड़े और रथ कितने थे, जिनकी गणना करना आदमी की शक्ति से बाहर की बात थी । पैदल मनुष्यों की संख्या करना भी सामान्य मनुष्य के वश की बात नहीं थी । इस प्रकार अनेक प्रकार के वाद्य और अन्यान्य ढोल-ढमकों के द्वारा जमीन और आकाश एक कर रहे थे । बाराती लोग विभिन्न प्रकार की वेश-भूषा में सुशोभित थे । दूल्हा राजकुमार अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के पटहस्ती पर विराज रहे थे । पटहस्ती अत्यन्त मंदगति से समस्त बारातियों के आगे-आगे चल रहा था । पटहस्ती जैसे ही महाराज उग्रसेन के आवासों के आस-पास पहुंचा कि एक अद्भुत दृश्य देखकर राजकुमार अरिष्टनेमि का हृदय कांप उठा ।

विरक्त भावना का आविर्भाव

राजपुतों में मांस खाने का प्रचलन तो पहले से ही चला आ रहा था । विवाह-शादियों में मद्य और मांस का विशेष रूप से प्रचलन था । इसी कारण महाराज उग्रसेन के भात में मांस का विशेष प्रयोग करना चाह रहे थे । अतएव उन्होंने बकरे, मेमने, हिरण, खरगोश आदि अनेक प्रकार के पशु और पक्षियों का संग्रह एक महाकाय बाड़े में कर रखा था । जैसे ही वाद्यों के शब्द उनके कानों में पहुंचे, वे भयभीत होकर इधर-उधर उछल-उछलकर, कूद-फांद करने लगे । वे भयग्रस्त तो पहले से ही थे किन्तु वाद्य और बहुत सारे मनुष्यों का देखकर अत्यन्त भयभीत हो उठे । भगवान अरिष्टनेमि इस दृश्य को देखकर चौंके । उन्होंने महावत से पूछा 'भैया ! यह क्या मामला है । इस निरीह प्राणियों को यहां

किसलिए रोका गया है ? मैं देख रहा हूं ये सभी प्राणी मुक्त होने के लिए छटपटा रहे हैं । फिर भी उन्हें कैद कर रखा है । प्रिय सखे ! क्या बात है ? महावत ने निवेदन किया—'भगवन् ! जितने भी पशु-पक्षी आप देख रहे हैं इन सबको मौत के घाट उतारा जायेगा और इनके मांस का बारातियों को भोज दिया जायेगा ।

सो ऊण तस्स वयणं, बहुपाणि विणासणं
चिंतेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहिउ ।
जइ मज्झकारणाए, हम्मिहिंति बहुजिया
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सइ ।'

महावत की बात सुनकर भगवान अरिष्टनेमि के विचार बदल गये । उन्होंने सोचा यदि मेरे निमित्त इतने प्राणी मौत के घाट उतारे जाते हैं, तो मेरे लिए यह श्रेयस्कर नहीं है । जहां लाखों प्राणियों की हिंसा का निमित्त बनना पड़े, ऐसा कार्य मेरे लिए उत्तम नहीं हो सकता । इस प्रकार का चिन्तन कर उन्होंने महावत से हाथी को वापस मोड़ने के लिए कहा, एवं अपने शरीर के ऊपर से एक-एक आभूषण उतार-उतारकर महावत को सौंप दिए । इसी प्रकार बिनोली पोषाक भी उतारकर महावत को सौंप दी गई और पटहस्ती को वापस मोड़ लिया गया । वातावरण कुछ दूसरी प्रकार का बना देखा, तो महाराज श्रीकृष्ण बलदेव और दशों दशारण स्थिति को संभालने के लिए तत्काल ही वहां पहुंचे । राजकुमार अरिष्टनेमि को काफी समझाने का प्रयत्न किया गया । किन्तु सब निष्फल, बिना ही विवाह के वापस घर लौट आये । घर पर पहुंचकर उन्होंने सारे परिवार के सामने दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की ।

हर्ष और शोक का सम्मिश्रण

इधर मौलिक आभूषणों और वस्त्रों से वेष्टित राजकुमारी राजीमती अपनी सखियों से आमोद-प्रमोद की लहरों में बही जा रही थी । भावी

दाम्पत्य जीवन के सागर में गोते लगा रही थी, कि उसे एकाएक राजकुमार अरिष्टनेमि के वापस लौटने के समाचार मिले । राजकुमारी राजीमती को अपार दुःख हुआ । वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी । नाना प्रकार के उपचारों से उसे सचेत किया गया । राजकुमारी बिलाप करती हुई भगवान अरिष्टनेमि को उपालम्भ देने लगी । उसने उनसे कहा—'प्रभो ! हम पिछले कई जन्मों से साथ-साथ जीवन बिताते चले आ रहे थे । भगवन् ! मुझे पता नही मेरे द्वारा ऐसा कौन-सा अपराध हुआ है जिसके कारण कि आप मुझे त्याग कर चले गए । कम से कम एक बार मिलकर मेरे सुख-दुख की बातें तो सुन लेते । मैं आपको कोई पकड़कर थोड़े ही रखती । मैं नहीं समझती थी कि आप मुझे इस प्रकार से त्रिशंकु की तरह लटकाकर छोड़ जाएंगे । खैर आपने जो कुछ भी किया, किन्तु मैंने तो अपने हृदय मन्दिर में निश्चित रूप से आपको ही धारण किया है । मैं देखती हूं यहां तो आप मुझे छोड़कर चले गए किन्तु मोक्षनगर में मैं आपको आगे तैयार मिलूंगी । यहां तो आप मुझे छोड़कर चले गए किन्तु वहां से कहां जायेंगे । इस प्रकार राजकुमारी को विलाप करती देखकर कुछ सहेलियां कहने लगी—'बहन ! तुझे इतना खेद नहीं करना चाहिए । तुम्हारे लिए हम इससे भी अच्छे वर का अन्वेषण करेंगी । यह काले रंग का दूल्हा तुम्हारे मन को कैसे भा गया । हम लोगों को तो यह दूल्हा बिल्कुल ही पसन्द नहीं था । कहां तो तुम्हारा गौर वर्ण और देवकुमारी-सी सुन्दरता एवं कहां अरिष्टनेमि ! पता नहीं यह ऐसा मेल किसने मिलाया । प्यारी सखी ! यह तो बहुत ही अच्छा हुआ है, सांप भी मर गया और लाठी भी नहीं टूटी ।'

राजीमती ने उन सबको डांटते हुए कहा—'प्यारी बहनों ! तुम कैसी बातें करती हो, तुम्हें इस प्रकार व्यर्थ की बातें नहीं करनी चाहिए । पति जीवन में एक ही बार चुना जाता है, फिर चाहे वह सांवरे हों या गोरे, अतः मेरे पति तो राजकुमार अरिष्टनेमि ही हैं । मेरी प्यारी सखियों ! कुछ आन्तरिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न भी करना

चाहिए । पता नहीं कितनी दार इन भौतिक सुखों का आनन्द लिया है । अनन्त-अनन्त जन्मों से हमारे जीवन का यही क्रम रहा है । मैं देखती हूं फिर भी इन भौतिक सुखों से कोई तृप्ति मिली हो, ऐसी बात नहीं है । अतः अब मैं इन भौतिक भोगों को तिलांजलि देकर सदा-सदा के लिए छुटकारा पाना चाहती हूं' । इस प्रकार राजीमती पूर्ण विरक्ति से भरकर अपने घर पर रहती हुई ही साधना में लीन रहने लगी ।

रथनेमि और राजीमती

रथनेमि भगवान अरिष्टनेमि के लघु भ्राता थे । इन्होंने जब राजकुमार अरिष्टनेमि द्वारा राजीमती को त्यागने की बात सुनी तो इनके मुंह से लार टपकने लगी । इन्होंने तत्काल ही एक पत्र लिखा और उसे राजीमती के पास पहुंचाने का प्रयत्न करने लगे । उसी क्षण उन्हें एक चेटी मिली और उसे वह पत्र देकर राजकुमारी राजीमती के पास भेजा । किन्तु उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था । अतः वे स्वयं भी उसी ओर चल पड़े । राजकुमारी राजमती के पास पहुंच कर उनसे विकृत बातें करने लगे । राजीमती को उनकी भावना समझने में देर नहीं लगी । वह तत्क्षण ही अन्दर गई और एक गुटिका मुंह में डाली कि उसी क्षण वमन हो गई । वमन का बर्तन रथनेमि के सामने रखते हुए कहा—'जरा इसे चखिए ।'

राजीमती का यह कहना था कि रथनेमि उत्तेजित हो उठा । वह जोर-जोर से कहने लगा—'क्या मैं किसी गली का कुत्ता हूं ? क्या मैं किसी जंगल में रहने वाला कौवा हूं ? जो इस तुम्हारे वमन को चाटूं । तुम्हें इस प्रकार कहते हुए लज्जा का अनुभव नहीं होता ?'

राजीमती ने कहा—'मेरे प्यारे देवर जी ! आप वमन चाटना तो पसन्द नहीं करते, किन्तु मुझे अपनाना चाहते हैं । पर मेरा आपसे प्रश्न है कि क्या मैं राजकुमार अरिष्टनेमि की परित्यक्ता नहीं हूं ? क्या मैं अरिष्टनेमि द्वारा वमित हुई वमन नहीं हूं ? यदि हूं तो उस वमन को

चाटने में संकोच कैसा ? रथनेमि बड़े लज्जित हुए और बिना ही कुछ कहे वहां से वापस लौट गये ।

राजीमती की इस युक्ति से उन्हें बड़ी विरक्ति हुई और वे दीक्षित होकर घोर तपश्चर्या में लीन हो गये । भगवान अरिष्टनेमि बारह महीनों तक उसी विरक्तावस्था में रहे । उन्होंने परम्परा के अनुसार उसी अवस्था में बारह महीनों तक वार्षिक दान दिया और फिर श्रावण शुक्ला छठ को दीक्षित हो गये । भगवान अरिष्टनेमि चौवन दिन तक छद्मावस्था में रहे । तत्पश्चात् वे केवल ज्ञानी बने, देशनादि और चार तीर्थ की स्थापना की । भगवान अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर कहलाए । राजकुमारी राजीमती ने जब यह समाचार सुना तो उसके हृदय में आनन्द का समुद्र लहराने लगा । वह तत्काल ही तैयार हुई और अपनी सात सौ सहेलियों के साथ भगवान अरिष्टनेमि के समवसरण में पहुंची । वह अपनी सभी सहेलियों के साथ भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हो गई । भगवान अरिष्टनेमि ने उन्हें हर प्रकार से योग्य पाकर अपनी चालीस हजार श्रमणी समुदाय की प्रवर्तिनी (अध्यक्षा) घोषित कर दी । महासती राजीमती अपनी उन सभी साध्वियों की सार-संभाल करने में पूर्ण तत्परता दिखलाई ।

रथनेमि विचलित

एक बार राजीमती अनेक साध्वियों के परिवार से कहीं दूसरे स्थान पर जा रही थीं । उन्हें रास्ते में तूफान और वृष्टि का सामना करना पड़ा । वे उस समय रैवतिक पर्वत पर आरोहण कर रही थीं । तूफान और अति वर्षा के कारण उनके साथ की सभी साध्वियां तितर-बितर हो गईं, वे सभी एक-एक के रूप में इधर-उधर बिखर गईं । महासती राजीमती भी अकेली पड़ गईं और वे एक गहरी गुफा का द्वार सामने पाकर उसमें प्रविष्ट हो गईं । उनके वस्त्र भीग गये थे । कुछ सुस्ताकर उन्होंने अपने वस्त्र निचोड़ने के लिए शरीर से उतारे । उन्होंने वहां

एकान्त समझकर वस्त्र उतारे थे। किन्तु जैसे ही बिजली कौंधी, उन्होंने देखा कि भीतर रथनेमि मुनि ध्यान कर रहे हैं।

महासती राजीमती ने तत्काल ही अपने शरीर पर वस्त्र लपेटे। इधर रथनेमि ने भी महासती राजीमती को विद्युत के प्रकाश में निर्वसन रूप में देखा तो भोगों के लिए लार टपक पड़ी। वे संयम की मर्यादा को भूल गये एवं महासती से भोगों की प्रार्थना करने लगे—'प्रिये! यह हमारी अवस्था योग की नहीं भोग की है। मैं चाहता हूं अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। इस सुअवसर को हम अपने हाथ से न खोएं। भद्रे! अब विलम्ब नहीं करना चाहिए।' 'शुभस्य शीघ्रं' इस जनश्रुति के अनुसार अब हमें शीघ्र ही गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो जाना चाहिए। जिन्दगी का आनन्द लें और बाद में संयम ग्रहण कर आत्म-कल्याण करेंगे।'

'मुने! तुम्हें याद होगा जब तुम गृहस्थ जीवन में थे, मुझसे विवाह करना चाहा था, तो मैंने तुम्हें समझाने के लिए अपना वमन चाटने के लिए कहा था। प्रत्युत्तर में तुमने कहा था कि क्या मैं कुत्ता और कौवा हूं जो मैं तुम्हारा वमन चाटूं। किन्तु मुने! अब मैं देख रही हूं तुम स्वयं उस वमन को चाटने के लिए कुत्ते और काग बनने जा रहे हो। तुम्हें धिक्कार है! एक नहीं, लाख-लाख धिक्कार है! छिः! तुम उन काग और कुत्तों से भी नीचे गिरने जा रहे हो आर्य! महाराज समुद्र विजय और शिवा देवी के जीवन को भी पढ़ो। तुम महाराज अन्धकवृष्णि के पौत्र हो और मैं महाराज भोजराज की पौत्री हूं। हम दोनों के वंश अत्यन्त उज्ज्वल रहे हैं। उस उज्ज्वल चद्दर पर दाग लगाना हमारा काम नहीं है।

महासती राजीमती ने कहा—'ऋषिवर! आप तो चीज ही क्या हैं, एक बार तो मेरे सामने इन्द्र वैश्रमण या साक्षात् कामदेव भी आ जाए तो भी मेरा मन विचलित नहीं हो सकता। मुने! मेरा मन मेरे हाथ में है और वह अत्यन्त दृढ़ है। आपको शर्म का अनुभव होना चाहिए। आप भगवान अरिष्टनेमि के त्याग पर भी ध्यान दें। मैं चाहती हूं कि

आपका मन जो संयम से विचलित हो गया है, उसे वापस संयम और स्थिरता में स्थापित करें एवं प्रायश्चित कर शुद्ध संयम का निर्वाह करते हुए अपने लक्ष्य को प्राप्त करें ।'

महासती राजीमती के वचनांकुश से रथनेमि का मन मतंग स्थिर हो गया । वे अपनी गलती के लिए पश्चात्ताप करते हुए भगवान अरिष्टनेमि के समवसरण में पहुंचे और अपने किये गये दोषों का प्रायश्चित कर वे ऋजुभावों से संयम पालते हुए विचरने लगे । घोर तपस्या और सद्ध्यान के द्वारा कर्मों को क्षय कर एक दिन महानन्द स्थान को प्राप्त हो गए ।

इधर महासती राजीमती भी भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ गिरनार पर्वत पर पहुंची, वे अनेक वर्षों तक भगवान अरिष्टनेमि की सेवा में रहीं, और शुद्ध चरित्र पालती रहीं । एवं अनेक साध्वियों को शुद्ध साधुत्व निभाने में सहयोग करती रहीं । वे अनेक प्रकार की तपस्याएं और अभिग्रह करती रहीं एवं दूसरों को प्रेरणा भी देती रहीं । इस प्रकार सद्ध्यान और सत् स्वाध्याय से सर्वकर्मों को नष्ट कर भगवान अरिष्टनेमि से चौवन दिन पहले मोक्ष प्राप्त हुईं । सदा-सदा के लिए संसार के मायाजाल से निकलकर एक मुक्त वातावरण में प्रविष्ट हो गईं । अस्तु !

उनके आदर्श जीवन की कुछ अपूर्व विशेषताएं इस प्रकार हैं :—

वासनामुक्त जीवन,	उग्र तपस्या
वास्तविक प्रेम,	सच्ची पति-भक्ति, और
अखण्ड ब्रह्मचार्य,	गिरे हुए को उठाना ।
कठोर संयम,	

* * *

महासती पुष्पचूला

पुष्पचूला और पुष्पचूल दोनों बहन-भाई थे । दोनों ने ही अपनी मां की कोख से एक साथ जन्म ग्रहण किया था । दोनों एक साथ स्तन-पान करते थे । दोनों एक साथ सोते, एक साथ रहते, एक साथ खेलते-कूदते और क्रीड़ा करते थे । कुछ बड़े हुए, पढ़ने-लिखने के लिए पाठशाला भी साथ ही जाते थे । दोनों का पढ़ना एक बराबर, एक कक्षा में पढ़ते थे । कुछ भी हो इनका प्रेम इस प्रकार का था, कि वे एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते थे ।

समय बीतता गया, इनकी पढ़ाई भी पूर्ण हो चुकी । क्रमशः दोनों ने तरुणावस्था में प्रवेश किया, किन्तु इनका स्नेह पहले की तरह ही चलता रहा । इनके प्रेम में किसी प्रकार की वासना नहीं, काया-मिलाप के अनुराग से मुक्त, एक प्रकार से निश्छल और निष्पाप जीवन जी रहे थे ।

पुष्पचूला और पुष्पचूल दोनों महाराज पुष्पकेतु की संतान थे । महाराज पुष्पकेतु की नगरी पुष्पभद्रा थी । यह नगरी अत्यंत सुन्दर और हर प्रकार की शोभाओं से युक्त थी । महाराज पुष्पकेतु की रानी का नाम पुष्पवती था । महाराज पुष्पकेतु और महारानी पुष्पवती दोनों पुष्पचूला और पुष्पचूल का व्यवहार देखकर आश्चर्यचकित थे । इतनी बड़ी अवस्था प्राप्त होने पर भी इनका वही रंग, वही ढंग और वही आत्मीय भाव फिर भी इन दोनों का आमने-सामने मुंह कर एक शय्या पर सोना लोगों को अखरता था । इनका इस प्रकार का व्यवहार देखकर देखने वाले लोग चकित थे । यद्यपि इनके दिलों में किसी प्रकार

का पाप नहीं था, फिर भी युवा पुत्र, युवा पुत्री का यह एकांत सहवास अटपटा-सा लगता था। पिता के साथ भी अकेली पुत्री का सहवास शास्त्र-निषिद्ध है। तो फिर भाई-बहन का यों एक साथ सहवास कैसे उचित हो सकता है, इनकी यह स्थिति देखने वाले सभी लोगों को अखरती थी। किन्तु राजा से कौन कहे!

महारानी के सुझाव

एक दिन महारानी पुष्पवती महाराज पुष्पकेतु के पास पहुंची। उसने अवसर देखकर महाराज पुष्पकेतु से निवेदन किया, 'महाराज आपको ध्यान देना चाहिए। पुष्पचूला और पुष्पचूल ये दोनों अब सयाने और समझदार हो गये हैं। पुत्री पुष्पचूला के लिए किसी अच्छे वर की खोज कर उसके हाथ पीले करने हैं। इधर पुष्पचूल भी पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो चुका है। इसके लिए भी किसी योग्य कन्या का अन्वेषण आवश्यक है। अतः इस प्रकार निश्चिन्त बैठे रहने से कैसे काम चलेगा।' महाराज पुष्पकेतु ने महारानी की बात को स्वीकारते हुए कहा—'भद्रे! तुम्हारी ही तरह मैं भी चिंतित हूं, किन्तु इन्हें कैसे अलग किया जाए, यह भी हमारे लिए एक शोचनीय विषय है। इनका पारस्परिक प्रेम इतना प्रगाढ़ है, कि ये किसी भी प्रकार पृथक् रह ही नहीं सकते। प्रिये! अब तुम ही बतलाओ क्या किया जाये? इसके अतिरिक्त एक बात और है, वह यह है कि इनके पारस्परिक प्रेम में किसी भी प्रकार के विकार की गंध नहीं है। अतः ये दोनों विवाह न करके यों ही जीवन व्यतीत करते रहें तो अपनी कौन-सी हानि है।' रानी ने उत्तर देते हुए कहा—'महाराज हानि और लाभ की क्या बात है, मूलतः तो इनका इस प्रकार रहन-सहन मुझे तो बिलकुल उचित नहीं लगता। यह बिलकुल अव्यावहारिक है।'

महाराज पुष्पकेतु और पुत्र-पुत्री

महाराज पुष्पकेतु पर महारानी की बात का कुछ असर हुआ और वे अपने पुत्र-पुत्री को समझाने के लिए उद्यत हो गये। एक दिन जब

पुष्पचूला और पुष्पचूल को महाराज पुष्पकेतु ने विशेष रूप से प्यार करते हुए कहा—'मेरे लाडलो ! अब तुम सयाने और समझदार हो गये हो । संसार की रीति-रिवाजों को भी समझने लगे हो । अतः मुझे अब तुम दोनों का सम्बन्ध करना है । मैं समझता हूं कि कन्या पराया घर बसाती है, यह निश्चित है । अतः संसार का जो व्यवहार है उसी के अनुसार चलना पड़ेगा । बेटी ! अब मैं तुम्हारे लिए एक अच्छे वर की तलाश में हूं, अच्छा वर मिल जाए तो तुम्हारा विवाह कर दूं फिर तुम अपना घर बसाओ । इसी प्रकार पुष्पचूल के लिए भी किसी अच्छी कन्या की खोज कर रहा हूं, उसे भी विवाहित कर दूं, तो वह भी अपने घर की चिंता में लगे । जैसा संसार का विधि-विधान है वैसा ही अब हमें करना है । ताकि मैं चिंता से मुक्त हो जाऊं ।

पुत्र-पुत्री—'पिताजी ! आपके कथनानुसार आप हमें चिंता में डालकर चिंता-मुक्त बनने जा रहे हैं, ठीक है आपका तात्पर्य है कि मैं किसी एक दूसरे लड़के के साथ विवाह-बंधन में बंध जाऊं और भाई किसी दूसरी एक लड़की के साथ विवाह-बंधन में बंध जाए । किन्तु पिताश्री ! मेरा आपसे निवेदन है कि यह अनजाना संबंध न जाने कैसा रहे, अगर मेल ठीक नहीं बैठा तो आपको कहीं अधिक चिंतित होना न पड़ जाए ? अतः हम दोनों भाई-बहन यह विशुद्ध प्रेम, वासना-मुक्त प्रेम आपके सामने इसी घर में रहकर बिताएं । पिताश्री, आप इसी को हमारा घर बसाना व हमारा विवाह मान लें, हम समझते हैं इसमें आप भी चिंता-मुक्त रहेंगे और हम लोग भी । इसमें आपका भला है, हमारा भला है और सबका भला है ।' पिता ने कहा—'बिटिया ! तू भोली है, जो इस प्रकार की नादानी की बातें करती है । क्या समाज इसे कभी सहन कर सकता है ? जो संसार में रहता है, उसे सांसारिक व्यवहार निभाने भी परमावश्यक हैं ।'

पुष्पचूल ने भी पिता की दलीलें सुनीं, उससे चुप नहीं रहा गया । उसने अपने पिता से कहा—'पूज्य पिताजी ! जब हम दोनों बहन-भाइयों

का मन विशुद्ध एवं निर्विकार है । हमें अपने जीवन को विशुद्ध ढांचे में ढालकर आगे बढ़ना है । जहां बाल नहीं, बच्छा नहीं, कोई संतान नहीं, परिवार नहीं, मैं समझता हूं ऐसे व्यक्तियों का समाज से क्या तात्पर्य हो सकता है । मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है ।'

महाराज पुष्पकेतु ने कहा—'बेटे ! पिता के सामने इस प्रकार तर्क-वितर्क करना क्या उचित होता है ? जिसमें तुम दोनों का भला हो, मैं वही सोचकर कहता हूं । तुम मेरी संतान हो, मैं तुम्हारा बुरा कैसे कर सकता हूं । अतः तुम्हें मेरी बात पर ध्यान देना है, सामाजिक प्रथा के अनुसार समाज में रहने वाले व्यक्ति को विवाह के बंधन में बंधना ही होता है । यह एक शाश्वत तथ्य है ।'

पुष्पचूला और पुष्पचूल दोनों ही अपने पिता के सामने नतमस्तक थे । उन्होंने पिता की सारी बातें सुनीं, वे इस विषय में अब निरुपाय थे । उन्होंने कहा—'पिताजी जैसी आपकी इच्छा हो करें, किन्तु एक हमारी बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है, और वह यह है कि अलग-अलग रहकर हम जीते रहेंगे, ऐसा संभव कम लगता है । इससे आगे और हमें कुछ भी नहीं कहना है ।'

माता-पिता की विरक्ति

इस प्रकार पुत्र-पुत्री के विचार सुनकर महाराज पुष्पकेतु अवाक् रह गये । अपने पुत्र-पुत्री का विशुद्ध प्रेम और निर्विकारता देखकर वे गद्गद हो उठे । धन्य है इनका जीवन जो इस तरुणावस्था में भी कितने शांत और पवित्र हैं । एक मैं हूं जो वासनाओं के कीचड़ में डूबा जा रहा हूं । धिक्कार है मुझे जो इस वृद्धावस्था में भी काम का कीड़ा बना हुआ हूं । मैं सोचता हूं अब मुझे इन सांसारिक प्रपंचों को छोड़कर संयम शिखर की ओर मुड़ना चाहिए । महाराज पुष्पकेतु का मन वैराग्य से ओत-प्रोत हो उठा । वे तत्काल ही वहां से उठे और महारानी पुष्पवती के पास पहुंचे । उन्होंने महारानी को अपने मन की तथा पुत्र-पुत्री के

विचार सुनाये । महारानी नें भी सुनकर अपने मन को समझाया और महाराज के साथ ही संयम के लिए तत्पर हो गयी । उन्होंने अपने पुत्र पुष्पचूल को राज्य देकर 'शुभस्य शीघ्रम्' इस युक्ति को चरितार्थ करते हुए संयम ग्रहण कर लिया । उन्होंने थोड़े ही दिनों में स्वाध्याय ध्यान और तप के द्वारा अपनी आत्मा को भावित कर कल्याण किया ।

पुष्पचूला की विरक्ति

जिस दिन से माता-पिता ने संयम ग्रहण किया, पुष्पचूला उसी दिन से विरक्ति के पलड़े में बैठ गयी । उसमें अब खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और स्नान-विलेपन का कोई आकर्षण नहीं रहा । वह एक योगिन की तरह संसार से उदासीन होकर समय बिताने लगी । उसका मन शीघ्रातिशीघ्र संयम ग्रहण करने के लिए छटपटा रहा था । किन्तु उसे एक भय था, कि कहीं मेरे संयम लेने की बात सुनकर भाई को धक्का न पहुंचे । इस भय से उसने पुष्पचूल के सम्मुख अपना चिंतन रखना उचित नहीं समझा । अंदर-ही-अंदर वह चिंता से दुबली होती जा रही थी । दिन-प्रतिदिन उसमें उदासीनता का प्रादुर्भाव होता जा रहा था । एक दिन पुष्पचूल ने इसकी दौर्बल्य और औदासिन्य की स्थिति को देखकर पूछ ही लिया ।

उसने पुष्पचूला से कहा—'बहन ! आजकल तुम थकी-मांदी-सी दिखायी पड़ती हो, तुम्हारे चेहरे पर मैं जो पहले प्रसन्नता देखा करता था, वह प्रसन्नता अब लुप्त हो गयी लगती है । मेरी प्यारी बहन ! अगर तुम्हें इसके बताने में कोई आपत्ति न हो तो मुझे बताने की कृपा करो ।' पुष्पचूला ने इस प्रश्न को टालने का काफी प्रयत्न किया, किन्तु अंत में उसने अपने मन की बात एक युक्ति के साथ रखी । उसने कहा—'भाई ! पिताजी की दीक्षा के पश्चात् मेरा अंतःकरण अंतर्मुखी बनता जा रहा है, मेरे काफी प्रयत्न करने पर भी अब मेरा भौतिक वैभव की ओर नहीं दौड़ता ! चेहरे पर प्रसन्नता का

आविर्भाव हो किन्तु हजार प्रयत्न करने पर भी मैं अब पहले की तरह नहीं रह पा रही हूं। भैया! तुम मुझे क्षमा करोगे? अब मैं भी अपने माता-पिता की तरह दीक्षित होकर आत्म-कल्याण का रास्ता पकड़ना चाह रही हूं।'

दीक्षा की बात सुनते ही पुष्पचूल के हृदय को काफी चोट पहुंची, वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। कुछ उपचारों से उसकी मूर्च्छा दूर हुई, पुष्पचूल ने सचेत होकर काफी विलापात किया। बहुत-बहुत प्रयत्न करने पर भी वह अपनी आंखों के आंसुओं को नहीं सुखा पाया। वह पुष्पचूला के विरह से व्याकुल हो रहा था। किन्तु पुष्पचूला के मन पर इसका कोई असर नहीं हुआ। प्रत्युत अपनी गहरी युक्तियों के द्वारा उसने भाई को समझाकर दीक्षा की अनुमति देने के लिए राजी कर लिया। उसने पुष्पचूल को दीक्षा का मर्म समझाया, पुष्पचूला ने अपने भैया को दीक्षा के विषय में समझाते हुए कहा कि दीक्षा जीवन की पवित्रताओं के लिए और पुनः-पुनः जन्म-मरण के दुखों से छुटकारा पाने के लिए ली जाती है। इसमें सर्वप्रथम जीवाजीव की पहचान के लिए तत्त्व-ज्ञान करना पड़ता है। उसने इस सम्बन्ध में अपने भैया को जीवाजीव, पुण्य-पाप, आश्रव-संवर, निर्जरा आदि तत्त्व का विवेचन भी बतलाया। इस प्रकार से भाई को तत्त्व-बोध कराकर उसकी अनुमति से वहां की एक वृद्धा स्थिरवासिनी साध्वी के पास दीक्षित हो गयी। साध्वी स्थिरवासिनी होने के कारण पुष्पचूला को भी वहीं रहना पड़ा। पुष्पचूला के वहां रहने के कारण महाराज पुष्पचूल को भी सत्संग का अवसर प्राप्त होता रहा। अनेक वर्षों तक साध्वी पुष्पचूला ने कठोर संयम की साधना की। फिर इन्होंने क्षपक श्रेणी के द्वारा घनघाती कर्मों का क्षय किया। जिससे उन्हें केवल ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त हुआ। अंत में चार आघाती कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त किया।

* * *

महासती चंदनबाला

आदिनाथ भगवान् ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् संघ की स्थापना की। जिसमें अनेकानेक श्रावक-श्राविकाएं, साधु और साध्वियां थीं। जहां संघ होता है, वहां अनेक प्रकार की व्यवस्थाएं भी होती हैं। भगवान् ऋषभ ने साध्वी-समाज के विकास की व्यवस्था महासती ब्राह्मी के कर-कमलों में सौंपी थी। उसी तरह भगवान् महावीर ने भी जब चतुर्विध संघ की स्थापना की, तो साध्वी-समाज के विकास की योजना महासती चंदनबाला को सौंपी थी। वह छत्तीस हजार साध्वियों में प्रमुख थीं। चंदनबाला का जीवन एक आदर्श जीवन था। उसका जीवन बड़ा ही पवित्र और शिक्षाप्रद था। जो मनुष्य किंचित से कष्टों से घबरा उठते हैं, वे महासती चंदनबाला की जीवनी अवश्य पढ़ें। उसकी रोमांचक जीवनगाथा पढ़ने से मनुष्य को अनेक प्रकार की शिक्षाएं और संबल मिलते हैं।

चम्पा नगरी में महाराज दधिवाहन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम धारिणी था। महारानी धारिणी भगवान् महावीर की परम उपासिका थी। उनकी कोख से एक सर्वगुण सम्पन्न कन्या उत्पन्न हुई। जिसका नाम चंदनबाला था। जिसको कुछ लोग वसुमती के नाम से भी पुकारते थे। माता-पिता भगवान महावीर के सच्चे श्रद्धालु थे। अतः वह कन्या भी माता-पिता के अनुरूप ही पूर्ण श्रद्धालु थी। वह क्रमशः यौवनावस्था में प्रविष्ट हुई। चंदनबाला रूप और लावण्य में अपना एक अलग ही स्थान रखती थी। जिसका

शारीरिक सौंदर्य देखकर एक बार तो देवकन्या भी ठिठक जाती थी। लगता था रूप और लावण्य में वह अप्सराओं से भी आगे थी।

एक बार रात्रि के समय चंदनबाला अपनी शैय्या पर सोयी पड़ी थी। वह अर्द्धजागृत स्थिति में थी कि उसे एक स्वप्न आया। उसने उस स्वप्न में देखा कि सारी चम्पा नगरी दुख-सागर में निमज्जित हो रही है। समयांतर से उसका उसी के हाथों से उद्धार हुआ। इस दुःखद स्वप्न को देखने के तत्काल पश्चात् ही चंदनबाला चौंककर उठी और उस दुःखद स्वप्न के अर्थ के विषय में चिंता करने लगी। महारानी धारिणी को जब दासियों के द्वारा समाचार मिला, तो वह तत्क्षण ही चंदनबाला के पास पहुंची और उस स्वप्न संबंधी चर्चा करने लगी। चंदनबाला ने गद्गद स्वरों में अपनी माता से स्वप्न का विवरण बताते हुए कहा—'पूज्य मातेश्वरी! मैंने एक भयंकर स्वप्न देखा है। जिसके अनुसार मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हमें निकट भविष्य में ही किसी बड़े संकट का सामना करना पड़ेगा।

माता ने सांत्वना देते हुए कहा—'बेटी! धर्म समझने का यही तो सार है, कि सुख में फूलना नहीं और दुःख में मुरझाना नहीं। मेरी प्यारी बिटिया! हम यह भी जानते हैं कि 'यद् भाव्यं तद् भवत्येव' जो होने का होता है, वह होकर ही रहता है। बेटी! फिर उसके लिए चिंता और शोक करना कौन-सी बुद्धिमत्ता है। इससे आर्त्त-ध्यान होता है और आर्त्त-ध्यान से कर्मों का बंधन अवश्यंभावी है। बिटिया! इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकते।' इस प्रकार मां ने अपनी बच्ची को विविध प्रकार के उपदेशों और उदाहरणों द्वारा आश्वस्त किया अर्थात् चिंता-मुक्त किया।

चम्पा पर आक्रमण

कुछ ही समय बाद कौशम्बी नगरी के महाराज शतानीक ने चम्पा नगरी पर आक्रमण कर दिया। चम्पा नगरी के चारों ओर महाराज शतानीक की सशस्त्र सेना ने घेरा डाल दिया। स्थिति गंभीर बन गयी। नगर

की विषम स्थिति को देखकर महाराज दधिवाहन ने अपने मंत्री-मंडल को याद किया। उन्होंने अपने सभी मंत्री-मण्डल के सदस्यों से वर्तमान स्थिति की ओर इंगित करते हुए पूछा—'मेरे प्यारे मंत्रीगण ! हमारे सम्मुख विकट परिस्थित है। मैं आप लोगों से परामर्श चाहता हूं कि हमें क्या करना चाहिए ?' मंत्रि-मंडल के सभी सदस्यों ने अपने पूर्ण जोश भरे शब्दों में कहा—'महाराज ! अपनी समग्र शक्ति लगाकर भीषण युद्ध के साथ दुश्मन के दांत खट्टे कर देने चाहिए, ताकि उसकी आंख खुल जाए एवं वह इस प्रकार संधि-भंग कर किसी पर हमला करने का साहस न करें।

महाराज दधिवाहन ने अपने प्यारे मंत्री-मंडल को सम्बोधित करते हुए कहा—'मेरे प्यारे बंधुओं, तुम्हारा चिंतन बहुत हद तक ठीक है। किन्तु युद्ध से पहले अपने बलाबल के विषय में चिंतन करना अत्यावश्यक हो जाता है। मैं समझता हूं कौशम्बीपति महाराज शतानीक की अपेक्षा अपना सैनिक बल बहुत कम है। दूसरे अकस्मात् हमला होने के कारण हम लोग अपनी सेना को शस्त्रों से सज्जित भी नहीं कर सकते, अतः मेरे चिन्तन के अनुसार बिना ही तैयारी के एकाएक युद्ध के लिए सामने जा खड़ा होना, एक प्रकार से मूर्खता का परिचय देना है। मैं चाहता हूं कि एक बार कौशाम्बीपति महाराज शतानीक से मिलकर उन्हें समझाया जाये। संभव है कि समझाने से हमारा हल निकल आये, तो सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे। युद्ध की विभीषिका के मुंह में जाते हुए सहस्रों-सहस्रों व्यक्तियों के प्राणों की रक्षा भी हो जाए।'

मंत्रीगण ने महाराज दधिवाहन के विचारों का प्रत्युत्तर करते हुए कहा—'महाराज, जिस व्यक्ति ने जान-बूझकर आक्रमण किया है, वह आपकी इन भीनी-भीनी बातों में आने वाला नहीं है। दूसरे हम महाराज शतानीक से सुरक्षा की भीख मांगते हैं, तो लोगों के सामने हमारा दौर्बल्य ही प्रकट होता है। इस प्रकार से दुर्बलता दिखाने से क्षत्रिय कुल पर सदा-सदा के लिए कलंक का टीका लग जाएगा।

अतः भगवन् ! हमारी ओर से आपको नम्र निवेदन है कि आप ऐसे दुर्बलता वाले विचारों को स्थान न दें ।' किन्तु महाराज दधिवाहन ने किसी की नहीं सुनी ।

घोड़े पर सवार होकर महाराज दधिवाहन स्वयं महाराज शतानीक खेमे में पहुंचे । उन्होंने कहा—'राजन् ! काफी समय से हम दोनों में दोस्ती चली आ रही है और अच्छा प्रेम चला आ रहा है । दूसरे आप भी महाराज चेटक के दामाद हैं और मैं भी महाराज चेटक का दामाद हूं । अतः हम दोनों एक प्रकार से सम्बन्धी भी हैं । ऐसी स्थिति में आपके द्वारा चम्पा पर आक्रमण करना शोभनीय नहीं है । संधि-भंग करना भी आप जैसे प्रामाणिक व्यक्तियों के लिए उचित नहीं है । व्यावहारिक दृष्टि से भी जबकि हमारा पारस्परिक सम्बन्ध अच्छा चल रहा है । अतः बिना ही किसी कारण के बिना किसी अवरोध के आक्रमण करना यह भी कोई औचित्य की कोटि में नहीं आता । तीसरे हमारा जो एक निकट संबंध है उस दृष्टि से भी यह अनुचितता की कोटि में ही गिना जाता है । अतः मेरा आपसे अनुरोध है कि चम्पा के चारों ओर से, जो सेना का घेरा है, उसे उठा लिया जाए ।'

कौशाम्बी-पति महाराज शतानीक ने कुछ गम्भीर बनकर कहा—'राजन् ! मैं अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ाना अपना परम कर्तव्य मानता हूं । अतः मैंने चम्पा पर सोच-समझकर ही आक्रमण किया है । उपर्युक्त आपकी तीनों बातें अपने आप कट जाती हैं । मेरे उद्देश्य के सामने आपका कोई भी तर्क महत्त्व नहीं रखता है । मैं चाहता हूं आप चुप-चाप अपने राज्य की सीमा में चले जाएं और युद्ध के लिए तैयार होकर रणभूमि में आएं, एवं फिर मुझसे बात करें । अन्यथा स्त्रियों की तरह चूड़ियां पहनकर घर के किसी कोने में बैठें ।'

महाराज शतानीक की अभिमान भरी बातें सुनकर चम्पापति स्तब्ध रह गए । उन्हें यह कल्पना भी नहीं थी कि महाराज शतानीक उसके

साथ इस प्रकार से पेश आयेंगे । शतानीक महाराज दधिवाहन के पड़ोसी थे तथा दोनों ही महाराज चेटक के दामाद भी थे । इस दृष्टि से भी उनसे एक आत्मीयता का सम्बन्ध था । आत्मीय व्यक्ति जब लूटने को तत्पर हो जाते हैं तो वह एक आत्मा को धक्का लगे, ऐसी ही बात हो जाती है । महाराज दधिवाहन ने मन ही मन सोचा कि अब युद्धजन्य संहार को टालने के लिए राज्य को छोड़कर वन में जाना ही ठीक रहेगा । महारानी से चिंतन कर लेने के पश्चात् उन्होंने अपने राज्य को महाराज शतानीक को सौंपकर वनवास की ओर प्रस्थान कर दिया एवं अपने मंत्रिमंडल को कहलवाया कि मैंने अपनी इच्छा से चंपा का राज्य कौशाम्बी-पति महाराज शतानीक को सौंपा है । अतः अब आज से तुम सब लोग उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके अनुशासन में रहना, उनेक साथ हमारी ओर से किसी भी प्रकार से युद्ध की बात न उठे, ऐसा ध्यान रखना है । सभी लोगों का कर्त्तव्य होगा कि चंपा पर उनका अनुशासन जमे, वैसा कार्य करने का प्रयत्न करें ।

भीषण युद्ध और पराजय

महाराज दधिवाहन का संदेश दूत ने ले जाकर प्रमुख मंत्री के हाथों में सौंप दिया । प्रमुख मंत्री ने मंत्रि-मंडल के अन्यान्य सदस्यों को बुलाया एवं उन सभी के सामने महाराज दधिवाहन का संदेश पढ़कर सुनाया । संदेश को सुनकर मंत्रि-मंडल के सभी सदस्य महाराज दधिवाहन के कार्य पर तरस खा रहे थे । उन्हें रह-रहकर आश्चर्य हो रहा था कि उन्होंने यह कार्य ऐसे क्यों किया । उन्हें महाराज दधिवाहन का ऐसे मुंह छिपाकर पलायन करना कचोट रहा था । विपत्ति के समय अपनी प्रजा को छोड़कर भाग निकलना निरी कायरता है । सारे मंत्रि-मंडल ने चिंतन कर निर्णय किया कि देश के लिए लड़कर टूक-टूक हो जाना अच्छा है अपेक्षाकृत शत्रु के हाथों इस प्रकार देश को सौंप देने के । दूसरे ही दिन देखा चंपा का सैनिक दल

अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ युद्ध-स्थल पर तैनात था । इधर महाराज शतानीक बिना ही कुछ श्रम के राज्य मिल जाने की खुशियां मना रहे थे और अपने भाग्य की भूरि-भूरि सराहना कर रहे थे । किन्तु दूसरे ही दिन युद्धार्थ समरांगण में शत्रु की सेना को देखकर क्रोध में भभक उठे । भीषण संग्राम प्रारम्भ हुआ । महाराज दधिवाहन की सेना का थोड़े ही समय में तहस-नहस कर दिया । अधिकांश सैनिक युद्ध में मारे गये । जो अवशेष बचे वे मुंह छिपाकर भाग निकले । अब चंपापुरी अनाथ थी । उस अनाथपुरी को कौन नहीं लूटेगा । कौशाम्बीपति महाराज शतानीक के सैनिकों ने चंपा के घर-घर में घुसकर लोगों का अच्छा सफाया किया । नगर के सभी लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे किन्तु कोई भी रक्षा करने वाला नहीं था । लुटेरों ने लाखों-करोड़ों का धन लूटा । मन इच्छित धनराशि प्राप्त कर मन ही मन खुशियां मना रहे थे ।

राजमहलों में रथिक का प्रवेश

महारानी धारिणी अपनी प्यारी पुत्री वसुमती से कह रही थी—'बिटिया ! तेरा स्वप्न सच्चा निकला । महाराज हमें अनाथ बनाकर जंगल में पलायन कर गये । नगरी का कोई अधिनायक नहीं । वह लूटेरों के द्वारा लूटी जा रही है । प्रजा में एक प्रकार से हाहाकार मच रहा है । कोई भी उसकी करुण-पुकार सुनने वाला नहीं है । बेटी ! पता नहीं अब हमें कौन-कौन-सी विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा । इस स्थिति में धैर्य धारण करना ही ज्ञान का फल है । 'प्राण जाय पर प्रण नहीं जाय' हमें धर्म पर टूक-टूक होकर मर जाना स्वीकार है, किन्तु धर्म भ्रष्ट होकर जीना तीन काल में भी पसंद नहीं है । अतः प्यारी बिटिया ! जो समय पर कठिनाइयों का सामना करता है वही मनुष्य मनुष्य कहलाता है ।' महारानी धारिणी ने वसुमती को अपनी छाती से लगाते हुए कहा—'मेरी प्यारी बच्ची ! अब तो तुम्हें ही साहस का परिचय देना है ।'

मां-बेटी इस प्रकार से बातें कर रही थीं कि इतने में धन का अभिलाषी एक रथिक (रथ में बैठकर युद्ध करने वाला सुभट) आ निकला। उसने जैसे ही महाराज के आवासों में प्रवेश किया, महारानी धारिणी और वसुमती उसकी नजर में पड़ीं। वह आया तो था राजकीय खजाने का लोलुप होकर किन्तु ज्यों ही महारानी धारिणी और वसुमती को देखा, तो वह काम-वासना से बिंध गया और खजाने की बात बिल्कुल भूल गया। उसने महारानी धारिणी से कहा—'स्वामिन्! लुटेरे और हिंसक लोग इधर घुसे आ रहे हैं। आप शीघ्रातिशीघ्र रथ में बैठें, मैं आप लोगों को सुरक्षित स्थान पर छोड़ दूंगा। अगर आप यहां रहेंगी तो बचने की आशा नहीं है।' इस प्रकार उस सुभट ने महारानी धारिणी और वसुमती दोनों को चकमा देकर उन्हें एक भयंकर जंगल में ले गया और महारानी धारिणी के समक्ष अपनी दूषित भावना रखी। उसने कहा—'इस भयावह जंगल में अब मेरे अतिरिक्त आपका कोई सहायक नहीं है। जैसा मैं कहूं वैसा करती रहें, तो जीवन की खैर है अन्यथा कहीं मौत का बुलावा न आ जाये।'

महारानी ने उसे दुत्कारते हुए कहा—'निर्लज्ज! लंपट! तुझे पर-स्त्री के सामने इस प्रकार कहते शर्म नहीं आती। चल दूर हो मेरी नजर से, अगर आगे कदम बढ़ाया तो इसका नतीजा बुरा होगा।' किन्तु महारानी के इतना कहने पर भी वह नहीं मान रहा था। महारानी ने अपने शील की रक्षा के लिए जिह्वा खींचकर प्राण दे दिये। सुभट अवाक् रह गया। वसुमती अपनी मां की स्थिति देखकर भय से कांप उठी। वह उस नर-पिशाच के भय से अत्यन्त भयभीत हो रही थी। वह अपनी मां को उपालम्भ देती हुई कह रही थी—'मां! तू मुझे किस दुष्ट और पापिष्ट व्यक्ति के फंदे में फंसाकर चली गई।' वह आवेश में आकर अपनी मां की तरह ही जिह्वा निकालकर मरने के लिए उद्यत हो गयी। रथिक 'बेटी! बेटी!' पुकारता हुआ उसके चरणों में आ गिरा और कहने लगा—'महासती!

एक महासती की हत्या के महापाप का भागी तो मैं बन ही चुका हूं। कृपया अब तू ऐसा कार्य मत कर, इस पापी को महापापी तो मत बना। बेटी! विश्वास रख, अब मैं तेरे साथ किसी भी प्रकार का अनुचित व्यवहार नहीं करूंगा! मेरे घर चलकर मुझे कृतार्थ कर, जो कुछ होना था वह हो गया। अब उसे अपने दिल से निकाल दे। मेरी प्यारी बेटी! कुछ इस अधम की ओर भी देख।'

वसुमती कौशाम्बी-रथिक की पुत्री के रूप में

रथिक के मुंह से बेटी शब्द सुनकर वसुमती कुछ स्वस्थ हुई। कर्मों की विचित्र गति है, इस प्रकार चिन्तन कर वह अपनी मां के दुःख को भूलने का प्रयत्न कर रही थी। किन्तु वापस जैसे ही महारानी के मृत शरीर को देखती थी, आंखें भर आती थीं। उसके हृदय में दुःख की ज्वालायें उठ रही थीं, फिर भी उसने वहां अपने मन को समझाया और हृदय को कठिन बनाकर अपनी मां की देह का संस्कार उसी स्थान पर कर दिया। वसुमती ने अपनी मां के हत्यारे को धर्म-पिता माना और उसके साथ कौशाम्बी नगरी में आने के लिए चल पड़ी। उस समय कौशाम्बी नगरी में एक प्रकार की हलचल-सी हो रही थी। क्योंकि अनेक लोग चंपा में हुई लूट-खसोट से बहुत-बहुत धन-दौलत लेकर अपने-अपने घर पहुंच रहे थे। इधर इस रथिक की पत्नी भी अनेक मनोरथ मालाएं गूंथ रही थी। वह सोच रही थी कि जब साधारण लोग इस प्रकार अनाप-शनाप धन लाये हैं, तो मेरा पति तो एक विशेष व्यक्ति है, न जाने वह कितना धन और कितने आभूषण उसके लिए लाया होगा। इस उमंग की तरंगों में बही जा रही थी। अचानक रथ घर पर आकर रुका। धन की भूखी रथिक की पत्नी रथ की आहट पाते ही दौड़कर बाहर आई। उसने देखा वहां धन और आभूषणों का कोई नामो-निशान नहीं था, केवल एक साढ़े तीन हाथ की सुन्दरी रथ से नीचे उतरकर उसके घर की ओर आती हुई नजर आयी। उसे देखते ही रथिक की पत्नी आग-बबूला

हो गई । उसने कड़क कर उससे पूछा—'कौन है तू ? यहां क्यों आई है ?'

रथिक के घर में क्लेश

वसुमती ने अपना सच्चा परिचय देना उचित नहीं समझा क्योंकि कौशाम्बी-पति उसके मौसा लगते थे, कहीं पता पड़ने पर रथिक का कुछ नुकसान न कर दें । अतएव उसने अपना परिचय सही प्रकार से न देते हुए कहा—'माताजी मैं आपकी पुत्री हूं, पिताजी मुझे धर्म की पुत्री बनाकर यहां लाये हैं और मैं अपना पीहर समझकर यहां आई हूं । आप मेरे लायक कोई सेवा का कार्य बतलाएं ?'

रथिक की पत्नी को कन्या की बात पर विश्वास नहीं हो रहा था । वह सोच रही थी कि पतिदेव इसे अपनी गृहिणी बनाने के लिए लाये हैं । कुछ दिन तो इसे बेटी-बेटी पुकारते रहेंगे, किन्तु अन्त में लगता है इसे मेरी सौत बनाकर ही सांस लेंगे । ऐसी स्थिति आए, उससे पहले ही स्थिति को संभाल लेना अच्छा होगा । अतः मैं ऐसा कुचक्र चलाऊं कि घर में पैर ही न टेक सके, किन्तु तत्काल इस प्रकार की उसकी कोई भी कला काम नहीं कर सकी ।

वसुमती जितनी विनीत थी, वह रथिक-पत्नी उतनी ही अविनीत और विवेकहीन थी । वसुमती जितनी ही सुशील और शिष्ट थी, रथिक पत्नी उतनी ही दुःशील और दुष्टा थी । वसुमती के प्रत्येक कार्य में वह छल-छिद्र देखने में रस लेती थी । वह प्रत्येक समय अत्यन्त गहराई से देखती रहती थी कि किसी न किसी प्रकार से वह मायावी बेटी मेरी पकड़ में आए, तो इसे यहां से बाहर निकालूं । किन्तु वसुमती निरंतर अविचल भाव से कार्यों का संपादन करती हुई अपना समय व्यतीत कर रही थी । वह प्रतिदिन चार बजे उठकर चक्की चलाती थी । उससे निवृत्त होते ही घर के सारे आंगन में झाड़ू लगाती थी । सारे दिन में पीने में नहाने-धोने में जितने पानी की आवश्यकता हो, वह पानी ला-लाकर जमा करती थी । तत्पश्चात् रसवती में प्रविष्ट होती और

सबके लिए भोजन बनाती थी । वसुमती घर के छोटे-बड़े सबको भोजन कराकर वह स्वयं भोजन करती तत्पश्चात् बर्तनादि मलने का कार्य करती थी । इस प्रकार वह दिन भर कार्य में लगी रहती थी । उसका शरीर पानी-पानी हो जाता था । उसके भारी श्रम को देखकर एक दिन रथिक ने कहा—'बेटी ! सारे दिन तुम घर के कार्यों में जुटी रहती हो, थोड़ी देर के लिए भी आराम नहीं करती । सारे दिन एक दासी की तरह दौड़ती रहती हो, खाने-पीने का भी ध्यान नहीं रखती । बेटी ! यह घर तुम्हारा ही है । आराम से रहो । अच्छा खाओ, अच्छा पीओ । किसी भी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता नहीं ।'

रथिक की इतनी-सी बात पर ही उसकी स्त्री उछल पड़ी और कहने लगी—'हां ! हां ! मैं जानती हूं अब घर तो इसी का है । आज मैंने अच्छी तरह से देख लिया है कि इसे तुम मेरी सौत बनाकर मेरे जीवन से खिलवाड़ करना चाहते हो । लेकिन याद रखना, मैं यह अन्याय कदापि नहीं होने दूंगी ।' वह क्रोध में एक प्रकार से भभक उठी । बेचारे रथिक ने उसे मृदुता से समझाने का प्रयत्न किया । नाना प्रकार के कोमल और कमनीय शब्दों से उसे शांत करना चाहा किन्तु वह तो और उखड़ गई एवं कहने लगी :—

'चंपा जैसी नगरी लूटी गई, लोग वहां से लाखों-करोड़ों का धन लूट-लूटकर लाये । साधारण स्थिति वाले लोग भी कोट्याधीश बन बैठे । इस कौशाम्बी नगरी में मैं देखती हूं, साधारण से साधारण मनुष्य भी चंपा से इतना धन बटोर-बटोर कर लाये हैं कि जिसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता और मैं तो समझती थी कि जब सामान्य व्यक्ति भी अपार धन राशि लाया है तो मेरे पति तो एक पहुंचे हुए सुभट हैं, न जाने कितना धन लायेंगे । किन्तु 'मन की बात मन में रही, साठ गांव बकरी चर गई', वही बात मेरे साथ चरितार्थ हुई है । मुझे बड़ा भारी दुःख है कि धन लाना तो दूर प्रत्युत तुमने

वसुमती को यहां लाकर मेरे लिए एक बहुत बड़ी समस्या खड़ी कर दी है । मुझे सदा-सदा के लिए महा दुःखिनी बना दिया है । मैं चाहती हूं तुम अब भी इस पापिष्टा को ले जाओ और किसी बड़े शहर में इसे बेचकर बीस लाख सौनेय कमा लाओ अन्यथा यह सिर-दर्द सदा-सदा के लिए हमारे साथ रहेगा । एक बात और है अगर इसे घर रखा तो मैं आत्महत्या कर अपने प्राण त्याग दूंगी । जिसका सारा दोष तुम्हारे सिर मढूंगी । उसका क्या नतीजा निकलेगा, यह तुम स्वयं सोच सकते हो ।' इस प्रकार अपनी स्त्री को अन्याय पर उतारू देखकर रथिक भी गर्म हो गया और कहने लगा—'पापिनी ! व्यर्थ की बकवास कर क्यों मेरे पर झूठा कलंक लगाती है । जा तुझे आत्महत्या करनी है तो देर मत कर अब की अब ही मर । मैं तुम्हारी इन बन्दर घुड़कियों से डरने वाला नहीं हूं ।' इस प्रकार घर में एक बहुत बड़ा क्लेश खड़ा हो गया । पति-पत्नी दोनों जोर-जोर से चिल्लाने लगे । दोनों में पूरा तनाव खड़ा हो गया ।

राजकुमारी चन्दनबाला ने इस प्रकार के तनावपूर्ण वातावरण में रहना उचित नहीं समझा । उसने रथिक से नम्रता के साथ कहा—'पिताजी ! आप माताजी के साथ इस प्रकार के अपशब्दों का व्यवहार क्यों करते हैं ? ये तो बड़ी ही विवेकशालिनी और बुद्धिमती हैं । इन्हें आप रुष्ट न करें । इसलिए मैं स्वयं इस कौशाम्बी के बाजार में जाकर बिक जाऊंगी । माताजी को वहां बीस लाख की धनराशि प्राप्त हो जायेगी और साथ ही 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी' वाली जनश्रुति भी सिद्ध हो जायेगी । मेरे कारण से माताजी को कष्ट हो, यह मुझे मान्य नहीं है ।' यह कहकर राजकुमारी चन्दनबाला घर से बाहर निकल गई । पीछे-पीछे वह रथिक भी अपने भाग्य को कोसता हुआ चल रहा था ।

चंदनबाला कौशाम्बी के बाजार में

चन्दनबाला निर्भीकता के साथ बाजार में पहुंची । वह लोगों की भीड़ को चीरती हुई, एक ऐसे स्थान पर पहुंची, जहां चारों ओर के रास्ते

मिलते थे । वहां पर एक ऊंचा चबूतरा भी था । चन्दनबाला उस चबूतरे के ऊपर चढ़ी और उसके बीचों-बीच खड़ी होकर कौशाम्बीपुर निवासियों को संबोधित कर कहने लगी—'अयि ! नागरिकजनों ! मैं अपने आपको बिक्री करना चाह रही हूं । बीस लाख सौनैय मेरा मूल्य है । आएं कोई उदारचेता महापुरुष आएं और बीस लाख सौनेय मेरे पिता जी को देकर मुझे खरीदें । मैं अपने आप में एक दासी हूं । दासी के योग्य प्रत्येक कार्य करने में मुझे किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होगी ।'

चन्दनबाला की सुमधुर ध्वनि के साथ-साथ ही सहस्रों-सहस्रों मनुष्यों की भीड़ लग गई । लोगों ने चन्दनबाला को देखा, उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हो रहा था । लोगों में इस प्रकार से ऊहापोह हो रही थी— कोई कह रहा था—'अरे ! भाई ! यह तो मान्वी नहीं देवागनी है ।' दूसरा कोई कह रहा था कि यह साक्षात् लक्ष्मी का अवतार है, तो कोई कह रहा था कि मनुष्यों में इस प्रकार की रूप–संपदा देखने में नहीं आई । ऐसी रूपवती स्त्री के मुंह से बिक्री होने की आवाज सुनकर अनेक लोग उसके निकट पहुंचकर उसका परिचय प्राप्त कर रहे थे । कुछ उसे खरीदने के लिए लालायित हो रहे थे । किन्तु बीस लाख की कीमत सुनते ही चुपचाप वापस लौट आते थे । इस प्रकार दिन के बारह बज गए, किन्तु कोई भी ग्राहक वहां नहीं टिक रहा था । इसी क्रम के बीच एक वेश्या वहां पहुंची । वह बीस लाख मुद्राएं देकर राजकुमारी को खरीदना चाह रही थी । वेश्या के खरीदने की उत्कण्ठा देखी, और साथ ही उसका रंग-ढंग देखकर चन्दनबाला ने पूछा—'माताजी ! आप कौन हैं ? तथा आपके घर पर मुझे क्या-क्या कार्य करने पड़ेंगें ?' वेश्या ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा—'बेटी ! काम कुछ भी नहीं है । केवल नहा-धोकर श्रृंगार सजना है, और आए हुए पुरुषों का मन बहलाकर धन कमाना है । भगवान ने तुम्हे यह रूप-राशि दी है । अतः यह कोई कार्य नहीं, बेटी ! यह तो उस रूप-राशि का उपयोग है । अन्यथा अरण्य-कुसुम की तरह वह व्यर्थ होगा ।'

वेश्या की बात सुनकर चन्दनबाला चौंक उठी। उसने उसे सम्बोधित करते हुए कहा—'माताजी ! मुझे क्षमा करें। आप जिस कार्य के लिए मुझे कह रही हैं, मैं वह कार्य कदापि नहीं कर सकती। इसलिए कि मैं पूर्ण ब्रह्मव्रत धारिणी हूं।' वेश्या ने प्रत्युत्तर में कहा—'तुमने पहले उद्घोषणा की है कि किसी भी कार्य के करने में मुझे किसी भी प्रकार की झिझक नहीं होगी। अतः इस बात के अनुसार अब तुम इन्कार नहीं कर सकतीं। हमारा सौदा पक्का है। अतः मैं अब दूसरी बात सुनने के लिए प्रस्तुत नहीं हूं।' ऐसे कहकर उसने अपनी दासियों को कुछ संकेत किया। दासियां वेश्या का संकेत पाते ही चन्दनबाला के निकट आयीं और उसको चलने के लिए कहा। चन्दनबाला ने चलने से इन्कार कर दिया। दासियों ने तत्काल ही चन्दनबाला का हाथ पकड़कर बलात् घसीटना प्रारम्भ कर दिया। राजकुमारी ने जब यह विषम स्थिति देखी तो ध्यान में लीन हो गई। रथिक भी जो राजकुमारी का धर्म पिता बना हुआ था, उसने भी जब यह बलात् घसीटने की क्रिया देखी तो कोश से तलवार निकालने के लिए उद्यत हो गया। इस स्थिति को वह भी सहन नहीं कर पाया। उसके अंग-अंग में आग भभक उठी।

वानरों का उपद्रव और वेश्या

रथिक वसुमती को बचाने के लिए अपने स्थान से खड़ा हो ही रहा था कि कहीं से उछलता कूदता हुआ बड़े-बड़े वानरों का समूह आ धमका। वे वानर वेश्या के चारों ओर झपट पड़े, किसी ने उसके कान, किसी ने नाक, किसी ने हाथ, किसी ने स्तन और किसी ने कुछ तो किसी ने कुछ नोच-नोच कर काट खाए। वेश्या घबरा उठी और 'बचाओ-बचाओ अरे ! इन दुष्ट बन्दरों से मुझे बचाओ !' चिल्लाने लगी, वेश्या इस प्रकार से बचाओ-बचाओ की रट लगा रही थी, किन्तु उन भयंकर बन्दरों के बीच में कौन जाने का साहस कर सकता था। चन्दनबाला ने जब देखा कि वेश्या के प्राणों पर आ लगी है।

तो वह धीरे-धीरे वेश्या के पास पहुंची । उस सती ने बन्दरों को सम्बोधन कर कहा—'बन्धुओं, यह मेरी माताजी हैं इन्हें मत सताओ, यह तो पहले से ही निर्बल हैं । फिर तुम लोगों ने इन पर धावा बोल दिया, मैं देख रही हूं कहीं इनके प्राण-पखेरु न उड़ जाएं । अतः मेरे प्यारे बन्धुओं ! अव माताजी को मुक्त कर दो ।' महासती का आदेश हुआ कि वह बन्दरों की देव माया एक ही क्षण में विलीन हो गई और ऐसा लगने लगा मानो यहां कुछ हुआ ही नहीं था । महासती चन्दनबाला के शील का अद्‌भुत चमत्कार देखकर वेश्या के हृदय में आश्चर्य का पार नहीं रहा । उसने तत्क्षण ही महासती चन्दनबाला के पैर पकड़ लिये और अपने किये हुए अपराधों के लिए क्षमा याचना की । महासती ने उसे ब्रह्मचर्य की महिमा सुनाई एवं जीवन में यह सच्चा धन है, इसका उपदेश दिया । वेश्या ने महासती की शिक्षा पर मुग्ध होकर यावज्जीवन के लिए वेश्या-वृत्ति के प्रत्याख्यान कर दिया ।

धनावा सेठ के घर चन्दनबाला

वेश्या अपने घर की ओर चल पड़ी । इधर चन्दनबाला भी मुड़ी और उसी चबूतरे के ऊपर आ खड़ी हुई, जहां वह पहले खड़ी थी । चन्दनबाला ने वही पहले की तरह रटन लगाई । वह कह रही थी, आएं कोई सज्जन पुरुष आएं और मेरे इस धर्म-पिता को बीस लाख सौनेय देकर मेरा क्रय करें । चन्दनबाला के यह शब्द सुनकर बेचारा रथिक मन ही मन में रो रहा था और कह रहा था, हाय ! मैं कितना हत-भाग्य हूं । अनायास ही प्राप्त यह चिन्तामणि रत्न मेरे हाथों से निकल कर जा रहा है । क्या करूं ? कहां जाऊं और किसके आगे जाकर रोऊं ? दिन के तीन पहर व्यतीत हो रहे हैं फिर भी कोई रास्ता नहीं निकल रहा है । रथिक चिन्ता सागर में डुबकियां ले रहा था कि इतने में एक स्थानीय कोई धीर व्यक्ति आकर खड़ा हुआ जिसका नाम धनावा सेठ था । उसने बोली लगाते हुए चन्दनबाला को देखा । सेठ धनावा बड़ा ही विवेकी और व्यावहारिक था । उसने

ज्योंही चन्दनबाला की ओर देखा, तो उसने वस्तु-स्थिति समझने में समय नहीं लगाया और कहने लगा यह कोई साधारण स्त्री नहीं है, यह तो कोई असाधारण देवी है। सेठ ने ज्योंही बीस लाख सौनैयों में उसे क्रय करने की रथिक से बात-चीत करनी प्रारम्भ की, चन्दनबाला ने बीच में ही सेठ से पूछा—'क्यों सेठजी! आप मुझे क्रय कर किस कार्य पर नियुक्त करेंगे?' सेठ ने उत्तर देते हुए कहा—'बिटिया! काम-काज कुछ भी नहीं है, केवल दोनों समय शान्ति से भोजन कर, सामायिक और प्रतिक्रमण करना, संयोग मिलने पर साधु-साध्वियों की सेवा करना एवं उन्हें शुद्ध आहार-पानी वस्त्र-पात्रादि देकर कृत-कृत्य होना तथा यथाशक्ति व्रत-उपवासादि कर मानव जीवन को सफल बनाना है।' चन्दनबाला 'ठीक है, कहकर धनावा सेठ के साथ चल पड़ी। आगे-आगे चन्दनबाला उसके पीछे धनावा सेठ और उसके पीछे रथिक चल रहा था।

सेठ धनावा जैसे ही अपने घर पर पहुंचा, उसने बीस लाख स्वर्ण मुद्राए थैलियों में डालकर, रथिक को सौंपी, लेकिन रथिक लेने से साफ इन्कार हो गया। बहुत-बहुत मनुहारें की किन्तु वह नहीं माना। आखिर चन्दनबाला ने उसे समझाते हुए कहा—'पिताजी! आपको विदित ही है। माताजी की प्रवृत्ति मैं समझती हूं जब तक बीस लाख मुद्राएं उनके कोष में नहीं पहुंच जातीं, तब तक वह आपसे कदाग्रह करना नहीं छोड़ेंगी। अतः मेरा आपसे अनुरोध है कि आप ये मुद्राएं ले जाएं।' इस प्रकार बहुत कुछ कहने पर भी जब रथिक नहीं माना तब फिर उन मुद्राओं के थैलों को एक शकट पर रखकर रथिक के घर पहुंचा दिया गया। बीस लाख मुद्राओं के थैले देखकर ही रथिक की पत्नी का चढ़ा हुआ सारा पारा उतर गया, वह मुद्राओं को प्राप्त कर बाग-बाग हो गई और उसका सारा आवेश शांत हो गया।

चन्दबाला के प्रति मूलां की ईर्ष्या

जिस स्थिति को लेकर वसुमती ने रथिक का घर छोड़ा उसके लिए भी वही स्थिति उत्पन्न हो गई। धनावा सेठ की पत्नी मूलां, जब

से राजकुमारी चन्दना ने इसके घर में पैर रखा, उसी दिन से ईर्ष्या से जलने लगी। राजकुमारी चन्दना का रूप-लावण्य इसके लिए असह्य हो उठा। जिस प्रकार रथिक की पत्नी के हृदय में चन्दना उसकी सौत न बन जाए, ऐसा सन्देह उत्पन्न हुआ था उसी प्रकार मूलाँ के मन में भी संदेह हो गया। वह इस बात को लेकर वसुमती के साथ कलह करती रहती थी। बिना ही त्रुटि के उसे बार-बार उपालंभ देती रहती थी। यद्यपि चन्दना उसे अत्यंत प्रेम के साथ बुलाती थी। वह समूचे दिन मूलां को माताजी-माताजी कहती रहती थी। मूलां को किसी भी काम में हाथ नहीं डालने देती थी। उसके छोटे-छोटे काम भी वह स्वयं संपादित करती रहती थी। फिर भी मूलां उसके प्रति आग-बबूला बनी रहती थी। मूलां जब भी उसे याद करती तो दुष्टे! दुश्चरित्रे! कुटिले! कुपात्रे! आदि-आदि शब्दों से संबोधित करती थी। उस पर दुर्वचनों के प्रहार करने में वह किसी प्रकार की कमी नहीं रखती थी। मूलां का दुर्व्यवहार देखकर एक दिन उसकी दासी ने मूलां से कहा—'मैया! यह बालिका साक्षात् सरस्वती का अवतार है। आपके इंगित पर चलने वाली है। फिर भी आप इसे दिन भर तंग करती रहती हैं, कुछ समझ में नहीं आ रहा है। आप इसको इतना फटकारती हैं, फिर भी यह बेचारी कुछ भी नहीं बोलती है।' बस इतना सुनना था कि मूलां तपाक से गर्म होकर बोली—'चेटी! चुप, शर्म नहीं आती तुझे, किसको कह रही हो! छोटे मुंह बड़ी बात, आगे यदि इस प्रकार का व्यवहार किया तो मेरे यहां स्थान नहीं है। पता है तुझे, सेठ काम-विह्वल होकर इस आवारा छोकरी को बीस लाख सौनेयों में क्रय कर लाये है और अब इसे अपनी अर्द्धांगिनी बनाना चाहते हैं।' दासी ने विनम्र शब्दों में निवेदन करते हुए कहा—'मालकिन आप व्यर्थ ही संदेह न करें, हमारे मालिक तो बड़े ही गुणवान हैं और यह बहन भी बड़ी ही सदाचारिणी है। इस पर आपको व्यर्थ का आरोप नहीं लगाना चाहिए।' इस पर मूलां तो जल-भूनकर राख ही हो गई एवं उसी क्षण दासी को कान पकड़कर अपने घर से निकाल दिया।

मूलां के संदेह ने जड़ पकड़ी

एक दिन चन्दना स्नान करने के पश्चात् धूप में अपने सिर के वाल सुखा रही थी। इतने में सेठ बाहर से आये और चन्दना को पैर धोने के लिए पानी लाने को कहा। चन्दना तत्काल ही पानी भरा पात्र लेकर पूज्य पिताजी के पास पहुंची। उसने उन्हें पट्टे पर बिठाया और पात्र में उनके पैर रखवाकर धोने लगी। अकस्मात् पैर धोते-धोते उसके वे बड़े-बड़े बाल खिसकर आंखों के सामने आ गये। सरलमना सेठ ने चन्दना के बालों को अपने हाथों से ऊंचे कर दिये। मूलां ने जब यह दृश्य देखा तो वह अंगारों की तरह धधक उठी। उसके संदेह ने अब और भी जड़ पकड़ ली। उसे पूर्ण विश्वास हो चुका कि सेठ अब चन्दना को अपनी प्राण-प्रिया बनाकर ही सांस लेंगे। अन्यथा भला बीस लाख की धनराशि देकर इस आवारा छोकरी को यहां लाने का तात्पर्य ही क्या ? मेरे पतिदेव निश्चय ही व्यभिचारी हैं। इस रूपराशि जवान छोकरी के हाथों से पैर धुलवाने और बालों को छूने की क्या जरूरत है ? यह सब इस बात को प्रमाणित करते हैं कि थोड़े ही समय में यह छोकरी मेरी सौत बनकर सारे घर पर अपना अधिकार जमा लेगी। अतः किसी छल-कपट के द्वारा इसका मुंह काला कर ही देना उचित होगा।

इस चिन्तन के पश्चात् अब मूलां चन्दना के विनाश के लिए उतारु हो गई। वह चन्दना को घर से निकालने के लिए प्रत्येक क्षण मौका देखती रहती थी। ऋजुमना सेठ यह पहले ही जानते थे, कि मूलां इस स्थिति को नहीं पचा सकेगी। अतः सेठ जी चन्दना का पूरा ध्यान रखते थे। फिर भी एक दिन भावीवश बिल्ली का चाहा छींका टूट ही गया।

मूलां का अत्याचार

एक बार सरलमना सेठ को किसी कार्यवश तीन दिन तक शहर से बाहर रहना पड़ गया था। मूलां ने पीछे से अवसर देखकर अपने सारे

के सारे दास-दासियों को बाहर भेज दिया और एक पिशाचनी की तरह विकराल रूप धारण कर चन्दना को पकड़ा एवं उसे कहने लगी—पापिनी ! आज मुझे तेरी ही खबर लेनी है । बोल तू कौन है ? और यहां क्यों आई है ?'

चन्दना ने कहा—'मातुश्री ! आज यह प्रश्न कैसे खड़ा हुआ ? मुझे यहां आये काफी समय हो चुका है । आप जानती भी हैं कि पिताश्री मुझे धर्मपुत्री मानकर यहां लाये हैं । अतः मैं आपकी प्यारी पुत्री हूं ।' मूलां ने अपने तीखे स्वरों में कहा–'कुलटे ! चुप ! बेटी, बेटी, बेटी । ऐसा कहते तुम्हें शर्म नहीं आती, झूठे ढोंग करती हो ! रण्डे ! न तेरी जात का पता है, न पात का, न तेरी माता का पता है, न पिता का पता, तू कौन-सी गली में पैदा हुई है और कहां-कहां की धूल चाटी है इसका कोई भी अता-पता नहीं है । दुश्चरित्रे ! बेटी के भरोसे कहीं भूल मत जाना । यहां तेरी दाल नहीं गलेगी । मैं तेरी एक-एक करतूतों से परिचित हूं, मुझे याद है, उस दिन की घटना जिस दिन तू उनके पैर धो रही थी और मेरे पापी पति तेरे बालों का ऊंचे करने के मिस तुमसे पत्नी की तरह प्यार कर रहे थे । वह सारा दृश्य अपनी आंखों से देखा है । पापिन ! तू कहती है, मैं आपकी बेटी हूं । क्या बेटी कहलाने वाली कभी, ऐसा नीच कार्य कर सकती है ?'

चन्दना ने कहा—माताजी ! निष्प्रयोजन के आपको इतना बड़ा संदेह नहीं करना चाहिए । न पिताजी के मन में कोई पाप है और न मेरे मन में ही इस प्रकार का कोई पाप है । बात रही उस दिन की सो उस दिन मेरे सिर के बाल खुले होने के कारण मुंह पर आ गये थे और पिताजी ने उन्हें सहज रूप से ही ऊंचे किये थे न कि किसी प्रकार की दुर्भावना से । फिर भी अगर आपके मन में संदेह या शंका हो, आप मेरी बड़ी से बड़ी परीक्षा लें । मैं सहर्ष परीक्षा देने के लिए तैयार हूं ।'

चन्दना की आदर्श क्षमा

चन्दना के विनम्र और विनय भरे निवेदन पर भी मूलां गरज उठी और उसने कहा—'ठहर अभी लेती हूं तेरी परीक्षा।' ऐसे कहकर उस दुष्टा ने चन्दना के शरीर से एकमात्र कच्छे को छोड़कर सबके सब कपड़े और आभूषण खुलवा लिये। घर के अन्दर से एक बड़ी कैंची निकालकर लायी और चन्दना की बड़ी-बड़ी भंवरे जैसी काली लटें एक क्षण में ही काटकर अलग-थलग कर दी। बेचारी चन्दना को जमीन पर पटक कर उसके पैरों मे बेड़ियां और हाथों में हथकड़ियां डाल दीं। सिर पर तीन डाम (गर्म लोहे की शलाका से) लगाए एवं काला मुंह कर उसे घसीटकर एक अंधेरे से भरे पूरे तल-घर में बन्द कर डाला। मूलां के पीहर वाले इसी शहर में रह रहे थे। मूलां के इतने क्रूर अत्याचार के बावजूद भी चन्दना समता को सहेज रही थी। वह तो बात-बात में उसके गुण-गान कर रही थी एवं अध्यात्म में लीन होकर भव्य भावना के ध्यान में एकरस हो रही थी। यह था चन्दना का आदर्श।

महावीर का तेरह बोल का अभिग्रह

उस समय भगवान् महावीर छद्मावस्था में विचर रहे थे। उनके तीव्र तपस्या और विविध प्रकार के अभिग्रह चल रहे थे। इस क्रम से बारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। तेरहवें वर्ष का प्रारंभ था, उस समय उन्होंने एक तेरह बोलों का अद्भुत अभिग्रह धारण किया। निम्नोक्त तेरह बोलों से युक्त बहन के द्वारा भिक्षा मिले तो पारणा करना अन्यथा छः महीनों तक आहार और पानी लेने का प्रत्याख्यान करता हूं। (1) सदाचारिणी, (2) राजकुमारी, (3) क्रय की हुई, (4) सिर मुण्ड हो, (5) केवल एक कच्छा पहने हो, (6) पैरों में बेड़ी हो, (7) हाथों में हथकड़ी हो, (8) तीन दिनों की भूखी-प्यासी, (9) एक पैर देहली के ...ंदर और एक बाहर, (10) शूर्प कोने में उड़द के बाकले, (11) सिर

में गद दिये हुए हों, (12) आंखों में आंसू हों, और (13) दिन का तीसरा पहर हो । इस प्रकार का विचित्र अभिग्रह धारण कर भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचर रहे थे । वे भिक्षार्थ निरन्तर जाते रहे । ऐसे कठिन अभिग्रह का फलित होना भी कोई सहज बात नहीं । भगवान् विचरते-विचरते कौशाम्बी नगर में पधारे । इस क्रम में रहते हुए उनके अभिग्रह-साधना को पांचवां महीना और पच्चीसवां दिन था, भगवान सदा की तरह भिक्षा के लिए गली-कूचों और मुहल्लों में पर्यटन कर रहे थे ।

इधर चन्दना तीन दिन से भूखी और प्यासी लोहे की हथकड़ी और बेड़ियों से जकड़ी हुई तलघर में प्रभु के ध्यान में लीन हो रही थी । सेठ धनावा जोकि तीन दिनों से कहीं दूसरे गांव में गए हुए थे, मध्याह्न के बाद वापस लौटकर आये । वे ज्योंही मकान के पास पहुंचे, देखा घर सुनसान है । वहां न नौकर न नौकरानी है और न मूलां न चन्दनबाला दिखाई पड़ी । देखा प्रमुख द्वार पर एक बड़ा-सा ताला लटक रहा है । सेठ ने तत्क्षण ही अपने एक परिचित जन को भेजकर मूलां के पास से चाबियां मंगवाई और घर को खोलकर अन्दर प्रविष्ट हुए । उनको पहले-पहल चन्दना का ध्यान आया और गद्गद स्वर से पुकारने लगे—'चन्दना ! चन्दना ! बेटी चन्दना ! कहां हो बिटिया ?' चन्दना ने ज्योंही पिता की आवाज सुनी, उसने कहा—'हां पिताजी ! मैं यहां तल-घर में हूं ।' सेठ को पता चला कि चन्दना तल-घर में बन्द है । यह जानकर वे बहुत ही घबराये । वह शीघ्रता के साथ तल-घर में पहुंचे और ताला खोलकर चन्दना को देखा कि मानो उन पर बिजली-सी पड़ गयी, आकाश फट गया, जमीन कांपने लगी, सेठ को मूर्च्छा आ गयी, वे अचेत होकर धड़ाम से भू पर गिर पड़े । हवा लगने पर, सचेत हुए चन्दना की स्थिति को देखकर वे फूट-फूटकर रोने लगे । चन्दना ने उन्हें बहुत समझाने का प्रयत्न किया किन्तु सेठ का रोना बन्द ही नहीं हो रहा था । चन्दना ने देखा कि कोई उपाय नहीं चल रहा है तो उसने स्थिति को बदलने

के लिए एक दूसरा प्रकार सोचा और सेठ से कहने लगी—'पिताजी ! मैं यहां पर तीन दिनों से भूखी और प्यासी पड़ी हूं, मेरे लिए कुछ खाने को लाएं ।'

सेठ रोना भूल गया और उसी क्षण रसोई घर की ओर दौड़ा, देखा ताला लगा हुआ है, खाद्य-भण्डार की ओर दौड़ा किन्तु वहां भी ताला लगा हुआ था । आखिर देखा तीन दिन पहले पशुओं के लिए बनाये गये उड़दों के बाकले पड़े थे । किन्तु उन्हें कैसे ले जाये, कोई बर्तन दिखाई नहीं दे रहा था । सेठ बर्तन-भण्डार की ओर दौड़ा किन्तु वहां पर भी ताला लगा हुआ था । आखिर आंगन में पड़े एक छाज के कोने में वे बाकले डालकर लाया और बोला—'बेटी ! ले और तो कुछ नहीं है, उड़द के बाकले हैं, इनसे तू पारणा कर । मैं किसी लुहार को बुलाकर लाता हूं, जिससे तुम्हारी हथकड़ी और बेड़ियां तुड़वा दूं ।' कहकर सेठ लुहार को बुलाने के लिए बाहर निकल गया । इधर चन्दना इन बाकलों को लेकर भावना भाने लगी । वह मन-ही-मन सोचने लगी कि कोई साधु-सन्त इधर से आए तो इस मेरे पारणे के निमित्त मिले बाकलों से कुछ दान देकर पारणा करूं ।

भगवान् महावीर का आगमन

चन्दना उस छाज में रखे बाकलों को सामने रखकर दान के विषय में सोच रही थी । इधर भगवान् महावीर भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए आ पहुंचे । चन्दना भगवान् को देखकर आनन्द-विभोर हो गयी, वह अपने आपको परम धन्य मानती हुई कहने लग—'भगवन् ! पधारें-पधारें । कृपया कुछ भिक्षा लेकर इस दासी को कृतार्थ करें ।' भगवान् महावीर ने देखा एक आंसुओं के अतिरिक्त उनके अभिग्रह के सभी योग मिल रहे हैं । किन्तु अभिग्रह पूर्णतः फलित नहीं हो रहा था, अतः भगवान् वापस मुड़ गये । चन्दना की आंखों में तत्काल ही आंसू भर आए गद्‌गद स्वरों से भगवान् को उपालंभ देती हुई कहने लगी—'प्रभो !

इस दुखिनी को माता-पिता ने विसारा, कुटुम्ब और कबीले वालों ने विसारा, प्रजा ने विसारा । क्या आप भी इस दुःखिनी को त्यागकर जा रहे हैं ! नहीं-नहीं, कदापि नहीं, भगवन् ! आप मुझे इस प्रकार निराश कर नहीं जा सकते । स्वामिन् ! आप अगर ऐसा करेंगे तो मेरे जैसी दीन-दुखिनी को कौन आश्रय देगा ?'

भगवान् के अभिग्रह का सफल होना

चन्दना का इस प्रकार करुणा भरा रुदन सुनकर भगवान् ने मुड़कर देखा, चन्दना की आंखों से आंसू टपक रहे थे । अब भक्त-वत्सल भगवान् महावीर चन्दना को छोड़कर आगे नहीं बढ़ पाए । क्योंकि चन्दना के आंसुओं के साथ भगवान् का अभिग्रह भी फलित हो रहा था । भगवान् महावीर वापस लौटे एवं चन्दना के हाथ से उड़द के बाकले अपना कर पात्र में ग्रहण कर पांच महीने और पच्चीस दिन की तपस्या का पारणा किया । देवताओं के द्वारा 'अहो-दान अहो-दान' की ध्वनि से आकाश गूंज उठा, देव-दुंदुभी बजने लगी । सभी देवगण एक साथ मिलकर कह रहे थे, 'धन्य है महाराज दधिवाहन और महारानी धारिणी की सुपुत्री महासती चन्दनबाला जिसने घोर तपस्वी भगवान् महावीर को पारणा करवाकर मानो सूखे कल्प वृक्ष को अमृत से सींचकर पल्लवित और पुष्पित किया है । दान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए देवताओं ने चन्दना को वस्त्रों और आभूषणों से अलंकृत किया । चन्दना के बाल जो मूलां ने काट डाले थे, देवताओं ने वापस स्थापित किये । उसका शरीर कंचन की तरह चमकने लगा । देवताओं ने वहां साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा की । स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा की बात सुनकर मूलां तत्काल ही दौड़ी एवं उन स्वर्ण मुद्राओं को बटोरने लगी । उस समय देवताओं ने आकाश वाणी की, 'इन मुद्राओं को कोई नहीं उठा सकता । ये सभी मुद्राएं महासती चन्दन की दीक्षा-समारोह में लगेंगी । मूलां निराश हो गई । वह बेचारी आयी थी वैसे ही अपना-सा मुंह लेकर वापस लौट गयी । मूलां ने

जब अपने घर में प्रवेश किया और वहां की छटा देखी तो वह पागल-सी हो गयी। वहां तो एक अनूठा ही रंग खिल रहा था। स्वर्ण सिंहासन पर बैठी चन्दना इन्द्राणी को भी मात दे रही थी। मूलां ने जिसे बाल काटकर भोंडा रूप बना दिया था वही चन्दना अब अपनी रूपराशि के द्वारा जगत को मुग्ध कर रही थी। चन्दना ने ज्योंही माताजी को देखा वह सिंहासन को छोड़कर खड़ी हो गयी और अत्यन्त नम्रता के साथ उन्हें नमस्कार किया। महासती चन्दना ने बहुत-बहुत आग्रह के साथ माताजी को उस स्वर्ण सिंहासन पर बिठाया।

सेठ धनावा जो कि लुहार को बुलाने के लिए बाजार गये थे, मुश्किल से ढूंढते-ढूंढते उन्हें एक लुहार मिला। सेठ उस लुहार को लेकर वहां पहुंचे किन्तु वहां जब चन्दना की स्थिति देखी और वहां का वातावरण निहारा तो सेठ के हृदय में आनन्द का सागर लहरा उठा। सेठ चन्दना को इस रूप में देखकर आश्चर्यचकित थे। चन्दना ने सेठ को भी उसी स्वर्ण सिंहासन पर माताजी के बराबर बिठाया। जब रथिक और वेश्या को इस स्थिति की जानकारी मिली तो रथिक दम्पति और वह वेश्या भी चन्दना के दर्शनार्थ वहां आए और चन्दना की यह बात महाराज शतानीक और महारानी मृगावती के कानों में भी पड़ी। वे तत्काल ही महासती चन्दना के पास पहुंचे, और अपनी गलतियों के लिए क्षमा-याचना की। उन्होंने महासती चन्दना को महलों में चलने के लिए कहा।

चन्दनबाला का प्रत्युत्तर

चन्दनबाला ने अपनी बात जताने का उत्तम अवसर समझकर महाराज शतानीक और महारानी मृगावती से कहा– 'राजन्! जिन राज मन्दिरों में मारने, लूटने और अत्याचार, आक्रमण आदि करने की योजनाएं बनती हों, ऐसे राजमहलों में क्रूर अन्यायी और परले सिरे के लुटेरे ही रह सकते हैं। प्रजा-पालक! आपकी दया से-ही निर्दोष चम्पा को

लुटेरों का क्रीड़ा-स्थल बनना पड़ा । भगवन् ! आपकी ही उस महान अनुकम्पा का फल है कि पिताजी को राज्य का त्याग कर किसी घने जंगल में भाग जाना पड़ा । प्रभो ! आपकी महाकृपा से ही मातुश्री को अपने प्राण से हाथ धोने पड़े । मुझे किराने की तरह बाजार में विक्रय होना पड़ा और एक नर्तकी के हाथों अपमानित होना पड़ा । मौसाजी, पता नहीं मुझे कैसी-कैसी आपदाओं के बीच से गुजरना पड़ा है वह मैं ही जानती हूं । राजन् ! आप फिर मुझे उन्हीं राजमहलों में चलने के लिए कह रहे हैं । अब आप ही बताइए ! क्या ऐसे राजमहल मेरे लिए प्रवेश करने योग्य हैं ?'

ऐसी कुछ मार्मिक बातें सुनने के पश्चात् महाराज शतानीक का हृदय बदल गया । अपने किये हुये वज्र पापों के लिए वे मन-ही-मन पश्चात्ताप करने लगे । वे चन्दना की बातें सुनकर गद्गद हो गये । उन्होंने चन्दना से कहा—'बेटी ! तूने जो कुछ कहा वह शत-प्रतिशत सत्य है । मैं पापी हूं, अधर्मी हूं, अधमाधम हूं और महा हत्यारा हूं । हे वैराग्य मूर्ते ! मैंने जो अत्याचार किये हैं, वे अवर्णनीय और अवांछनीय हैं । फिर भी मैं चाहता हूं कि मेरे इन छोटे-बड़े सभी अपराधों को क्षमाकर मेरी झोंपड़ी को पवित्र करने का अनुग्रह करो और अपने ज्ञानामृत से मेरी मोह मूर्च्छा को दूर करने का मार्ग दिखाओ ।

चन्दना का राजमहलों में आगमन

महाराज शतानीक का विशेष आग्रह देखकर चन्दना ने अपने धर्म-पिता से पूछा, किन्तु सेठ धनावा ने चन्दना को वहां पारणा करने के बाद जाने की अनुमति प्रदान की । चन्दना ने चौविहार तेले का पारणा किया, महाराज शतानीक और महारानी ने भी भोजन वहीं किया । वहां सभी कार्यों से निवृत्त होकर चन्दनबाला के साथ महाराज शतानीक राजमहलों में पहुंचे । आनन्द और उल्लास का वातावरण बन रहा था, कि किसी ने कहा हम आनन्द और उल्लास मनाएं

उससे पहले दधिवाहन की खोज करना अत्यावश्यक है । हम यहां उत्सव मनाएं और वे न जाने कौन-सी स्थिति में भयंकर स्थानों में भटक रहे होंगे । अतः सर्वप्रथम उन्हें ढूंढकर यहां लाना चाहिए । यह बात सबके जंच गई और महाराज दधिवाहन को खोजने के लिए कुछ भृत्यों को प्रेषित किया गया । बस फिर क्या था, थोड़े समय में उन्हें ढूंढ निकाला । महाराज दधिवाहन महाराज शतानीक के राजमन्दिरों में आना नहीं चाहते थे । किन्तु अत्याग्रह और प्रार्थना करने से कौशाम्बी के राजमहलों में पधारे । महाराज शतानीक ने उनका अपूर्व स्वागत किया । उन्होंने अपने द्वारा किये गये अपराधों के लिए भूरि-भूरि क्षमा-याचना की और चंपा का राज्य वापस उन्हीं को सौंप दिया । चन्दना ने भी पिताश्री को नमस्कार कर उन्हें वनवास के दुःखद व्यतिकर के विषय में पूछा तथा अपनी जीवन कहानी भी उनके कानों में डाली । इस प्रकार कर्मों की विचित्रता देखते हुए तथा कर्मों की गतिविधि का स्मरण करते हुए महाराज दधिवाहन कुछ दिनों तक कौशाम्बी में ही निवास करते रहे । इधर चन्दना भी सांसारिक घटना-चक्रों को देख-देखकर दिन-प्रतिदिन वैराग्यरस में घुलती-मिलती जा रही थी ।

चन्दनबाला की दीक्षा

भगवान् महावीर बारह वर्ष और तेरह पक्षवारों तक घोर तपस्या और अभिग्रहों के द्वारा आत्म-संग्राम में विजयी बने । उन्होंने सर्व समता प्राप्त की । केवलज्ञान, केवलदर्शन के साथ-साथ ही उनका वीतरागावस्था के साथ सन्धान हो गया । अब वे वीतराग थे । उन्होंने देशनादी, इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर हुए । उनके साथ-साथ ही एक दिन में ही भगवान् के चालीस सौ शिष्य बन गए । चन्दना ने जब यह शुभ समाचार सुना तो हर्ष का पारावार उमड़ पड़ा । वह भी भगवान् महावीर के पास दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गई । शीघ्र ही वह भगवान् के समवसरण में जाने के लिए तैयारियां करने लगी । ... । और चंपा के सहस्रों-सहस्रों नर-नारी उससे मिले । महाराज

दधिवाहन और शतानीक दोनों ने ही सानन्द चन्दनबाला की दीक्षा का महोत्सव मनाने एकत्रित हुए। महासती चन्दना ने उपस्थित नर-नारियों के झुण्ड को संबोधित किया एवं लोगों को विविध प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान करवाए। चंपापति महाराज दधिवाहन हजारों नर-नारियों के झुण्ड एवं वैरागिनी बहन चन्दना के साथ भगवान् महावीर के समवरण में पहुंचे। महाराज दधिवाहन एवं सहस्रों-सहस्रों नर-नारियों और वैरागिनी बहन चन्दनबाला ने भगवान् महावीर की विधियुक्त वन्दना की। महाराज दधिवाहन ने उनके चरण-कमलों में निवेदन करते हुए कहा—'भगवन्! यह चन्दना जो कि संसार पक्ष में मेरी पुत्री है, यह आपके चरण-कमलों में आना चाहती है, कृपया आप इसका उद्धार करें और अपनी शरण में लें।' भगवान् ने विधिवत् घर वालों की आज्ञा के पश्चात् चन्दनबाला को संयम रत्न देकर, संसार की जाज्वल्यमान आग से बाहर निकाला।

महासती चन्दनबाला का निर्वाण

भगवान् महावीर के कर-कमलों द्वारा दीक्षित होकर महासती चन्दनबाला ने उच्चस्तरीय शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया। उनकी वैराग्य भावना दिन-प्रतिदिन विशेष रूप से वृद्धिगत होती रही। उन्होंने नाना प्रकार के अभिग्रह अपनाए। एकावली, कनकावली एवं रत्नावली प्रमुख विशिष्ट तपस्याएं कर अपनी आत्मा को पवित्र बनाया। उन्होंने क्रमशः क्रोध मान, माया और लोभ आदि कषायों पर विजय प्राप्त करने के लिए ध्यान एवं आसनादि मुद्राओं के प्रयोग किये। इस प्रकार क्षमा की प्रतिमूर्ति बन गई, एक क्षमा ही नहीं बल्कि उनके अन्दर सत्य, शौच, शौर्य आदि अनेकानेक गुण निवास करते थे। भगवान् महावीर ने उनके गुणों का अंकन कर, उन्हें समस्त साध्वी संघ की प्रमुखा के रूप में स्थापित किया। भगवान् महावीर के साध्वी संघ में उस समय छत्तीस हजार साध्वियां थीं। महासती चन्दना उन सबकी अग्रणी बनी। अनेक वर्षों तक उन्होंने शुद्ध संयम को आत्मसात् किया।

अन्त में महासती ने केवल ज्ञान और दर्शन प्राप्त कर मुक्ति के अनन्त-अनन्त सुखों को प्राप्त किया। महासती चन्दना के सरलता, सहिष्णुता, क्षमता, स्थिरता आदि सभी गुण प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनुकरणीय हैं।



महासती प्रभावती

विशाला के अधिपति महाराज चेटक के सात पुत्रियां थीं जिनमें प्रभावती, पद्मावती, मृगावती और शिवा इन चारों के नाम सोलह सतियों की संख्या में लिये गए हैं। शेष तीनों के नाम इस प्रकार हैं—ज्येष्ठा, सुज्येष्ठा और चेल्लना। महासती प्रभावती का विवाह वीतभय नगर के अधिनायक महाराज उदायन के साथ, महासती पद्मावती का विवाह चंपा के अधिपति महाराज दधिवाहन के साथ, महासती मृगावती का विवाह कौशाम्बी के अधिनायक महाराज शतानीक के साथ और महासती शिवा का विवाह उज्जयिनी के अधिनायक महाराज चण्डप्रद्योत से हुआ था। ज्येष्ठा ने कुमारावस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर ली। सुज्येष्ठा का भगवान महावीर के बड़े भाई महाराज नन्दीवर्धन के साथ और चेल्लना का विवाह मगधाधिपति महाराज श्रेणिक के साथ हुआ था।

आज जिस प्रकार हमारे पूरे भारत में गणतन्त्र प्रणाली विकसित है, इसी प्रकार भगवान महावीर के समय में आज से प्रायः ढाई हजार वर्ष पहले भी गणतंत्र प्रणाली चालू थी। चालू ही नहीं वह पूर्ण रूपेण विकसित थी। नौमल्लवी और नौलिच्छवी राजाओं का एक गण था जिसके प्रमुख थे महाराज चेटक। यह गणतंत्र प्रणाली पूर्ण रूपेण विकासोन्मुख थी। इधर गणतंत्र प्रणाली अपने नियमानुसार चल रही थी, तो उधर साम्राज्यवाद का नारा भी बुलन्द था। क्योंकि उस समय भारत छोटे-छोटे अनेक टुकड़ों में बंटा हुआ था। वीतभयपुर के महाराज उदायन उस समय सौवीरसिन्धु आदि सोलह देशों का राज्य

करते थे एवं महासेन आदि का दक्ष मुकुटबन्ध राजा उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे ।

महारानी प्रभावती जिस प्रकार भगवान महावीर की दृढ़ धर्मिणी श्राविका थी उसी प्रकार महाराज उदायन भी तापसों के अनन्य भक्त थे । यद्यपि महाराज उदायन और महारानी प्रभावती दोनों एक धर्म के अनुयायी नहीं थे, फिर भी उन दोनों का पारस्परिक व्यवहार अत्यन्त मधुर था । वे दोनों अपना जीवन अत्यन्त आनन्द और उल्लास के साथ व्यतीत कर रहे थे । महारानी प्रभावती की कोख से एक पुत्र का जन्म हुआ । कुछ समय के पश्चात् उसका नामकरण किया गया । नामकरण के समय राजघराने की तुलना के अनुसार आरंभ-समारंभ को बहुत कम स्थान दिया गया था । एक प्रकार से उसे एक सादगी का प्रतीक ही कहना चाहिए । समागत पंडितों ने उस राजकुमार का नाम अभीचिकुमार रखा । महारानी प्रभावती की विशेष प्रेरणा से उसने जैन धर्म के सुसंस्कारों को हृदयंगम किया और आगे चलकर वह राजकुमार अभीचि बारह व्रतधारी श्रावक बना । महाराज उदायन के घर में एक उनका भानजा भी रह रहा था । जिसका छोटा-सा नाम केशीकुमार था । वह निरन्तर अपने मामा के घर पर ही रहता था ।

भगवान् महावीर का पदार्पण

वीतराग सर्वज्ञ भगवान् महावीर छोटे-छोटे ग्राम और नगरों में विचरते हुए एक बार वीतभयनगर में पधारे । वीतभयनगर के एक सार्वजनिक उद्यान में आकर भगवान् महावीर ठहरे । सहस्रों-सहस्रों लोग उनके दर्शनार्थ तीव्र गति से चले आ रहे थे, तो कुछ लोग उनके वचनामृत के प्यासे अपनी प्यास बुझाने के लिए तीव्र गति से कदम बढ़ाते हुए जा रहे थे । भगवान् महावीर ने समागत लोगों में अपनी सुधास्यन्दिनी वाणी का प्रवाह बहाया । सहस्रों-सहस्रों लोगों ने उस परम पावनी वाणी से अपने कानों और भावों को पवित्र किया । महारानी प्रभावती ने भी वह परम भगवद्वाणी सुनी । उनका अणु-अणु विरक्ति से ओत-प्रोत हो

गया । व्याख्यान की सम्पन्नता के साथ ही सभी लोग अपने-अपने स्थान पर लौट गये । महारानी प्रभावती भी अपने राजमंदिरों में लौटी, भगवद्‌ वाणी सुनने के बाद उनका मन दीक्षा के लिए उतावला हो उठा । उन्होंने अपनी भावना महाराज उदायन के समक्ष रखी । महाराज उदायन को यह बात बड़ी ही असह्य लगी । वे एक बार तो अचेत ही हो गये । ठण्डी हवा के लगने से सचेत हुए । महारानी प्रभावती की दीक्षा की बात उनके लिए अनुकूल नहीं पड़ रही थी । उन्होंने महारानी को समझाने का अत्यधिक प्रयत्न किया, किन्तु जैसे-जैसे प्रयत्न किया, दीक्षा की बात भी क्रमशः बल पकड़ती गई । अन्त में जब महाराज उदायन इसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सके, तब कहीं उन्होंने महारानी से कहा कि एक शर्त पर मैं तुम्हें दीक्षा की अनुमति दे सकता हूं । वह शर्त है कि तुम्हें स्वर्ग से आकर मुझे प्रतिबोध देना होगा । महारानी प्रभावती ने वह शर्त स्वीकार की एवं महाराज उदायन ने उन्हें संयम लेने की स्वीकृति दे दी ।

महारानी प्रभावती की दीक्षा

आज्ञा प्राप्त होते ही महारानी प्रभावती ने दीक्षा ग्रहण कर ली । दीक्षा ग्रहण करने के साथ ही वे शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने में जुट गयीं । उन्होंने अपने जीवन में शास्त्रीय ज्ञान का अच्छा अभ्यास किया । लोगों में धर्म प्रचार करतीं हुई अनेक वर्षों तक विचरण करती रहीं । अन्त में विविध तपस्याओं और अभिग्रहों के साथ अनशन करके वे स्वर्गलोक में पहुंची । वहां पर भी वे महर्द्धिक देवता के रूप में उत्पन्न हुईं । वचन बद्ध होने के कारण प्रभावती की आत्मा देवत्व के रूप में। स्वर्ग से यहां आकर महाराज उदायन को प्रतिबोध दिया एवं सर्वज्ञ भगवान् की वाणी का उन्हें पूरा-पूरा मर्म समझाया । महाराज उदायन धर्म के विषय में सूक्ष्मता से अच्छा ज्ञान प्राप्त कर, उसके पूर्ण मर्मज्ञ बन गये । वे उसी समय से भगवान् महावीर के एक सच्चे भक्त बन गये । धर्म को अपने जीवन में उन्होंने आत्मसात करके, लोगों के सम्मुख रखा।

इस प्रकार उनकी जीवन-नैया सुख-सागर में आनन्द से वह रही थी कि एक बार उज्जयिनी के महाराज चण्डप्रद्योत ने महाराज उदायन की दासी स्वर्णगुलिका का अपहरण कर उसे उज्जयिनी में ले आये । महाराज उदायन को जब पता चला तो उन्होंने वापस लौटाने के लिए संदेश भेजा, किन्तु महाराज चण्डप्रद्योत ने इस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया । तब दासी को मुक्त कराने के लिए महाराज उदायन को भयंकर ग्रीष्मऋतु में उज्जयिनी जाने की तैयारी करनी पड़ी । रास्ता लम्बा था । साथ में हजारों सैनिक, हाथी, घोड़े आदि अनेक पशु भी थे । मार्ग में कोई जलाशय न होने के कारण प्यास से सभी लोग व्याकुल थे । महाराज उदायन का भी प्यास से गला सूखा जा रहा था । उस संकट की स्थिति में महारानी प्रभावती की आत्मा जो स्वर्ग में देवरूप थी, यहां आकर एक महान जलाशय की विकुर्वणा की । महाराज उदायन को देवनिर्मित एक बहुत विशाल सरोवर दृष्टिगत हुआ । सभी लोग वहां पहुंचे और ठंडा और निर्मल पानी पीकर अपनी-अपनी प्यास शांत की । क्रमशः चलते हुए महाराज चण्डप्रद्योत की नगरी उज्जयिनी पहुंचे । उन्होंने चण्डप्रद्योत को कहा कि स्वर्णगुलिका दासी को वापस कर दें, किन्तु उन्होंने इस अनुरोध को ठुकरा दिया । तब फिर युद्ध के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं था । महाराज उदायन ने युद्ध घोषित कर दिया । भीषण युद्ध के पश्चात् महाराज चण्डप्रद्योत को बंदी बना लिया गया ।

महाराज उदायन स्वर्णगुलिका और चण्डप्रद्योत को साथ लेकर अपने सैन्यदल के साथ वापस लौट रहे थे । मार्ग में पर्यूषण का समय आ गया । महाराज उदायन ने संवत्सरी का पौषध रखा । प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होंने छोटे-बड़े सभी प्राणियों से क्षमा-याचना की । महाराज चण्डप्रद्योत से भी क्षमा-याचना की । महाराज चण्डप्रद्योत ने कहा—'क्या भगवान् महावीर ने आपको यही धर्म सिखाया है ? जो एक व्यक्ति का सर्वस्व छीन लेना और फिर हाथ जोड़कर उस व्यक्ति क्षमा-याचना का ढोंग करना ।' महाराज उदायन सच्चे धर्म-मर्मज्ञ

थे । उन्होंने तत्क्षण ही महाराज चण्डप्रद्योत को कारागृह से मुक्त कर उनका राज्य उन्हें सौंप दिया और तत्पश्चात् क्षमा-याचना की ।

महाराज उदायन का दीक्षा-समारोह

महाराज उदायन क्रमशः अपने राज्य में लौट आये । काफी समय तक उन्होंने अपनी प्रजा पर अच्छा अनुशासन किया । अपने राज्य की सार-संभाल करते हुए सुखपूर्वक अपना जीवन बिता रहे थे । इस सुख की स्थिति में भगवान् वहां पधारे । नगरवासी एवं महाराज उदायन भी प्रभु के दर्शनार्थ भगवान् के समवसरण में पहुंचे । भगवान् महावीर ने उस समय जनता को उपदेश दिया । जनता ने उनकी सुधास्रावणी वाणी सुनी, उन्हें संसार से विरक्ति हो गयी । वे अपने राजमंदिरों में पहुंचे । अपने मंत्रिमंडल से विचार-विमर्श कर अपने संसार पक्षीय भानजे केशीकुमार को राज्याभिषेक कर, उन्होंने भगवान् महावीर के समीप महान् उत्सव के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली । महाराज उदायन ने अपने पुत्र अभीचिकुमार को कर्मबन्धन के भय से राज्याभिषेक नहीं किया । उन्होंने यह कार्य अभीचिकुमार का हित देखकर किया था, किन्तु उसके विपरीत हो गया ।

अभीचिकुमार अपना हक छीन जाने के कारण दुखित हो गया । वह वीतभय नगर को छोड़कर अब चम्पा नगरी में अपने मौसी पुत्र कौणिक के पास रहने लग गया । यद्यपि अभीचिकुमार भगवान् महावीर का श्रावक था और धर्म का विशेषज्ञ था । फिर भी अहं का कार्य ऐसा ही है, उसने संसार पक्षीय अपने पिता महाराज उदायन से अंत तक क्षमा-याचना नहीं की । फलस्वरूप सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर संसार में भटक गया एवं वैमानिक देवों में उत्पन्न न होकर असुर कुमार देवों में उत्पन्न हुआ ।

राजर्षि उदायन पर विष-प्रयोग

भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त कर राजर्षि उदायन अकेले ही विचरने लगे । वे एक बार विचरते-विचरते अपनी जन्मभूमि वीतभय

नगर में पधारे । राजर्षि उदायन के पधारने का जब महाराज केशी को पता चला, उन्होंने सारे नगर में पटह फिरवा दिया । कहा गया कि राजर्षि उदायन को ठहरने के लिए अगर किसी ने स्थान दिया तो उसके सारे घर वालों को फांसी की सजा मिलेगी । ऐसी स्थिति में भले लोग स्थान क्यों देने लगे ? यह सारी व्यवस्था इसलिए की गयी कि महाराज केशी को संदेह हो गया था और वह संदेह यह कि राजर्षि उदायन वापस राज्य छीनने के लिए आये हैं । दूसरे दिन राजर्षि उदायन शहर में पधारे । वे सवेरे से संध्या तक घर-घर में घूमते रहे किन्तु किसी ने भी मुनि को रहने के लिए स्थान नहीं दिया । वे एक छोर से स्थान की याचना करते-करते संध्या के समय एक प्रजापतियों के मुहल्ले में पहुंचे । वहां उन्होंने एक कुम्हारिन से साक्षात् किया, एवं उससे रहने के लिए स्थान की याचना की । दिन बहुत थोड़ा रह गया था । मुनिराज को पानी पीना था, क्योंकि रात हो जाने के पश्चात् उन्हें खाना-पीना कुछ नहीं करना है और रात के समय में घरों में घुमना भी नहीं है । अतः उन्होंने कुम्हारिन से नम्रतापूर्वक कहा—'बहन ! मैं जैन मुनि हूं मुझे रात को बाहर रहना नहीं कल्पता । कृपया तुम्हारे घर में स्थान हो तो रात-भर यहां विश्राम कर लूं ।' कुम्हारिन ने राजर्षि की मधुर वाणी से आकृष्ट होकर अपने पति से कहा । प्रजापति बाहर आया एवं मुनिराज के दर्शन कर तृप्त हो गया । उसने तत्काल ही स्थान के लिए हां भर ली । राजर्षि ने वहां अपना सामान रखा एवं आहार-पानी से निवृत होकर प्रतिक्रमण के लिए बैठ गये ।

राजर्षि वहां के जलवायु एवं रूक्ष आहार-पानी के कारण कुछ अस्वस्थ हो गये । औषधादि के अभाव में वे दिन-प्रतिदिन दबते जा रहे थे । एक बार एक राज-वैद्य से उनका मिलन हुआ । उन्होंने उसे सारी स्थिति बतलायी और उपचार चालू किया । किन्तु जैसे ही महाराज केशी को पता चला, उन्होंने वैद्यराज जी से कहकर उस औषधि में विष मिलवा दिया । महाराज उदायन को इसका पता लग गया, फिर भी उन्होंने इसका प्रतिकार नहीं किया । वे मृत्यु शैय्या पर

थे फिर भी महाराज केशी के प्रति किसी भी प्रकार की द्वेष-भावना न रखते हुए आत्म-निरीक्षण करते रहे । अंत में शुक्लध्यानारूढ़ होकर कर्मबंधनों को तोड़ मोक्ष को प्राप्त हुए ।

राजर्षि की हत्या के कारण शासन अनुरागी देव कुपित हो गये एवं समस्त शहर पर अंगारों की वर्षा प्रारंभ कर दी । कहते हैं कि महाराज केशी के वे बड़े-बड़े राजमहल उनके देखते-देखते जल-बलकर छार हो गये । जिस प्रजापति के घर में राजर्षि रहे थे, उस घर को छोड़कर सारा शहर आग की लपटों में जलकर भस्म हो गया । कालांतर से प्रभावती—देव भी स्वर्ग से चलकर मुक्तिगामी बने ।



महासती पद्मावती

चम्पानगरी प्राचीन-काल में अंग देश की राजधानी थी । वर्तमान में चम्पा नहीं है, किन्तु उस स्थान को लोग चम्पारन के नाम से पुकारते हैं । भगवान् महावीर के समय में वहां का राज्य महाराज दधिवाहन करते थे । उनके प्रख्यात तीन महारानियां थीं । एक का नाम अभया था । जिसने सेठ सुदर्शन को उपसर्ग किये थे । दूसरी महारानी महासती चंदनबाला की माता, उन्होंने अपने शील की रक्षा के लिए जीह्वा खींचकर प्राण त्याग दिये थे । उन्हें महारानी धारिणी कहा जाता था । तीसरी महारानी थी पद्मावती जिसका जीवनवृत्त यहां दिया जा रहा है । पद्मावती महाराज चेटक की दूसरी पुत्री थी । महारानी पद्मावती सच्ची पतिव्रता थी, वह दृढ़धर्मिणी और प्रियधर्मिणी के नाम से भी पुकारी जाती रही है ।

अद्भुत दोहद का उत्पन्न होना

महारानी पद्मावती ने एक बार गर्भ धारण किया । कुछ समयांतर से उन्हें दोहद (दोहला) उत्पन्न हुआ । वह इस प्रकार है—'मैं महाराज दधिवाहन की पोशाक पहनूं, उनका मुकुट धारण करूं । पटहस्ती पर सवार होऊं, महाराज दधिवाहन मेरे पीछे बैठकर छत्र करें । इस प्रकार अत्यन्त आनंद और उत्सव मनाती हुई चम्पा की गली-गली में घूमती हुई उद्यान में पहुंचूं और महाराज के साथ क्रीड़ा करूं ।' उपर्युक्त दोहद की पूर्ति कुछ असंभव सी जान पड़ी, अतएव महारानी पद्मावती

ने उसे अपने मन में ही रखा । दोहद की पूर्ति के बिना वह प्रतिदिन दुबली-पतली होती जा रही थी । वह हर समय उदास रहती थी । उसके चेहरे की शोभा प्रायः लुप्त हो चुकी थी । एक दिन महाराज दधिवाहन ने उनकी ऐसी स्थिति देखकर आग्रहपूर्वक पूछा—'प्रिये ! वह कौन-सा कारण है, जिससे कि तुम इतनी उदास रहती हो, और दुबली-पतली होती जा रही हो ?' अधिक दबाव डालने पर महारानी ने अपनी बात का सारा भेद खोल दिया । महाराज ने बहुत ध्यान व प्रसन्नता से दोहद को सुना एवं अपने निजी आदमियों को व्यवस्था करने का आदेश दिया । शीघ्रातिशीघ्र व्यवस्था की गयी एवं दोहद के अनुरूप ही महारानी ने महाराज की पोशाक धारण की । महासती पद्मावती अपने पट्टहस्ती के ऊपर आरूढ़ हुई, उनके पीछे महाराज दधिवाहन विराजमान हुए और वह अपने आप में एक अद्भुत स्वारी थी । दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ी । उनके हृदयों में हर्ष का पारावार उमड़ रहा था, तो एक ओर कौतूहल का पारावार भी किसी प्रकार से कम नहीं था । कुछ दर्शक महारानी के विषय में विभिन्न प्रकार की कल्पना संजो रहे थे । तो कुछ महाराज दधिवाहन के विषय में अपने मस्तिष्क की शक्तियां लड़ा रहे थे, तो कुछ दर्शक उनमें तटस्थ भी थे । वे केवल उतना ही सोच रहे थे कि अपना भावी राजा कोई महाप्रतापी होने वाला है । किंतु सभी दर्शक इस अद्भुत यात्रा को देखने में एक ध्यान से व्यस्त थे । शोभा-यात्रा ज्योंही वन में पहुंची, गजराज एकाएक बिगड़ गया, वह मदोन्मत्त हो गया । उसे अपनी पूर्वकृत क्रीड़ाएं याद आ रही थीं । उसके सामने विंध्य-अटवी का कदली वन नाच रहा था । उसने महावत को नीचे पटका और गहरे वन की ओर दौड़ पड़ा । महारानी पद्मावती और महाराज दधिवाहन का हृदय कांप उठा । सारी प्रजा और राज्य कर्मचारियों के प्राण सूख गये । शहर के लोगों में हाहाकार मच गया, सब निरुपाय थे ।

मदमस्त हाथी गहरे जंगल की ओर दौड़ा जा रहा था । उस स्थिति में महाराज ने दूर से राह पर झुके हुए बड़ के पेड़ को देखा

और उन्होंने महारानी से कहा—प्रिये ! देखो वह बड़ का पेड़ दिखाई दे रहा है, यदि हमारे बचाव के लिए अनुकूल नजर आये तो उसे अवश्य पकड़कर हमें अपना बचाव कर लेना है ।' महराज ने रानी से बात की, इतने-से समय में तो हाथी वहां पहुंच ही गया । महाराज तो उस पेड़ की शाखा पकड़ने में सफल हो गये, किन्तु महारानी उस पेड़ की शाखा को नहीं पकड़ सकी । गजराज अत्यन्त तीव्र गति से दौड़ रहा था, वह एक क्षण में महारानी को लेकर कहां-का-कहां ही घने जंगल में जा पहुंचा (घुसा) । महारानी पद्मावती पूरे संकट में थी । महारानी अकेली मदांध हाथी पर स्वार, घना जंगल सामने, बचाव का कोई उपाय नहीं, फिर भी वह घबरायी नहीं । इस प्रकार की संकट की बेला में ही धार्मिकता की पहचान होती है । कर्मों की गति भी विचित्र है, जो मनुष्य को कहां-का-कहां फंसा देती है ।

महारानी का बचना और दीक्षा

आखिर हाथी कितना दौड़ता, वह उस भयंकर महाजंगल में दौड़ता-दौड़ता थक गया । उसे अत्यन्त थकान लगने लगी । वह प्यास के मारे व्याकुल था । उसने अपने सम्मुख एक विशाल जलाशय देखा । जलाशय निर्मल जल से परिपूर्ण था । हाथी प्यासा तो था ही, जलाशय के संनिकट पहुंचते ही उसने पानी पीने के लिए अपनी सूंड आगे बढ़ायी । अवकाश देखकर महारानी पद्मावती धैर्य के साथ गजराज से नीचे उतर आयी । गजराज ने पानी पिया एवं पूर्ववत् अपनी गति से अति गहरे जंगल में घुस गया, किन्तु महारानी की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा । यह उनके शील और पुण्य का प्रभाव था । हाथी जब आंखों से ओझल हो गया तो महारानी ने वहां से सरककर घने जंगल में एक गहरे पेड़ की छाया में अपना जी टिकाया । उसने अपने मन को धैर्य के साथ जोड़ा और पूर्ववत् भगवान् का भजन एवं अपने पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित करने लगी । महासती कुछ देर के लिए वहां ठहरी और फिर वहां से आगे चल पड़ी, महारानी अपनी

गति से गांव की ओर कदम बढ़ा रही थी । उसके रास्ते में तापसों का एक आश्रम आया । पूछने पर उन्होंने एक निकटवर्ती नगर की राह बतलायी । वे राहगीरों से पता लगाती हुई उस नगर तक पहुंची । शहर में प्रवेश पाते ही द्वार पर उन्हें साध्वियां मिलीं, साध्वियों के साथ ही स्थानक में गयीं और उनका उपदेश सुना । उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ, संसार की अनित्यता का बोध हुआ एवं साध्वीश्री से उन्होंने साधुत्व के लिए निवेदन किया । योग्यता समझकर साध्वीश्री ने उन्हें दीक्षा प्रदान की किन्तु शीघ्रतावश एक बहुत बड़ी भूल हो गयी, महारानी ने अपने गर्भवती होने की बात साध्वियों को नहीं बतलायी । कालान्तर में यह एक पूर्ण चिंता का विषय बन गया ।

पुत्र का जन्म

जैसे ही उदरस्थ गर्भ बढ़ा, स्पष्ट पता लगने लगा । साध्वियों ने इस विषय की पूछताछ की, महासती पद्मावती ने अपनी भूल स्वीकार की एवं सभी सत्य-सत्य घटनाएं साध्वियों के सम्मुख रखीं । इस घटना से वहां की प्रमुख महासती विशेष चिंतित हुई । महासती पद्मावती को उन्होंने किसी प्रछन्न घर में गुप्त रूप से रखा । समय पर पुत्र का जन्म हुआ, जिसे श्मसान भूमि में विसर्जित कर दिया गया । महासती पद्मावती ने इस कार्य के लिए प्रायश्चित कर अपने आपको विशुद्ध बनाया ।

इधर उस बालक के पुण्योदय से उस श्मसान भूमि में तत्काल ही संरक्षक आ गया, जो कि चाण्डाल था । वह उस समय तक निःसंतान था । उसने ज्योंही बालक को देखा उसे उठाकर अपने घर ले गया । अपनी पत्नी से सलाह-सूत कर उसका पुत्र के रूप में भरण-पोषण करने लगा । गर्भ दोष के कारण उस बच्चे के शरीर में प्रायः खुजली चलती रहती थी । सारे दिन वह अपने हाथों से शरीर को खुजलाता रहता था । अतएव उसका नाम करकण्डू पड़ गया । करकण्डू कुछ

बड़ा हुआ, उसने अन्यान्य बच्चों के साथ खेलना प्रारंभ किया। उसका खेल भी निराले ढंग का था, वह खेल के समय स्वयं राजा का पद ग्रहण करता था। मंत्री, उपमंत्री, कोतवाल, पुरोहित आदि के पद यथायोग्य दूसरे बच्चों को समर्पित करता था। कोर्ट, कचहरी, न्यायाधीश आदि की रचना भी करता था। इसके अतिरिक्त सामान्य जनता का स्थान भी रखता था। जिस पर वह स्वयं अनुशासन चलाता रहता था। ये सब संस्कार वंशानुगत थे।

करकण्डू ने अपने पिता का कार्यभार संभाला

वह क्रम से जब बड़ा हुआ तो अपने पिता के स्थान पर श्मसान भूमि में रहने लगा। वह पूरे दिन वहां का रखवाला बनकर रहता था। एक दिन वह अपने कार्य पर तैनात था कि उसी मार्ग से दो संत जाते हुए दिखायी पड़े। एक ने अपने साथी साधु से कहा—'मुने! पास में जो बांस का बोझ खड़ा है, उसके अन्दर एक सात पोर वाली बांस की लकड़ी है।' दूसरे मुनि ने कहा—'इससे अपने को क्या तात्पर्य ?' पहले मुनि ने कहा—'मुने! यह सात पोर वाली लकड़ी जिसके पास जाएगी, वह राज्य करेगा।' दोनों मुनियों का यह प्रसंग दो व्यक्तियों ने सुना। जिनमें एक था करकण्डू और दूसरा एक साधारण द्विज-पुत्र। दोनों उस लकड़ी के लिए एक साथ दौड़े, दोनों बराबर वहां पहुंचे और दोनों ने एक ही साथ उसे छुआ। दोनों में एक प्रकार का द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया, द्विज-पुत्र कह रहा था कि इस पर मेरा अधिकार है, तो इधर करकण्डू कह रहा था कि नहीं पहल मैंने की है। अतः इस लकड़ी पर मेरा अधिकार है। इस कारण दोनों में काफी तनातनी हो गयी। अन्त में जब कोई रास्ता बनता दिखायी नहीं दिया, तब कहीं ये दोनों न्याय के लिए महाराज दधिवाहन के पास पहुंचे और उनके सम्मुख अपनी स्थिति रखी। महाराज दधिवाहन ने जैसे ही बालक का तेज निहारा, वे चकित थे। उन्होंने कहा—क्या रखा है बेटे! इस बांस की लकड़ी में, दे दो इस द्विज-पुत्र को।'

करकण्डू ने महाराज से कहा—'ऐसे कैसे दे दूं ? इस लकड़ी से तो मुझे राज्य की प्राप्ति होने वाली है ।' एक दुध-मुंहे बालक के मुंह से, इस प्रकार का संवाद सुनकर सारे सभासद चकित थे । महाराज दधिवाहन ने करकण्डू का साथ देते हुए कहा—'अच्छा ! जाओ बेटा ! लकड़ी तुम ले जाओ, किन्तु तुम्हें जब राज्य मिले तब एक गांव द्विजपुत्र को भी दे देना ।'

करकण्डू को राज्य की प्राप्ति

बालक करकण्डू एक मामला जीत गया । अब वह जहां भी जाता था, उस सात गांठ वाली लकड़ी को अपने साथ रखता था । एक दिन वह किसी कार्यवश कलिंग देश की राजधानी कंचनपुर की ओर जा रहा था । वहां के राजा का अकस्मात् निधन हो गया । राजा के कोई सन्तान नहीं थी । प्रजा को इस विषय की विशेष चिंता हुई । सारा मंत्रिमंडल मिला एवं अपने भावी महाराज के चुनाव के लिए सबने एकमत होकर एक हथिनी संवारी । उस हथिनी की सूंड में राज्य की ओर से एक कुसुम–माला पकड़ायी गयी । निश्चित किया गया कि हथिनी यह माला जिस किसी भी व्यक्ति को पहना देगी, वही व्यक्ति हमारे देश का राजा बनेगा । इस प्रकार सहस्रों-सहस्रों व्यक्तियों से परिवृत्त, सूंड में माला लिये हुए वह हथिनी नगर से बाहर आयी । इधर करकण्डू भी थका-मांदा धीरे-धीरे कंचनपुर की ओर अग्रसर हो रहा था । वह ज्योंही हथिनी के समाने पड़ा, उसने तत्काल ही उसके गले में माला पहना दी एवं बालक तो वह था ही उसे अपने सूंड से उठाकर अपनी पीठ पर बिठा लिया । मंत्रिमंडल एवं नगर-निवासियों द्वारा उसे अपने राजा के रूप में स्वीकार कर लिया गया । करकण्डू आगे चलकर एक महा पराक्रमी और महा प्रतापी नरेश हुआ ।

चण्डालत्व से ब्राह्मणत्व

महाराज करकण्डू जाति के चाण्डाल थे । अपने भाग्योदय से उन्होंने नृपतित्व को प्राप्त किया था । किन्तु इससे उनका चाण्डालत्व कहीं नहीं चला गया । वह तो उनके साथ ही था । अतः ब्राह्मण लोग उनसे कुछ घृणा के भाव रखते थे और लुके-छिपे उनके विरुद्ध प्रचार करने लगे थे । महाराज करकण्डू ने उन्हें बुलाकर कहा—'आप लोग द्विज हैं, आप द्विज अवश्य हैं किन्तु मैं जहां तक सोच पाया हूं द्विज शब्द की उत्पत्ति से आप लोग अवगत नहीं हैं । देखिये, संस्कृत व्याकरण के अनुसार द्विज शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—'द्वाभ्यां संस्काराभ्यां जायते इति द्विजः' अर्थात् जन्म से और संस्कार—से जो दो बार उत्पन्न होता है, उसे द्विज कहा जाता है । अतः जन्मना ब्राह्मण होने पर भी उसे वेदोक्त विधि से यज्ञोपवित देकर अर्थात् जनेऊ पहनाकर संस्कृत शुद्ध ब्राह्मण बनाया जाता है । अतः बन्धुओं ! मैं आज से तुम्हें आज्ञा प्रदान करता हूं कि शहर के सभी चाण्डालों को वेदोक्त विधि से, संस्कारों से संस्कृत कर उन सबको ब्राह्मणत्व समर्पित करो, अन्यथा तुम्हारे हक में ठीक नहीं होगा ।' राजसत्ता के सामने ब्राह्मणों को झुकना पड़ा एवं एक-एक चाण्डाल को ब्राह्मणत्व का रूप देना पड़ा । ऐसी होती है सत्ता की शक्ति ।

ब्राह्मण जिसे गांव लेना है

महाराज करकण्डू को सिंहासन पर आरूढ़ हुए कुछ काल व्यतीत हो चुका था । उनके सिंहासनारूढ़ होने की बात फैलती-फैलती उस ब्राह्मण के कानों तक पहुंची जिसे कि बालक करकण्डू ने सात पोर वाली लकड़ी न देकर एक गांव देने का कौल किया था । वह पूछता और जानकारी लेता हुआ महाराज करकण्डू के सभागार में पहुंचा एवं अपनी मांग पेश की । महाराज करकण्डू ने उससे पूछा—'तुम किसके

राज्य में रहते हो ?' प्रत्युत्तर में उसने निवेदन किया—'महाराज ! मैं महाराज दधिवाहन की धरती पर रहता हूं ।' इस प्रकार उसकी बात सुनने के बाद महाराज करकण्डू ने दधिवाहन के नाम एक आज्ञा-पत्र लिखा–

'महाराज दधिवाहन !

मैं आज्ञा करता हूं, कि आप अपने राज्य की धरती से एक गांव की धरती इस द्विज-पुत्र को देवें । क्योंकि उस विवाद के अन्तर्गत आपने ही उसका फैसला देते समय गांव देने की बात कही थी । अतः आपको ही अपने राज्य की धरती से एक गांव इसे देना है ।'

द्विज-पुत्र के हाथों में जैसे ही वह पत्र आया, वह एक कबूतर की भांति वहां से उड़ा और महाराज दधिवाहन के पास पहुंचकर वह पत्र उनके कर-कमलों में सौंपा । महाराज दधिवाहन ने ज्योंही पत्र पढ़ा, वे क्रोध में आग-बबूला हो उठे । उनके दोनों नेत्रों से अंगारे बरसने लगे । उन्होंने उस द्विज-पुत्र को भावावेश में कहा—'जा ! जा ! कह दे उस चाण्डाल-पुत्र को कि मैं अभी आता हूं और गांव देने की बात बताता हूं ।' द्विज-पुत्र से जब ये सारे समाचार सुने तो करकण्डू भी तत्काल ही समझ गया कि क्या घटने वाला है ।

महासती पद्मावती द्वारा बीच-बचाव

महाराज करकण्डू अपनी रक्षा के लिए तत्क्षण ही युद्ध के मैदान में आ डटे और इधर महाराज दधिवाहन भी अपने सैन्य दल के साथ जा अड़ा । एक अत्यन्त साधारण बात के लिए नर-संहार का मोर्चा मंड गया । दोनों ओर से कमरें कसी हुई थीं । दोनों राजाओं में युद्ध कगार पर था । महासती पद्मावती को इस बात का पता पड़ा । वे गुरुआनीजी से आज्ञा प्राप्त कर दोनों के खेमों में पहुंची । धर्मोपदेश देकर उन्हें पिता पुत्र के सम्बन्ध की जानकारी दी एवं दोनों में बीच-बचाव कर उन्हें युद्ध की भयंकर हिंसा के पाप से उबार लिया ।

चिरकाल से बिछुड़े पिता-पुत्र दोनों गले मिले । महाराज दधिवाहन के हृदय में हर्ष का समुद्र हिलोरें ले रहा था । महाराज दधिवाहन चंपा और कंचनपुर दोनों स्थानों का राज्य-भार करकण्डू को सौंपकर स्वयं धर्म-ध्यान में लीन रहने लगे । इधर महासती पद्मावती ने भी शुद्ध-संयम का र्निवाह कर जिस कार्य के लिए उद्यत हुई थीं, उसे सफलता के साथ सम्पन्न किया ।



महासती मृगावती

महासती मृगावती महाराज चेटक की तीसरी पुत्री थी । वह वत्स देश के महाराजा शतानीक को व्याही गई थी । उनकी राजधानी कौशाम्बी थी । कौशाम्बी नगरी में एक अनोखा चित्रकार रहता था । उस चित्रकार को सुरमिय नाम के यक्ष से एक वरदान प्राप्त था । इसी कारण वह चित्रकार किसी भी व्यक्ति का एक अंग देखकर उसका पूरा चित्र अंकित करने में बड़ा ही दक्ष था ।

चित्रशाला का निर्माण

एक बार उस चित्रकार को महाराज शतानीक ने बुलाया । उसे अपनी चित्रशाला में चित्रकारी करने का आदेश दिया । उसने उस चित्रशाला में बड़े-बड़े बाग-बगीचों से परिवेष्टित कुछ प्रसिद्ध राजधानियों के चित्र अंकित किये । कुछ जलाशय भी जो कि विभिन्न प्रकार के विटपकुंजों से परिवेष्टित थे । जहां शेर, सिंह, व्याघ्र, चीते, भालू, सांभर सूकर, मृग, शशक आदि की क्रीड़ाओं की भाव-भंगिमा के दृश्य भी चित्रित किये गये थे । कुछ विशाल राजमार्ग जहां विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे वाहनों के यातायात के अत्यन्त सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किये थे । कुछ गगनचुम्बी पर्वत-मालाएं जहां विशाल झरने ऊपर से गिरते हुए विविध प्रकार के दृश्य सामने ला रहे थे । कहीं करुणा रस टपक रहा था, तो कहीं वीभत्स रस के द्वारा भयावना वातावरण बन रहा था । कहीं श्रृंगार रस की श्रेणी मूर्तमान हो रही थी, तो कहीं रौद्र रस के डरावने दृश्य भी प्रकट हो रहे थे और कहीं वैराग्य और वात्सल्य के भाव भी मुखरित थे । इस प्रकार चित्रकार ने उस शाला में अपनी कला के साकार बनाने हेतु अत्यधिक सुन्दराकृति वाले बड़े-बड़े वृक्षों की कतारें

आमने-सामने बातें कर रही हों, ऐसे दृश्य भी सुशोभित किये थे। कुछ प्राकृतिक रंग-बिरंगी झाड़ियों के दृश्य भी जो बरबस ही दर्शकों के मन को लुभाने वाले थे। कुछ महा नदियां जिनमें बड़ी-बड़ी नौकाएं तैर रही थीं। उनके दोनों तटों पर अनेकानेक भव्य भैंसे और गठीली गौएं हरी-हरी घास चर रही थीं। इस प्रकार मनोहारी चित्रों की मन लुभावनी शोभा दूर से ही लोगों का मन आकर्षित करती थी।

उसी चित्रशाला की सामने की भित्ति पर चित्रकार ने महारानी मृगावती का एक चित्र भी अंकित किया। महारानी मृगावती रूप-रंग में तो विशेष थी ही कारीगर ने उसमें और चार-चांद लगा दिये। महारानी मृगावती का चित्र बड़ा ही सुन्दर और सुडौल बन पड़ा था। महारानी की दाईं जंघा पर एक काले रंग का बड़ा ही सुन्दर और स्वाकृति वाला तिल था। संयोगवश उस तिल का अंकन भी स्वाभाविक रूप से हो गया था। चित्रकार का ध्यान जब उस तिल की ओर गया तो उसे अनुचित-सा ही प्रतीत हुआ। वह चाह रहा था कि इसको मिटा दूं। काफी प्रयत्नों के बावजूद वह उसे मिटाने में सक्षम नहीं हो सका। अन्त में संध्या हो चुकी थी। चित्रकार ने उस कार्य को कल पर छोड़ा और अपने घर की ओर चल पड़ा।

संयोग की बात है इधर चित्रकार ने अपने घर की ओर मुंह किया और इधर महाराज शतानीक उस चित्रशाला में प्रवेश कर रहे हैं। प्रवेश पाते ही ठीक सामने की भित्ति पर महारानी मृगावती का चित्र उनकी दृष्टि में पड़ा। महारानी की जंघा का काला तिल उनका चिर-परिचित था। देखते ही महाराज शतानीक 'आसुरत्ते मिस-मिसायमाणे तिउडं भिउडं ललाटे त्रिकट्टु' व अंगारे की तरह लाल हो उठे। होंठ धूजने लगे। उन्होंने अन्दर-ही-अन्दर मिसमिसायमाण होते हुए ललाट में तीन सलवटें डाल ली। उन्होंने उस आवेशावस्था में ही मंत्री को बुलाया और उससे कहा—

'मंत्रीवर ! इस चित्रकार को अभी-अभी मृत्यु-दंड दे दो । इसने महारानी के जंघा के काले तिल को चित्रित कर मेरा बहुत बड़ा अपमान किया है । इसने सारे राज्य में मेरा अपयश फैलाया है । अतः यह मृत्यु-दंड के उपयुक्त ही है ।' चित्रकार को बुलाया गया । वह तत्काल ही उपस्थित हुआ । वह बड़ा विज्ञ था । महाराज के इंगित आकार देखकर सारी बातें समझ गया, एवं हाथ जोड़कर महाराज से निवेदन करने लगा । 'प्रभो ! मेरे मन में महारानी के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है और न ही मैंने किसी भी प्रकार के पाप का कार्य किया है । किन्तु प्रभो ! यह महारानी का चिह्न एक दैविक शक्ति का चमत्कार मात्र है । महारानी मृगावती जब अपने आवास के झरोखों में बैठी थी तभी उनके दाएं पैर का अंगूठा मुझे दिखाई दे गया था । उसी के आधार पर यह चित्र देव-शक्ति से तैयार हुआ है । अन्यथा भला उनके गुप्तांग का चित्र कैसे प्रस्तुत किया जा सकता था ।' महाराज शतानीक को विश्वास नहीं हुआ । चित्रकार को कुब्जादासी का एक कोई अंग दिखलाकर चित्र बनाने का आदेश दिया । चित्र उसी समय प्रस्तुत कर दिया गया । फिर भी महाराज के हृदय में विश्वास नहीं जमा । तब बेचारे उस निर्दोष चित्रकार के दाएं हाथ का अंगूठा काट दिया गया । राज यह था कि आगे वह किसी का भी चित्र न बना पाए ।

बदले की भावना

बिना ही किसी गलती के चित्रकार के दाएं हाथ का अंगूठा काट दिया गया । उसके मन में अत्यन्त आवेश का आविर्भाव हो रहा था । यह एक स्वाभाविक तथ्य है, बिना किसी त्रुटि के दण्ड मिले उसे आवेश न आए, यह कैसे हो सकता है ! चित्रकार ने संकल्प किया कि यदि मैं जीवित रहा तो इस वैर का बदला लेकर ही रहूंगा । चित्रकार ने उसी दिन से अपने बाएं हाथ से चित्र बनाने प्रारंभ कर दिये । धीरे-धीरे उसे पूर्णतः अभ्यास हो गया । अब वह बाएं हाथ से चित्र बनाने में सिद्धहस्त

हो चुका है । उसने तत्काल ही मृगावती का एक अत्यन्त अनुपम चित्र बनाया । उस चित्र को लेकर वह उज्जयिनी के महाराज चण्डप्रद्योत के पास पहुंचा और महारानी मृगावती का वह रम्य चित्र उनके हाथ में थमा दिया । महाराज चण्डप्रद्योत ने जैसे ही चित्र देखा, वे मुग्ध हो उठे एवं उन्होंने महाराज शतानीक को दूत के साथ एक पत्र भेजा । पत्र में अंकित था—'भूपते ! तुम्हारी प्राणप्रिया महारानी से मैं प्रेम करना चाहता हूं, अतः निवेदन है कि उन्हें शीघ्रातिशीघ्र उज्जयिनी भेज दें । अन्यथा बहुत बड़े रक्तपात की संभावना है ।'

पत्र का उत्तर

पत्र महाराज शतानीक के हाथ में आया एवं उन्होंने गौर से पढ़ा । पत्र अविवेकपूर्ण था । महाराज शतानीक को यह कल्पना भी नहीं थी कि चण्डप्रद्योत इस प्रकार की निकृष्टता कर सकता है । उन्होंने तत्काल ही एक पत्र में लिखा—'राजन् ! आप जैसे विवेकी पुरुषों के द्वारा यदि ऐसे विचार सुनने और पढ़ने को मिलेंगे, तो दुनिया में प्रलय ही हो जाएगी । मैं समझता हूं, एक साधारण व्यक्ति भी इस प्रकार की बात सुनना नहीं चाहेगा । तो फिर एक शक्तिसंपन्न व्यक्ति इस बात को कैसे पचा सकता है । अतः आप अपने शब्दों को वापस ले लें । इसी में हम दोनों का भला है । अन्यथा यहां भी कोई दुबले घर विवाह नहीं है । मैं हर परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए प्रस्तुत हूं, इन थोड़े शब्दों में ही आप मेरी भावना को समझने की कोशिश करेंगे ।' ऐसा पत्र लिखकर उसी दूत के हाथों में सौंप दिया । महाराज शतानीक ने दूत से कहा—'दूत ! जाओ, तुम चले जाओ । तुम दूत हो अतः अवध्य हो । अन्यथा स्थिति दूसरी ही होती ।' दूत वापस उज्जयिनी पहुंचा एवं महाराज चण्डप्रद्योत के समाने वह पत्र प्रस्तुत किया । उन्होंने वह पत्र पढ़ा और उसी क्षण आग में घासलेट की तरह भभक उठे ।

महाराज शतानीक को भयातिसार

महाराज चण्डप्रद्योत ने चौदह बड़े—बड़े राजाओं को साथ लेकर महानगरी कौशाम्बी पर आक्रमण बोल दिया। उन्होंने वहां पहुंचते-पहुंचते ही कौशाम्बी नगरी के चारों ओर घेरा डाल दिया। महाराज शतानीक उस समय किले के मध्य रहकर ही युद्ध का संचालन कर रहे थे। महाराज शतानीक ने काफी दिनों तक चण्डप्रद्योत का सामना किया। अन्त में चण्डप्रद्योत की सेना-दल के समाने हार खानी पड़ी। महाराज शतानीक की सारी सेना काम आ गई। महाराज शतानीक के शरीर में भयातिसार हो गया। भय के कारण उनका प्राणान्त हो गया। कौशाम्बी महानगरी में हाकाकार मच गया। महारानी मृगावती के हृदय में अपने शील की रक्षा की चिन्ता थी। वे सोच रही थीं कि अब उसकी रक्षा कैसे होगी। महाराज राजकुमार उदायन अभी बालक ही है, बचाव के दूसरे कोई साधन नजर नहीं आ रहे हैं। अतएव महारानी मृगावती के लिए यह एक पूरा सिरदर्द था।

मंत्री ने रक्षा का उपाय खोज निकाला

मंत्री लोग तो बुद्धि के घर होते ही हैं। महाराज शतानीक का मंत्री बुद्धिशाली एवं बड़ा ही चतुर था। उसने महाराज चण्डप्रद्योत को एक पत्र लिखा जो इस प्रकार था—

'महामहिम उज्जयिनी अधिपते! आपसे मेरा एक नम्र निवेदन है कि आपके इस एकाएक आक्रमण के कारण महाराज शतानीक को भयातिसार हो गया था और अन्त में उसी व्याधि के कारण उनका स्वर्गवास हो गया है। मैं समझता हूं आपके इस कार्य के लिए अब कोई बाधा वाली बात नहीं है, किन्तु लोक-व्यवहार भी एक तत्व है और वह संसार में रहने वालों को रखना अनिवार्य है। अतः अभी-अभी महाराज का स्वर्गवास हुआ है, हमारा कर्त्तव्य है कि हम उनके पीछे उन रीति-रिवाजों का निर्वाह भी पूर्णतया करें। इसलिए

प्रार्थना है कि इस अवसर पर तो आप वापस लौट जाएं। अवसर आने पर आपको सफलता अवश्य मिलेगी। किन्तु अगर शीघ्रता की गई, तो संभव है महारानी अपने शील की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान भी कर सकती है। इसलिए निवेदन है कि इस मौके पर आप वापस लौट जाएं एवं अवसर की प्रतीक्षा करें। उस समय संभव है हम लोग भी आपका सहयोग कर सकेंगे।' इस प्रकार का पत्र जब महाराज चण्डप्रद्योत ने पढ़ा तो उनको यह युक्ति जंच गई और वे उसी क्षण वापस लौट गये एवं भविष्य की आशा में समय व्यतीत करने लगे।

इधर महारानी मृगावती ने अपने पति का मृत्यु-संस्कार कार्य किया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से नगर के चारों ओर ऊंचे-ऊंचे परकोटे बनवाये एवं हर प्रकार से नगर की सुरक्षा के विषय में ध्यान दिया। उन्होंने अपने पुत्र उदायन को भी विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र चलाने की विधियों से शिक्षित किया। उन्होंने उदायन कुमार को युद्ध की पैंतरेबाजियों से भी अवगत कराया। उसे हर प्रकार से राज्य संभालने के योग्य बना दिया।

चण्डप्रद्योत का प्रेम-पत्र

उज्जयिनीपति महाराज चण्डप्रद्योत अपनी वासना की पूर्ति के लिए अत्यन्त आतुर थे। कुछ समय निकल जाने के पश्चात् उन्होंने अपने दूत के साथ कौशाम्बी की महारानी मृगावती के पास एक प्रेम-पत्र भेजा। दूत जैसे ही पत्र लेकर पहुंचा, महारानी अपने सभासदों के बीच बैठी थी। दूत ने सभी सभासदों के बीच में वह पत्र महारानी मृगावती के हाथों में सौंपा। महारानी ने वह पत्र ध्यानपूर्वक पढ़ा। पत्र को जैसे ही उन्होंने पढ़ा उनके नेत्रों में प्रातःकाल की पूर्व दिशा की तरह लालिमा उभर आई। महासती मृगावती ने उस पत्र को छोटे-छोटे (टुकड़े) कर अपने पैरों के नीचे कुचल डाला। उन्होंने सिंहनी की तरह गरजते हुए, उस दूत से तिरस्कार की भाषा में कहा—'दूत! चले

जाओ मेरे सामने से और कहना अपने उस कामी कुत्ते स्वामी को कि शेरनी स्वप्न में भी गीदड़ की कामना नहीं करती । मैं अपने शील की रक्षार्थ बलिदान हो सकती हूं, किन्तु उस कामी कीड़े की ओर मुंह करना भी अच्छा नहीं समझती । दूत ! तुम मेरी ओर से अपने स्वामी से पूछना, कि क्या वह अपनी बहन-बेटियों की लाज किसी से लूटने देगा ? यदि नहीं तो क्या मैं किसी की बहन-बेटी नहीं हूं ? दूत ! तुम अपने उस कामान्ध स्वामी को मेरी ओर से एक बात और भी पूछना, कि क्या वह अपनी हृदयेश्वरी को कुलटा के रूप में देखना पसन्द करेगा या पतिव्रता के रूप में ? यदि वह अपनी हृदय-स्वामिनी को पतिव्रता के रूप में देखना चाहता है तो दूसरों को व्रतों से च्युत करने का उसे क्या अधिकार है ? दूत ! तुम उस लंपट नराधम अपने स्वामी से यह भी कह देना कि किसी पतिव्रता महासती को कामानुराग की दृष्टि से देखने वालों को उस रावण की तरह कुक्कर की कुमौत मरना पड़ता है । मैं अपने शील धर्म की आराधना में कटिबद्ध हूं । चण्डप्रद्योत एक क्या यदि सहस्रों की संख्या में आ जाएं फिर भी मुझे अपने शील से नहीं हिला सकते ।

राजमाता की ओजस्विनी भाषा सुनकर म्यानों से सहस्रों-सहस्रों खड्ग निकल पड़े । सारे देश-भक्त सुभटों की आंखों से खून बरसने लगा । महाराज चण्डप्रद्योत का दूत बेचारा देखता ही रह गया । अन्त में उस दूत से महाराज कुमार उदायन ने कहा कि उस कामान्ध चण्डप्रद्योत से कहना कि अगर वह भूलकर भी कौशाम्बी में आ गया तो वापस उसकी लाश ही जाएगी । उदायन की तलवार उसे जीवित कभी नहीं जाने देगी । बस इसके बाद दूत वहां से विदा हुआ कि तत्काल ही भयानुसूचित घंटी बज उठी । सभी सैनिकगण अपने नगर व राज्य की सुरक्षा के लिए एक जुट हो गये । देश के पूर्ण सौभाग्य से ही इस प्रकार की सुरक्षा की व्यवस्था खड़ी की जा सकती है ।

चण्डप्रद्योत का कौशाम्बी पर पुनः आक्रमण

दूत कौशाम्बी से निकलकर सीधा उज्जयिनी पहुंचा। महाराज चण्डप्रद्योत को वहां के गर्मागर्म समाचार सुनाए। महाराज चण्डप्रद्योत समाचार सुनते ही क्रोध से भभक उठे एवं आवेश में आकर तत्क्षण ही रणभेरी बजवा दी। उनकी सेना पहले से ही तत्पर थी और रणभेरी का शब्द सुनते ही कूच कर दिया। महाराज चण्डप्रद्योत की सेना ने वहां पहुंचकर कौशाम्बी नगरी के चारों और घेरा डाल दिया। कौशाम्बी की समस्त जनता अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए किले के भीतरी भाग में समाविष्ट हो गई। सारा नगर श्मशान की तरह सुनसान-सा दृष्टिगत हो रहा था। महाराज चण्डप्रद्योत ने जब लोगों को इधर-उधर घूमते फिरते नहीं देखा तो व आश्चर्यचकित हो उठे। उन्होंने कुछ सैनिकों को आदेश दिया कि नगर प्रवेश के जो बड़े-बड़े चार द्वार हैं उन्हें तोड़ डाला जाए। अन्दर प्रवेश कर राजकीय बड़े-बड़े मौलिक स्थानों पर कब्जा कर लिया जाए। बहुत कुछ चेष्टा करने पर भी वे सैनिक उन सुदृढ़ द्वारों को तोड़ने में असफल रहे। महाराज चण्डप्रद्योत एवं सैनिक सभी हताश होकर चिन्ता की घाटियों में अपने आपको भुला रहे थे कि इतने में ही अदृश्य तीरन्दाज राजकुमार उदायन द्वारा चालित सरसराता हुआ एक तीर आया जिसने महाराज चण्डप्रद्योत के मुकुट को बींध डाला। उस तीर के साथ एक पत्र भी बंधा हुआ नजर आया। चण्डप्रद्योत ने उसे खोलकर पढ़ा, लिखा था—'चण्ड! नगर द्वारों को तोड़ना तुम्हारे वश की बात नहीं। इन्हें तोड़ने के लिए तुम्हारे ये हाथ तीन काल में भी कारगर नहीं हो सकते। तुम समझते हो जिस उदायन के तीर ने तुम्हारे मुकुट के टुकड़े-टुकड़े कर नीचे गिरा दिया। क्या वह तुम्हारे मस्तक के टुकड़े-टुकड़े नीचे कर नहीं गिरा सकता था? किन्तु नहीं, मैं तुम्हारे रक्त का प्यासा नहीं हूं। निवेदन है कि अपने दण्ड-कमण्डल लेकर जिन पैरों से आए हो उन्हीं पैरों वापस लौट जाओ। अन्यथा जिस प्रकार तुम्हारे मुकुट के टुकड़े-टुकड़े करने वाला सरसराता हुआ तीर आया, उसी प्रकार अब तुम्हारे मस्तक के

टुकड़े-टुकड़े करने वाले तीर की तैयारी हो रही है । यदि जीवित रहना चाहते हो तो इसी क्षण वापस लौट जाओ ।' महाराज चण्डप्रद्योत भयभीत होकर वहां से भाग गया । किन्तु नगर की सीमा से कुछ हटकर चारों ओर घेरा डाल दिया, एवं वहीं रहने लगा । इससे नगर निवासियों को काफी असुविधायें होने लगी ।

महासती मृगावती की घोर तपस्या

महासती मृगावती ने सोचा कि इन सब भयप्रद कठिनाइयों के प्रस्तुत होने का कारण मैं हूं । मेरी यह अत्यन्त सुन्दर रूपराशि ही राजा और प्रजा के लिए कष्टों का कारण बनी हुई है । अतः मुझे अब इस रूपराशि के अस्तित्व को तपस्या के द्वारा मिटाकर सबको निर्भय बनाना है । यह चिन्तन कर वह तीव्र तपस्या में लीन हो गई । वह तपस्या के साथ-साथ ध्यान, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग का अभ्यास करने में संलग्न थी । कठोर तपस्या द्वारा उन्होंने अपनी उस सुन्दर रूपराशि को क्षीण बना दिया, जो कि कष्टों का कारण बनी हुई थी । वह आत्म-चिन्तन से अपने आपको भावित कर सोच रही थी कि इस अवसर पर अगर भगवान महावीर आएं तो मैं संयम लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करूं । महासती मृगावती निरंतर इस चिन्तन में घुलकर अपने शरीर को सुखा रही थी । उसकी जीवन लौ भगवान महावीर के चरणों में जुड़ी हुई थी ।

भगवान महावीर का पदार्पण

जगदुद्धारक, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान महावीर विशेष उपकार समझकर कौशाम्बी नगरी में पधारे । भगवान महावीर की साम्य योग-महिमा से सिंह, बकरी, अश्व, महिष और नकुल एवं सर्प भी वैर-भाव त्यागकर एक साथ रहते थे । ऐसी स्थिति में चण्डप्रद्योत का शान्त हो जाना बहुत मामूली बात थी । चण्डप्रद्योत को जैसे ही भगवान महावीर के पधारने का पता चला वे स्वयं तत्काल ही उनके दर्शनार्थ पहुंचे । इधर महासती

मृगावती ने भी नगर के चारों द्वार खुले कर दिए एवं अपने परिवार के साथ भगवान महावीर के दर्शनार्थ वहां समवसरण में उपस्थित हुई। भगवान महावीर ने सुधास्यन्दिनी वाणी में लोगों को उपदेश सुनाया। महाराज चण्डप्रद्योत का विकार बिल्कुल शान्त था। अवसर देखकर महासती मृगावती ने भगवान से दीक्षा के लिए निवेदन किया। भगवान की अनुज्ञा प्राप्त होने पर उन्होंने अपने पुत्र उदायन से पूछा और वहीं पर भगवान के कर-कमलों से दीक्षा ग्रहण कर ली। महाराज चण्डप्रद्योत का अब उदायन से कोई वैर-विरोध अवशेष नहीं रह गया था। उन्होंने अपने हाथों से उदायन का राज्याभिषेक कर, स्वयं उज्जयिनी की ओर प्रस्थान कर किया।

चन्द्र-सूर्य का आगमन

भगवान महावीर कुछ दिन कौशाम्बी में स्थिरवास कर वापस ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। महासती मृगावती अध्यक्षा महासती चन्दनबाला के समीप रहकर कठोर संयम की साधना करने लगी। भगवान महावीर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वापस कौशाम्बी पधारे। साध्वी प्रमुखा महासती चन्दनबाला एवं उनके साथ महासती मृगावती भी आई हुई थी। एक बार भगवान के दर्शनार्थ सूर्य और चन्द्र अपने साक्षात रूप में आये हुए थे। संध्या के समय समयानुक्रम के अनुसार सूर्य प्रायः अस्त हो चुका था, फिर भी वहां सूर्य की साक्षात विद्यमानता होने के कारण प्रकाश हो रहा था। मृगावती उस प्रकाश के भ्रम से भगवान की सेवा में बैठी ही रह गई। सूर्य-चन्द्र जब अपने स्थान पर चले गए, तो एकाएक अंधेरा हो गया। मृगावती को यह देखकर बड़ा पश्चाताप हुआ। वह वहां से उठी और प्रमार्जन करती हुई महासती चन्दनबाला के उपपात में पहुंची।

साध्वीप्रमुखा चन्दनबाला का उपालंभ

रात हो जाने के कारण महासती मृगावती को साध्वीप्रमुखा ने उपालंभ दिया। उन्होंने कहा कि रात्रि होने से पूर्व ही सन्तों के स्थान से आ

जाना चाहिए। क्योंकि रात्रिकाल में संतों के स्थान पर रहने का कल्प नहीं है। उन्होंने कहा—'आपने बहुत बड़ी गलती की है। इसके लिए आपको प्रायश्चित करना है।' महासती मृगावती ने अपने भ्रमित होने का कारण बतलाकर उनके सम्मुख अत्यन्तनम्रता का और अपनी गलती के लिए भूरि-भूरि क्षमा का अनुदान चाहा। साध्वी-अग्रणी महासती चन्दनबाला आदि सभी साध्वियां सो गयीं और सोते ही उन्हें निद्रा देवी ने अपनी गोद में ले लिया। किन्तु मृगावती को नींद नहीं आ रही थी। वह अपनी गलती के विषय में पश्चात्ताप करती हुई शुक्ल ध्यान में लीन हो गई। क्षपक श्रेणी चढ़ी एवं उसके घाती कर्मों का नाश हो गया। उसे तत्काल ही कैवल्य की प्राप्ति हुई। रात्रि के उस अंधेरे में एक सांप निकला और वह महासती चन्दना की ओर चला आ रहा था। मृगावती ने देखा तो बचाव के लिए उनका हाथ एक ओर सरका दिया। महासती चन्दनबाला की नींद टूट गई। वे कहने लगीं—'मेरा हाथ किसने सरकाया?' महासती मृगावती ने कहा—'महासतीजी! इधर से एक महाकाल सर्प गुजर रहा था? उससे बचाने के लिए मैंने ही आपका हाथ सरकाया था।' महासती चन्दनबाला ने पूछा—'क्या आपको कैवल्य की प्राप्ति हुई है जिससे कि आपको अंधेरे में भी सर्प दिखाई दिया?'

'महासतीजी! मैं अपनी गलतियों के लिए एकाग्रता से चिंतन कर रही थी कि आपकी दया से मुझे इस महालब्धि की उपलब्धि हुई है।' महासती मृगावती ने चन्दनबाला के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा। महासती चन्दनबाला यह सुनकर कुछ गहरे में जाकर सोचने लगी। महासती मृगावती कितनी बड़ी सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति है। मैंने इन्हें गलतियों के लिए डांटा-फटकारा और न जाने कभी-कभी क्या-क्या कह डालती हूं, किन्तु यह अपने क्षमा-धर्म में बहुत दृढ़ है। ऐसी दृढ़ता के कारण ही उन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर साधना को सफल बनाया है। मेरे उपालंभ देने पर भी यह अपने क्षमा-धर्म पर अटल रही, और जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त किया। एक मैं हूं जो

प्रवर्तिनी होते हुए भी मेरे अन्दर कितना कषाएं विद्यमान हैं कि किसी की भी यदि किंचित्-सी गलती देख लेती हूं, कि मैं जल-भूनकर खाक हो जाती हूं। यही कारण है कि मुझे अभी तक कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो रही है। मैं कितनी अभागिन हूं! पता नहीं मैंने कौन-से भव में कौन-से कर्म कमाये थे कि आज तक भी मैं उन कर्मों के आवरण से मुक्त नहीं हो पा रही हूं।

बस फिर क्या था, जुड़ गया तार आत्मा के साथ और चढ़ गई क्षपक श्रेणी पर महासती चन्दनबला भी। बात की बात में चारघाती कर्मों का विनाश कर डाला। उन्हें भी निरावरण केवलज्ञान दर्शन की प्राप्ति हुई। उनके कैवल्य के महोत्सवार्थ सहस्रों-सहस्रों देवगण आकाश मंडल पर छा गये। इन्द्र और इन्द्राणी दोनों ने ही महासती का बहुत स्वागत किया। इससे जैन धर्म की अत्यधिक प्रभावना हुई। अन्त में साध्वी प्रमुखा महासती चन्दनबाला और मृगावती दोनों ने ही आठों कर्मों का क्षय कर मोक्षधाम मे पधार गईं।

* * *

महासती शिवा

शिवा महाराज चेटक की चौथी पुत्री थी । उसका विवाह उज्जयिनीपति महाराज चण्डप्रद्योत के साथ हुआ था । इसलिए वह महाराज चण्डप्रद्योत की महारानी कहलाती थी । वह भगवान महावीर की परम श्रद्धालु श्राविका थी एवं सच्चे पतिव्रत धर्म को पालने वाली थी । अतः वह स्वप्न में भी पर-पुरुष की वांछा नहीं रखती थी ।

मंत्री और महारानी शिवा

महाराज चण्डप्रद्योत के भूदेव नाम का एक मंत्री था । वह महाराज चण्डप्रद्योत का परम प्रतीति-पात्र होने के कारण अन्तःपुर में भी आ-जा सकता था । महाराज की विशेष कृपा होने के कारण यदा-कदा बात महारानी शिवा भी उससे बातचीत करने लगी थी एवं उसका उचित सम्मान करती थी । किन्तु कर्मों की विचित्र गति है । महारानी शिवा का रूपलावण्य और सौंदर्य को देखकर महामात्य के मुंह से लार टपकने लगी । स्थिति गंभीर थी । महामात्य का मन महारानी के लिए अत्यातुर हो रहा था किन्तु हाथ की बात नहीं थी । इस बात को महामात्य अपने मन में ही संजोए रहे । आखिर ऐसे कितने दिन रह सकते थे । एक दिन उन्होंने एक अन्तःपुर की दासी से बातचीत की और उसके साथ एक पत्र भेजा जिसमें लिखा था—

'प्राणेश्वरी ! जबसे तुम्हारी यह मनोहारी छवि मैंने निहारी है तबसे मुझे चैन नहीं पड़ रहा है । सोते, उठते, बैठते, खाते और पीते तुम ही तुम नजर आती हो । प्रिये ! क्या मैं ऐसे ही इस विरहानल में घुटता

रहूंगा ? करुणा–कमलिनी ! दया–दमयन्ती ! अब अधिक आगे खिंचना अच्छा नहीं होगा । प्राण-प्रिये ! इस अकिंचन चाकर को कृतार्थ कर सको ऐसा सुअवसर ढूंढो ।

तुम्हारा एक—

महारानी शिवा ने जैसे ही पत्र पढ़ा, वे आवेश में तिलमिला उठीं । उन्होंने इस पत्र की चिन्दी-चिन्दी (टुकड़े-टुकड़े) कर हवा में उड़ा दी । दासी से उन्होंने कहा कि महामात्य से कह देना कि यह कार्य तीन काल में भी होने वाला नहीं है मैं एक पतिव्रता नारी हूं । महामात्य तो क्या यदि स्वयं वैश्रमण भी आ जाये, तो भी मेरा मन विचलित होने वाला नहीं । किसी भी पर-पुरुष के सामने नजर उठाकर देखना मेरा धर्म नहीं है । आगे यदि ऐसी कोई बात या पत्र मेरे सामने आया तो महामात्य को बहुत संभव है अपने पद से हाथ धोने पड़ें ।

महारानी शिवा के पास से दासी महामत्य के पास पहुंची । उसने महारानी शिवा के समाचार सुनाते हुए महामात्य को सावधान किया कि यह कार्य तीन काल में भी होने वाला नहीं है । आप यदि अपना भला चाहते हैं तो इस बात को हृदय से निकाल दें । अन्यथा आपके लिए बहुत बड़ी संकट की घड़ियां उपस्थित हो सकती हैं, आदि-आदि । अनेक बातों के पश्चात दासी वापस अन्तःपुर की ओर लौट आई । इन सब बातों के सुन लेने के पश्चात् भी महामात्य के मन से यह भूत दूर नहीं हुआ । उन्होंने सोचा यह कोई अच्छा कार्य थोड़े ही है इसके लिए महारानी इतनी जल्दी स्वीकृति कैसे दे सकती हैं । अतः इसके लिए मुझे स्वयं को ही प्रयत्न करना पड़ेगा । महामात्य इस प्रकार चिन्तन कर अवसर की टोह में लग गए । महाराज चण्डप्रद्योत एक दिन कहीं दौरे पर जा रहे थे, महामात्य का भी उनके साथ जाने का कार्यक्रम था । किन्तु उनके मन में पाप था, अतः महामात्य किसी बहाने से साथ में नहीं गये और अपनी भावना की पूर्ति की राह देखने लगे । यह अवसर उन्हें ठीक जंचा और महामात्य भूदेव महारानी शिवा के महलों में घुस आये । कामान्ध महामात्य ने ज्योंही महारानी को

सम्मुख देखा वे काम-विह्वल हो उठे और महारानी से कहने लगा—'प्रिये ! आज हमें यह अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है । प्राणेश्वरी ! मैं तुम्हारी इस रूपराशि का प्यासा होकर तुम्हारे द्वार पर आया हूं । क्या तुम मुझे प्यासा ही लौटा दोगी ? नहीं-नहीं, वल्लभे ! मैं समझता हूं तुम मुझे हृदय से चाहती हो । आओ ! आओ ! प्रिये ! एक बार मेरे बाहुपाश में आओ और कुछ नहीं मैं इतना ही चाहता हूं ।'

ऐसी विकट स्थिति देखकर महारानी ने उन्हें प्रेम से समझाते हुए कहा—'अमात्यवर ! यह आपके लिए शोभनीय नहीं है । आप महाराज चण्डप्रद्योत के महामात्य कहलाते हैं । महामात्य सारे राज्य का संचालन करने वाला होता है । राजा के बाद उसका सर्वोपरि स्थान होता है । अतः मैं समझती हूं आपके लिए इस प्रकार की अनर्गल बातें करना बिल्कुल अनुचित है ।' इस प्रकार समझाने पर भी वह पापी कुक्कर की तरह दुम हिलाता ही रहा । कामवासना में पागल होकर कहने लगा—'प्रिये ! मैं आजीवन तुम्हारा दास बनकर रहूंगा । बस एक बार मेरी मनोकामना पूर्ण कर दो । महारानी को ललचाता हुआ वह उन्हें स्पर्श करने के लिए आगे लपका, किन्तु महारानी शिवा पीछे की ओर हट गईं । उन्होंने उस पापिष्ट को दुत्कारते हुए कहा—'निर्लज्ज ! नराधम ! कुत्ते ! एक घर तो डायिन भी छोड़ती है । तुम्हें शरम आनी चाहिए ! राजा की रानी माता के तुल्य कही जाती है । अतः मैं तुम्हारी मातृस्थानीया हूं । जा, चला जा अपने स्थान पर अन्यथा कहीं बुरी मौत मारा जायेगा ।

महामात्य महारानी शिवा की फटकार सुनकर वहां नहीं ठहर सका वह तत्काल ही अपने निवास-स्थान पर चला गया । किन्तु उसी दिन से उनके हृदय में एक प्रकार के भय ने स्थान कर लिया । उन्हें इस बात का भय हो गया कि कहीं मेरी यह बात महाराज चण्डप्रद्योत के कानों तक पहुंच गई तो मेरी क्या स्थिति होगी ? इस चिन्ता से महामात्य के शरीर पर अनेक प्रकार की व्याधियों ने घेरा डाल दिया । वे अब रात-दिन उस रोग शय्या पर ही पड़े रहने लगे एवं मन ही मन अपने किए हुए कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप करते रहते थे ।

महाराज चण्डप्रद्योत मंत्री के घर

कुछ समय के पश्चात् महाराज चण्डप्रद्योत वापस आये । उन्होंने जब मंत्री को अनुपस्थित देखा तो उन्हें बुलाने के लिए अपने निजी आदमी को भेजा । वापस जब पता पड़ा कि वे अत्यधिक रुग्ण हैं । उनका यहां आना कठिन है । महाराज चण्डप्रद्योत को उनसे प्रगाढ़ प्रेम था, अतः वे महारानी शिवा के साथ उनके निवास-स्थान पर पहुंचे । महामात्य ने महाराज चण्डप्रद्योत के साथ जब महारानी शिवा को देखा तो घबरा उठे । वे कांपने लगे और गद्‌गद हो गए, उनकी आंखें डबडबा आईं । उनके मन में अपनी त्रुटियों के लिए पश्चात्ताप हो रहा था । महारानी शिवा ने उनके भावों को समझते हुए कहा—'अमात्यवर पश्चात्ताप से तो वज्र पाप भी निर्बल हो जाते हैं ।

'मातेश्वरी ! मातेश्वरी ! इस नराधम को अब क्षमा प्रदान कर, अपनी शरण में ले लो, मातः ! मैंने बहुत अपराध किया है । मैं समझता हूं तुम बच्चे की तरह तुच्छ बात पर ध्यान नहीं दोगी एवं मेरे सभी अपराधों को क्षमादान देने का अनुग्रह करोगी ।' इस प्रकार नम्रता करते हुए महामात्य महारानी के चरणों में आ गिरा । महारानी ने उन्हें ऊंचा उठा लिया एवं उनके सभी अपराधों को हृदय से क्षमा कर दिया ।

महारानी के शील का चमत्कार

इस प्रकार महाराज चण्डप्रद्योत के राज्य में सभी लोग सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे । एक बार उस उज्जयिनी नगरी में भयंकर अग्नि-प्रकोप हो गया । आग किसने लगाई, क्यों लगाई, कब लगाई इसका किसी को भी पता नहीं लग रहा था । लोग ज्यों-ज्यों उसे बुझाने का प्रयत्न कर रहे थे, आग की ज्वालाएं और अधिक प्रज्वलित होती जा रही थीं । लोग पानी के द्वारा जहां शान्त करना चाहते थे, वहां पानी पेट्रोल का काम कर रहा था । अनेक लोगों की विचारधारा थी, कि यह कोई दैवी प्रकोप है अन्यथा पानी से तो अग्नि शान्त होनी ही चाहिए । आखिर उन्हीं अग्नि-ज्वालाओं से एक भविष्यवाणी हुई कि कोई पतिव्रता नारी चारों दिशाओं में पानी के छींटे

दे दे, तो यह उपद्रव शीघ्रातिशीघ्र शान्त हो सकता है । इस प्रकार की भविष्यवाणी सुनकर अपने आपको पतिव्रता मानने वाली अनेक स्त्रियों ने छींटे दिये, किन्तु उसका कोई भी नतीजा नहीं निकला । अन्त में महासती शिवा ने अपने राजमन्दिरों की छत पर जाकर नमस्कार महामन्त्र का स्मरण कर कहा, मैंने अपने पति के अतिरिक्त किसी भी पुरुष की वांछा न की हो तो अग्नि प्रकोप शान्त हो जाए । इस प्रकार की शब्दावली के साथ ही उन्होंने चारों दिशाओं में पानी के छींटे दिए कि तत्काल ही अग्नि-प्रकोप शान्त हो गया । आकाश से महासती शिवा की जय-जयकार की ध्वनि होने लगी । उपस्थिति जनता में शीलधर्म की और महासती शिवा की जय पाताका फहरा उठी । व्यक्ति-व्यक्ति में शील के प्रति आस्था की लहर दौड़ गई ।

शिवा की संयम-साधना और शिवगमन

इस प्रकार महाराज चण्डप्रद्योत के अनुशासन में महानगरी उज्जयिनी चैन की वंशी बजा रही थी । धन से धन और सुख से सुख मिलता है । इस जनश्रुति के अनुसार भगवान महावीर ने भी अपने विचरने का स्थान महानगरी उज्जयिनी को ही चुना । वे ग्राम और नगरों में विहार करते हुए, उज्जयिनी में आकर एक स्थान में ठहरे । जिस उद्यान को भगवान महावीर ने अपने पावन पादपद्मों से पवित्र किया वहां देवताओं ने समवसरण की रचना की । नगर के लोग भगवान के दर्शनार्थ वहां आए । महाराज चण्डप्रद्योत भी महारानी शिवा के साथ भगवान के चरणों में उपस्थित हुए । उस समवसरण में बारह ही प्रकार की परिषद्‌ आकर जुड़ी । भगवान् महावीर ने अपनी अमोघ वाणी के द्वारा सारी परिषद्‌ को धार्मिक भावना से आप्लावित किया । उन्होंने त्याग और तपस्या पर बल देते हुए विषय-वासनाओं की अस्थिरता दिखलाई । महारानी शिवा को भगवान की वाणी सुनकर वैराग्य उत्पन्न हुआ । उन्होंने महाराज चण्डप्रद्योत की आज्ञा से भगवान के चरण-कमलों में दीक्षा ग्रहण कर संयम की साधना प्रारम्भ की । क्रमशः उन्होंने कैवल्य पा मुक्ति सुखों को प्राप्त किया ।

***

महासती सुलसा

सुलसा भगवान् महावीर की एक ख्यातिप्राप्त श्राविका थी । वह भगवान के प्रति अत्यन्त निष्ठाशील एवं श्रद्धालु थी । उसमें सहिष्णुता का बहुत बड़ा गुण था । एक बार इन्द्र की सभा जुड़ी । सहस्रों-सहस्रों देवताओं में इन्द्र ने सुलसा की सहिष्णुता के विषय में प्रशंसा की । यह ठीक है जहां प्रमोद भावना का विकास हो, वहां गुणी के गुणों की प्रशंसा होनी ही चाहिए । यदि ऐसा नहीं होता है, तो वह स्थिति एक न्यूनता की द्योतक होती है । किन्तु सभी सभासद एक सरीखे नहीं होते । एक देवता के मन में इन्द्र के ये विचार नहीं जंचे । वह उसी क्षण सुलसा की परीक्षार्थ मर्त्यलोक में आया और सुलसा के घर दो मुनियों के रूप में परिवर्तित होकर पहुंचा । सुलसा ने ज्योंही मुनियों को देखा वह हर्ष-विभोर हो उठी । वह संतों के सम्मुख दौड़ती हुई पहुंची और वन्दना कर कहने लगी—'पधारिये ! पधारिये ! महाराज ! आज आपने बड़ी कृपा की । धन्य है आज का दिन, धन्य है आज की घड़ी । आंगन में पधारिये और आहार-पानी की कृपा कीजिए ।

संतों ने कहा—'बहन ! आहार-पानी का योग तो कहीं भी मिल सकता है । हम तुम्हारे निवास-स्थान पर आहार पानी के लिए नहीं आए हैं ।' सुलसा ने कहा—'कहिये महाराज ! आपको किस वस्तु की आवश्यकता है ? कहिए, आपके कहने की देर है, मैं वही वस्तु प्रस्तुत करती हूं ।' संतों ने कहा—'बहन ! हमें सहस्रपाक तेल की आवश्यकता है' सुलसा तत्क्षण ही संतों को संग्रहालय में ले गई और सहस्रपाक तेल का घट उठाकर बाहर लाने लगी । दैवयोग से घट उसके हाथ से गिरकर खण्ड-खण्ड हो गया एवं तेल मिट्टी में मिल गया । संतों ने

कहा—'बहन ! हमारे योग से तुम्हारा नुकसान हो गया ।' सुलसा के मन में तेल का दान देने की उत्कट भावना थी अतः वह दूसरा घट उठाकर लाने लगी कि वह भी खण्ड-खण्ड होकर मिट्टी में मिल गया । इसी प्रकार तीसरा घट भी फूट गया । फिर भी सुलसा शान्त थी । तब देवता ने अपने निजी स्वरूप में प्रकट होकर कहा—'बहन ! इन्द्र महाराज ने प्रमोद-भावना से परिपूर्ण हो तुम्हारे इस सहिष्णुता की भूरि-भूरि प्रशंसा की । मैंने वह सहिष्णुता का गुण तुम्हारे में यथेष्ट रूप में पाया है । अतः प्यारी बहन ! मैं तुम्हारे इन सहिष्णुता आदि गुणों से प्रसन्न होकर तुम्हें वरदान देने का इच्छुक हूं । तुम अपनी इच्छा के अनुसार वर मांग सकती हो ।'

सुलसा ने देवता से कहा—वरिष्ठ देवते ! मुझे कोई वरदान की इच्छा नहीं है, क्योंकि मुझे सच्चा धर्म मिला है, सच्चे देव अरिहन्त और सच्चे गुरु मिले हैं । इससे बढ़कर संसार में और कुछ है ही क्या ? किन्तु फिर भी यदि आपकी वर देने की उत्कट भावना है तो मुझे एक पुत्ररत्न की अभिलाषा है । अतः यदि आप मेरी इस इच्छा को पूर्ण कर सकते हैं, तो करें ।' देवता ने सुलसा से कहा—'बहन ! यह बत्तीस गुटिकाएं हैं, इनको खाने से तुम्हारे एक नहीं, बत्तीस पुत्र होंगे ।' इस प्रकार देवता वरदान देकर अपने स्थान पर चला गया ।

सुलसा गुटिकाओं को प्राप्त कर प्रसन्न थी, किन्तु गुटिकाओं का प्रयोग किस प्रकार करना है, यह पूछना भूल गई । क्रमशः एक-एक कर लेनी है या कुछ अन्तर डालकर लेनी है ? वह संशय में झूल रही थी । अन्त में उसने बत्तीस ही गुटिकाएं एक साथ लेने का निश्चय किया । उसने अपने चिन्तन के अनुसार ही शुभ वार-तिथि अवलोकन कर, उन गुटिकाओं को एक साथ ही निगल लिया । यह सोचकर कि बत्तीसों गुटिकाओं के प्रभाव से मेरे सर्वगुण सम्पन्न एक ही पुत्र का प्रसव होगा और मैं कृत-कृत्य हो जाऊंगी ।

कर्मों की विचित्र गति है, सुलसा ने जैसे ही गुटिकाओं को निगला, उसके गर्भाशय में बत्तीस जीवों ने आकर जन्म ग्रहण किया । जैसे ही

वे जीव कुछ बड़े हुए वैसे ही सुलसा के गर्भाशय में पीड़ा होने लगी। सुलसा ने उस पीड़ा निवृत होने के लिए देवता का स्मरण किया। देवता तत्क्षण ही वहां उपस्थित हुआ। देवता के सम्मुख सुलसा ने अपनी पीड़ा की बात कही। देवता ने कहा—'बत्तीसों गुटिकाओं को एक साथ खाकर तुमने महान भूल की है। अब तुम्हारे उदर से बत्तीस पुत्रों का जन्म होगा बहन! यह भी एक ध्यान में रखने की बात है, कि उन बतीस पुत्रों में से यदि एक की मृत्यु हो गई तो उन बत्तीसों की ही मृत्यु हो जायेगी।' देवता जानकारी देकर अपने स्थान पर लौट गया, एवं दिव्य शक्ति के द्वारा सुलसा के गर्भाशय की पीड़ा भी शान्त कर गया। सुलसा ने अवसर आने पर सुख-शान्ति के साथ उन बत्तीसों ही पुत्रों का प्रसव किया। मंगल गीत गये गये। चारों ओर से बधाइयों के समाचार आने लगे। नौबतें बजीं और खुले हाथ दान मानो महाराज कर्ण से होड़ लगा रहा था। बाल्यावस्था में उन्हें पढ़ाया एवं तरुणावस्था में विशिष्ट कन्याओं के साथ विवाहित किया गया। महासती सुलसा के पति का नाम नाग था। नाग मगधाधिपति महाराज श्रेणिक का परम प्रीति-पात्र एक रथिक था। वह अत्यन्त पराक्रमी और बड़ा वीर था। महासती सुलसा के पुत्र भी अपने पिता की तरह युद्धविद्या में पुरे निपुण बने।

बत्तीसों पुत्रों का एक साथ मरण

महाराज श्रेणिक की राजधानी राजगृह थी। उनके नंदा आदि अनेक महारानियां थीं। एक बार एक संन्यासिनी उनके दरबार में पहुंची और सुजेष्ठा महाराज चेटक की पुत्री का चित्र दिखलाया। महाराज चेटक भगवान महावीर के श्रद्धालु श्रावक थे। उनके सात पुत्रियां थीं। उनमें सुजेष्ठा और चेल्लना अविवाहित थीं, अवशेष पुत्रियों का विवाह हो चुका था। महाराज श्रेणिक के मन में सुजेष्ठा की मूर्ति समा गयी। वे चिंतित रहने लगे। अन्त में अभयकुमार को इस बात का पता लगा। अभयकुमार महाराज श्रेणिक के पुत्र ही थे। किन्तु उन्होंने

अपनी योग्यता और बुद्धि के बल पर मंत्री का पद भी संभाल रखा था । मंत्री का कर्तव्य होता है कि वह राजा की चिंता दूर करने का प्रयत्न करे । अभयकुमार ने देखा कि महाराज चेटक भगवान महावीर के अनुयायी हैं । अतः वे महाराज श्रेणिक के साथ अपनी पुत्री का विवाह कदापि नहीं करेंगे । क्योंकि महाराज श्रेणिक बुद्ध के अनुयायी हैं ।

उन्होंने एक उपाय सोच निकाला और विशाला में जाकर एक दुकान का कार्यक्रम चालू किया । विशाला महाराज चेटक की राजधानी थी । अभयकुमार अन्तःपुर में जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी, उन्हीं वस्तुओं का आयात-निर्यात करने लगे । अन्तःपुर की दासियां निरंतर यहां से वस्तुएं क्रय कर ले जाती थीं । एक दिन सुजेष्ठा की एक दासी आयी और कुछ वस्तुओं का क्रय किया । अभयकुमार ने उन वस्तुओं के साथ-साथ चतुराई से महाराज श्रेणिक का एक चित्र भी रख दिया । सुजेष्ठा की दासी ने सामान ले जाकर उन्हें सौंप दिया । सुजेष्ठा ने ज्योंही सामान देखा तो महाराज श्रेणिक का चित्र भी उनके सामने आया । राजकुमारी सुजेष्ठा चित्र को देखकर मुग्ध हो गयी । उसने महाराज श्रेणिक के विषय में विशेष जानकारी की टोह की । वह गुप्त रूप से महामात्य अभयकुमार से मिली । अभयकुमार ने इन्हें सारी बातें समझायीं और कहा कि आपके पिताश्री महाराज श्रेणिक से विवाह करने वाले नहीं हैं । अतः आपकी इच्छा हो तो मैं इसके लिए दूसरा कोई उपाय सोचूं । सुजेष्ठा ने कहा—'वह कौन-सा उपाय है ?' अभय ने कहा—'आपके निवास-स्थान तक सुरंग बनवायी जाएगी और उसी रास्ते से महाराज श्रेणिक आकर आपको ले जाएंगे ।' सुजेष्ठा ने इसके लिए हां भर ली ।

महामात्य अभयकुमार ने यह कार्य अत्यन्त शीघ्रता के साथ करवाया । कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् राजकुमारी सुजेष्ठा को इस बात की सूचना कर दी और इसके लिए तिथि भी नियुक्त कर दी गयी । इधर महाराज श्रेणिक को भी इस बात से अवगत कर दिया गया । निश्चित

दिन आ पहुंचा । महाराज श्रेणिक अश्व पर सवार होकर उस सुरंग के रास्ते से चल पड़े । महासती सुलसा के बत्तीसों पुत्र उनके अंग-रक्षक के रूप में साथ थे ।

इधर सुजेष्ठा भी जाने की तैयारी में लगी हुई थी । चेल्लना ने जब यह स्थिति देखी, तो पूछे बिना नहीं रह सकी । सुजेष्ठा ने काफी टाल-मटोल किया, किन्तु अन्त में अपनी प्यारी बहन से कोई बात गुप्त नहीं रख सकी । उसने सारा भेद खोल दिया । चेल्लना ने कहा—'मैं भी तुम्हारे साथ ही चलूंगी । हम यहां भी साथ हैं और वहां भी साथ रहेंगी ।' यों विचार कर उसने भी अपने जाने की तैयारी कर ली । दोनों अवसर देखकर, सुरंग में उतर पड़ीं । कुछ ही दूर गयी होंगी कि सुजेष्ठा को वापस लौटना पड़ा । क्योंकि वह अपने आभूषणों की पेटी वहीं भूल आयी थी । इधर चेल्लना रुकी नहीं, वह आगे-आगे चलती रही और महाराज श्रेणिक से साक्षात्कार हो गया । उन्होंने इसे ही सुजेष्ठा समझा, एवं घोड़े पर बैठाकर अपने साथ लेकर वापस चल पड़े । पीछे से जब सुजेष्ठा ने चेल्लना को नहीं देखा तो उसने चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया । वह जोर-जोर से चिल्लाने लगी—'दौड़ो-दौड़ो चेल्लना का अपहरण हो गया, दौड़ो-दौड़ो चेल्लना का अपहरण हो गया ।' आवाज सुनकर तत्क्षण ही महाराज चेटक के सुभट दौड़े और महाराज श्रेणिक को घेर लिया । उस कठिनाई की बेला में सुलसा के बत्तीसों पुत्रों ने ही प्राणों की बाजी खेलकर महाराज श्रेणिक की रक्षा की । महासती सुलसा के बत्तीसों पुत्र ही उस समय महाराज चेटक के सुभटों द्वारा एक साथ मारे गये । देवता के द्वारा कही गयी बात सत्य की कसौटी पर खरी उतरी । सुलसा ने जब अपने बत्तीसों पुत्रों की एक साथ मृत्यु की बात सुनी तो एक बार तो विचलित हो उठी, किन्तु वह सहिष्णु जो ठहरी, इसलिए इस बात को अधिक महत्त्व न देकर वह अपनी आत्म-गवेषणा में प्रवृत्त हो गयी ।

सुलसा अपने गुणों के कारण ही श्राविका-समुदाय में मुख्या कहलाती । भगवान महावीर के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा थी, एवं उसी प्रकार

भगवान की भक्ति करने में भी वह अद्वितीय थी । श्रावकोचित व्रत प्रत्याख्यान में भी वह भूरि-भूरि प्रशंसनीय थी । दूर-दूर तक के लोगों पर उसकी धर्म-निष्ठा का प्रभाव जम चुका था । एक बार भगवान महावीर चम्पा नगरी पधारे । समवसरण रचा गया । प्रभु ने अपनी अमृतमयी वाणी से त्याग और तपस्या का शंख फूंका । भगवान की अमृतमयी वाणी के पश्चात् राजगृही निवासी अम्बड़ हाथ जोड़कर खड़ा हुआ । वह भगवान का परम भक्त था । अवधिज्ञानी तथा वैक्रिय-लब्धिधर था । वह वैक्रिय-लब्धि के द्वारा मन चाहे रूप बनाने में समर्थ था । उसने भगवान से निवेदन किया—'प्रभो ! आपकी अमृतमयी देशना सुनकर मैं कृतकृत्य हो गया । वे ज्ञानामृत के प्याले पीकर मैं अपने आप में सफल हो गया । भगवन् ! अब मैं अपने निवास-स्थान राजगृही नगरी जा रहा हूं, कृपया आप भी राजगृही में पदार्पण करें, ऐसी मेरी प्रार्थना है ।'

भगवान महावीर ने कहा—'अम्बड़ ! राजगृह नगर में सुलसा नाम की एक श्राविका है । वह धर्म में इतनी दृढ़ है कि उसे देवता भी नहीं डिगा सकते ।' अम्बड़ अपने निवास-स्थान पर आया । उसने विचार किया—'सुलसा धन्य है, जिसकी भगवान महावीर ने स्वयं प्रशंसा की है । मैं भी उसकी थोड़ी-सी परीक्षा कर देखना चाहता हूं की वह अपनी सम्यक्त्व में कितनी दृढ़ है ।' यह सोचकर राजगृह नगर के पूर्व दिशा के द्वार पर पहुंचा और ब्रह्मा के रूप में प्रकट हुआ । द्रष्टाओं ने देखा—उसके चारों ओर, चार मुख रासभ का पांचवा मुख भी था । उसके साथ सावित्री उनकी पत्नी भी थी । चारों मुखारविंदों से वेदों का उच्चारण कर रहे थे । जिनके गले में प्रलम्बमान जनेऊ पड़ी हुई थी । वे अपने हाथ में एक रम्य कमंडल लिये हुए थे । स्वेत हंस उनका वाहन था । इस प्रकार सहस्रों-सहस्रों लोगों ने दर्शन किये एवं वेदवाणी सुनकर आनन्द-विभोर हो उठे । सुलसा को भी सखियों ने आने के लिए कहा, किन्तु वह अपने घर को छोड़ कर कहीं नहीं गयी ।

दूसरे दिन अम्बड़ पश्चिम दिशा में विष्णु के रूप में प्रकट हुआ । सांवले रंग में वह बड़ा ही सुहावना लग रहा था । पीताम्बर पहने हुए,

इधर व्याख्यान समाप्त हुआ, लोगों में वाह-वाही हो रही थी । सहस्रों-सहस्रों लोग बनावटी भगवान के चरणों में जुट रहे थे । इधर बनावटी भगवान चिंतित थे कि मैंने जिस उद्देश्य के लिए यह प्रयत्न किया उसमें मुझे तार मात्र भी सफलता प्राप्त नहीं हुई । जब तक महासती सुलसा को आस्था से विचलित नहीं कर दूं तब तक यह मेरा प्रयत्न व्यर्थ है । यों चिंतन करता हुआ वह भारी भीड़ के साथ महासती सुलसा के घर पहुंचा । फिर भी सुलसा ने उसको नमस्कार नहीं किया । यह देखकर कृत्रिम भगवान बौखला उठे । आंखों में लाली उतर आयी । उनके होंठ फड़फड़ाने लगे । आवेश में आकर सुलसा से कहने लगे—'सुलसा ! तुम मुझे भगवान क्यों नहीं मानती ? क्या मैं भगवान महावीर से कम हूं ।'

सुलसा ने कहा—'भगवान महावीर कभी आवेश में नहीं आते । आपके नेत्रों से रक्त चू रहा है । आपने कहा मैं पच्चीसवां तीर्थंकर हूं । क्या तीर्थंकर पच्चीस होते हैं, नियमानुसार भारतवर्ष में तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं । इस प्रकार आपकी पूरी की पूरी बातें अप्रामाणिक सिद्ध हो रही हैं । अब आप ही बताएं मैं आपको भगवान कैसे मान सकती हूं ?' महासती सुलसा की सच्ची श्रद्धा एवं अडोल धैर्य देखकर अम्बड़ आश्चर्यचकित रह गया । उसने तत्काल ही कृत्रिम रूप को त्याग और अपने मूल रूप को धारण किया । महासती सुलसा के सामने हाथ जोड़कर क्षमायाचना की और उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता हुआ अपने निवास-स्थान पर चला गया । सम्यक्त्व में अत्यधिक दृढ़ होने के कारण महासती सुलसा ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । वह आगामिक चौबीसी में निर्मम नामक पन्द्रहवें तीर्थंकर के रूप में अवतरित होगी ।

* * *

जिसके बगल में रमा सुशोभित है, जिसके कर-कमलों में गदा, शंख, सुदर्शन-चक्र और पद्म है, जिसके गरुड़ की सवारी है। हजारों लोग विष्णु भगवान के दर्शन कर आनन्द से झूम उठे।

तीसरे दिन अम्बड़ राजगृह की दक्षिण दिशा में महादेव के रूप में प्रकट हुआ। जिसके गले में विकराल सर्पराज पड़े हुए थे। जिसके भाल में चन्द्रमा सुशोभित हो रहे हैं। जिसके जटाजूट में गंगा की तरंगें चल रही हैं। अंग में भस्म लगाये हुए हैं। जिसके बैल वाहन हैं। त्रिशूल जिसके कर-कमल में सुशोभित है और पार्वती एवं गजानन भी जिनके निकट बैठे हुए हैं। सुलसा की परीक्षा के लिए अम्बड़ ने शंकर का रूप सजाया, हजारों लोगों ने दर्शनों का आनन्द लूटा। किन्तु महासती सुलसा इन वाह्याडम्बरों से आकृष्ट नहीं हुई।

चौथे दिन उत्तर दिशा में अम्बड़ पच्चीसवें तीर्थंकर के रूप में जनता के सम्मुख आये। वह स्फटिक सिंहासन पर विराजमान थे। वह छत्र, चामर और अशोक वृक्ष आदि से सुशोभित हो रहे थे। जिसके चारों ओर साधु-साध्वियों के झुंड उपस्थित थे। सदा की अपेक्षा आज जन-समुदाय अधिक था। जैन-जैनेतर आदि सभी प्रकार के लोग उनका व्याख्यान सुनने के लिए आये थे। लोगों में एक प्रकार से प्रसन्नता की लहर दौड़ रही थी। कुछ लोग कह रहे थे, देखो हमारे नगर के कितने बड़े भाग हैं जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश के तो साक्षात् दर्शन प्राप्त हुए ही, किंतु जैन तीर्थंकर के रूप में भी आज हमने दर्शन कर, आह्लाद को प्राप्त किया है, हमें निरंतर घर बैठे ही महान पुरुषों के दर्शन हो रहे हैं। जैन तीर्थंकर के रूप में प्रकट होने वाली बात महासती सुलसा के पास भी पहुंची। लोगों ने दर्शनार्थ चलने के लिए आग्रह किया, किन्तु सुलसा ने कहा—'आप लोग भूल रहे हैं। यह कोई ढोंगी है, जो इस प्रकार से नित नये रूप बनाकर लोगों को भ्रम-जाल में डाल रहा है। आप लोग भले ही पधारें" मेरी आत्मा साक्षी नहीं देती, अतः मैं उस पाखंडी के दर्शनार्थ नहीं जा सकती।'

इधर व्याख्यान समाप्त हुआ, लोगों में वाह-वाही हो रही थी। सहस्रों-सहस्रों लोग बनावटी भगवान के चरणों में जुट रहे थे। इधर बनावटी भगवान चिंतित थे कि मैंने जिस उद्देश्य के लिए यह प्रयत्न किया उसमें मुझे तार मात्र भी सफलता प्राप्त नहीं हुई। जब तक महासती सुलसा को आस्था से विचलित नहीं कर दूं तब तक यह मेरा प्रयत्न व्यर्थ है। यों चिंतन करता हुआ वह भारी भीड़ के साथ महासती सुलसा के घर पहुंचा। फिर भी सुलसा ने उसको नमस्कार नहीं किया। यह देखकर कृत्रिम भगवान बौखला उठे। आंखों में लाली उतर आयी। उनके होंठ फड़फड़ाने लगे। आवेश में आकर सुलसा से कहने लगे—'सुलसा! तुम मुझे भगवान क्यों नहीं मानती? क्या मैं भगवान महावीर से कम हूं।'

सुलसा ने कहा—'भगवान महावीर कभी आवेश में नहीं आते। आपके नेत्रों से रक्त चू रहा है। आपने कहा मैं पच्चीसवां तीर्थंकर हूं। क्या तीर्थंकर पच्चीस होते हैं, नियमानुसार भारतवर्ष में तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं। इस प्रकार आपकी पूरी की पूरी बातें अप्रामाणिक सिद्ध हो रही हैं। अब आप ही बताएं मैं आपको भगवान कैसे मान सकती हूं?' महासती सुलसा की सच्ची श्रद्धा एवं अडोल धैर्य देखकर अम्बड़ आश्चर्यचकित रह गया। उसने तत्काल ही कृत्रिम रूप को त्याग और अपने मूल रूप को धारण किया। महासती सुलसा के सामने हाथ जोड़कर क्षमायाचना की और उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता हुआ अपने निवास-स्थान पर चला गया। सम्यक्त्व में अत्यधिक दृढ़ होने के कारण महासती सुलसा ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। वह आगामिक चौबीसी में निर्मम नामक पन्द्रहवें तीर्थंकर के रूप में अवतरित होगी।

* * *

महासती सुभद्रा

'प्राण जाय पर प्रण नहीं जाय' यह कहने के लिए तो हरेक आदमी कह देता है, पर 'काम पड़े कायम रहे, सो लाखन में एक' अवसर आने पर उस पर डटे रहने वाले तो महासती सुभद्रा की तरह कोई विरले ही होते हैं ।

सुभद्रा कौन थी ?

महासती सुभद्रा वसन्तपुर निवासी महामात्य जिनदास की सुपुत्री थी । महराज जितशत्रु वहां के राजा थे । महामात्य जिनदास वस्तुतः भगवान के सच्चे भक्त थे । सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्र के आचरण की दृष्टि से वे पक्के जैन कहलाते थे । तत्त्वमालिनी उनकी धर्मपत्नी का नाम था । महाभात्य जिनदास की पत्नी को भी तत्त्व का तलस्पर्शी ज्ञान था । महामात्य जिनदास और उनकी धर्मपत्नी दोनों ही व्यक्ति जैन-धर्म के अत्यन्त श्रद्धालु थे । इन्होंने अपनी प्यारी पुत्री सुभद्रा को भी बचपन से ही धार्मिक संस्कार दिए थे । सुभद्रा बाल्यावस्था से ही जैन सिद्धान्तों की तलस्पर्शी जानकारी रखती थी । सुभद्रा का अधिकतर समय साधु-साध्वियों की सेवा-भक्ति में ही व्यतीत होता था ।

बुद्धदास की कपटपूर्ण लीला

सुभद्रा ज्योंही विवाहोचित वय को प्राप्त हुई । महामात्य जिनदास और उनकी धर्मपत्नी तत्त्वमालिनी सुभद्रा के अनुरूप वर की टोह में लग गए । वे लड़का सुन्दर, रूपवान, विद्वान, कुलवान और शरीर से स्वस्थ देखना चाहते थे साथ ही लड़के को जैन धर्मानुयायी के रूप में भी खोज रहे थे । क्योंकि लड़का अन्य धर्मानुयायी होने पर घर में एक

प्रकार से तनाव का आविर्भाव हो जाता है और कन्या जीवन में एक प्रकार से अशान्ति का बीजारोपण भी । वहां अधिकांश समय क्लेश में ही व्यतीत होता है और कन्या के चिन्ता को प्रायः शान्ति नहीं मिलती ।

उस समय बसन्तपुर नगर में बुद्धदास नाम का एक व्यक्ति व्यापारार्थ आता रहता था । वह चंपानगरी का रहने वाला था । वह अनेक गुणों से सम्पन्न था किन्तु था बौद्ध धर्म अनुयायी । भगवान बुद्ध को देव मानने वाला था । एक दिन उसने सुभद्रा कुमारी को व्याख्यान सुनकर आते हुए निहारा और सुभद्रा के रूप-लावण्य पर मुग्ध हो गया । उसने आस-पास के लोगों से उसके परिचय के विषय में पूछताछ प्रारंभ की । उसे इस प्रकार टोह करते-करते पता चला कि सुभद्रा यहां के महामात्य जिनदास की सुपुत्री है । महामात्य इसे जैन युवक के अतिरिक्त और किसी को किसी स्थिति में सौंपना नहीं चाहते । सुभद्रा का परिचय प्राप्त होने पर वह निराश हो गया ।

वह मन ही मन सोचने लगा, क्या मैं इस कन्या को प्राप्त करने के लिए जैन बन जाऊं, और अपना धर्म छोड़ दूं ? नहीं-नहीं, यह तो नहीं हो सकता । यह तो एक गिरे हुए व्यक्ति की बात होगी, मैं ऐसा काम कभी नहीं कर सकता ।

मुझे कोई एक बीच का रास्ता चुनना चाहिए, ताकि सांप भी मर जाए और लकड़ी भी नहीं टूटे । अन्त में उसने बहुत कुछ चिन्तन के बाद बनावटी जैन बनकर, सुभद्रा को प्राप्त करने का निश्चय किया । अब वह सन्तों के दर्शनार्थ प्रतिदिन जैन उपाश्रयों में जाता है । प्रतिदिन सबसे आगे बैठकर ध्यानपूर्वक व्याख्यान सुनता है । प्रतिदिन सुबह-शाम नियमित रूप से सामायिक करता है । अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करता है, एवं पोषध भी करता है । विधिपूर्वक प्रतिदिन सुबह-शाम प्रतिक्रमण करता है । इस प्रकार वह जैनोचित धार्मिक क्रियाएं बड़ी सजगता के साथ करता है । बुद्धदास ने नवतत्त्व, षट्, द्रव्य, प्रमाण, नय

निक्षेप, सप्तभंगी आदि मौलिक जैन तत्त्वों का अत्यंत गहराई से अध्ययन किया । तत्त्व की चर्चा में उसके सामने बड़े-बड़े दिग्गज श्रावक भी चकराते थे । इस नये भक्त का त्याग, वैराग्य, श्रद्धा-भक्ति और अध्ययनशीलता देखकर लोग चकित थे । बसंतपुर नगर का सम्पूर्ण श्रावक-समुदाय उसकी वाह-वाह कर मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगा था ।

बुद्धदास महामात्य के घर

अन्यान्य लोगों की तरह महामात्य जिनदास पर भी बुद्धदास का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा । वे भी उसकी धर्म निष्ठा व क्रियाशीलता देखकर मुंह में अंगुली दबाने लगे । महामात्य ने सोचा कि यह लड़का सर्वगुर्ण सम्पन्न है, एवं धनिष्ठ भी है । प्यारी सुपुत्री सुभद्रा के लिए इससे बढ़कर सुयोग्य वर और कहां मिलेगा ।

एक दिन संतों के स्थान पर जब बुद्धदास व्याखान सुनकर कपड़े पहन रहा था उस समय महामात्यवर वहां पहुंच गए और बुद्धदास से उसका नाम, जाति आदि के विषय में पूछने लगे । अमात्यवर ने प्रश्न करने के लिए मुंह खोला ही था कि बुद्धदास ने तड़ाक से कहा—'अमात्यवर ! मैं यहां धार्मिक क्रियाएं करने के लिए आया हूं, न कि सांसारिक बातें करने के लिए । यदि आप जैसे प्रौढ़ श्रावक भी धर्म-स्थान पर सांसारिक बातें करनी प्रारंभ कर देंगे तो फिर हमारे जैसे नये-नये भक्तों पर क्या असर होगा ?

अमात्यवर बुद्धदास के मुंह से इस प्रकार के विचार सुनकर उससे अधिक प्रभावित हो गए । दूसरे दिन महामात्य ने बुद्धदास को अपने घर पर भोजन करने के लिए आमन्त्रित किया । उसने महामात्य को भोजन करने के लिए स्वीकृति दे दी । दूसरे दिन बुद्धदास भोजन करने के लिए महामात्य के घर पहुंचा । नाना प्रकार के मिष्ठान और विविध व्यंजनों से भरा-पूरा थाल बुद्धदास के सम्मुख जब रखा गया, वह देखते

ही बोला—'अमात्यवर आज इस प्रकार का भोजन मेरे काम में नहीं आ सकता। क्योंकि आज अष्टमी है, मैंने चौदह नियम चितारे थे। अतः आज भोजन के लिए मैंने तीन ही द्रव्य रखे हैं। दाल, फुलके और पानी के अतिरिक्त आज और कुछ नहीं लेना है। अतः माफ करें, आपके यह विविध प्रकार के पकवान और विविध प्रकार के व्यंजनों से परिपूर्ण थाल मेरे काम नहीं आएगा।' सभी लोग सुनकर आश्चर्यचकित थे। किन्तु मन ही मन उसकी प्रशंसा भी कर रहे थे, कि इस छोटी-सी उम्र में भी कितनी त्याग-वृत्ति है। आखिर बुद्धदास के लिए दाल-फुलके ही परोसे गए और उन्हें ही खाकर उसने चुल्लु कर ली। भोजन के पश्चात् महामात्य ने उनसे वार्तालाप प्रारंभ की। बातचीत के अन्तर्गत बुद्धदास ने अमात्यवर के हृदय में यह बात अच्छी तरह जमा दी कि उसके बुजुर्ग कई पीढ़ियों से जैन धर्मावलम्बी रहे हैं। वह स्वयं भी एक कट्टर जैन हैं। अन्त में अमात्यवर ने सुभद्रा के विवाह सम्बन्धी चर्चा प्रारंभ की। बुद्धदास ने अमात्यवर की बात का जवाब देते हुए कहा—'अमात्यवर! आप तो विज्ञ हैं, मेरी अवस्था अभी पूर्ण नहीं है। अतः मैं अभी इस विवाह के बन्धन में बन्धना नहीं चाहता।'

महामात्य—'तो क्या आप आजीवन अखण्ड ब्रह्मचारी रहना पसन्द करते हैं?

बुद्धदास—'नहीं! नहीं! ऐसी कोई बात नहीं है, किन्तु जब तक सुयोग्य कन्या का योग नहीं मिलेगा तब तक विवाह करने का विचार नहीं है।'

अमात्यवर—'सुयोग्य कन्या से आपका क्या तात्पर्य है?'

बुद्धदास—'मैं रूप-लावण्य आदि से धर्म को अधिक महत्त्व देता हूं। अतः मैं एक धर्मनिष्ठ कन्या की टोह में हूं।'

अमात्यवर—मेरी कन्या सुभद्रा ठीक वैसी ही है जैसी कि आपकी कल्पना है। यदि संदेह हो तो अभी आपके सामने बुलाता हूं। आप

उसकी इच्छानुसार परीक्षा करें । यों कहकर उन्होंने सुभद्रा को वहां बुला लिया और बुद्धदास ने सुभद्रा से धार्मिक प्रश्नों का दौर प्रारंभ करते हुए पूछा—

'भद्रे ! जैन दर्शन में दया, दान, नय निक्षेप और प्रमाण के विषय में कुछ सुनना चाहता हूं ।'

सुभद्रा ने उपर्युक्त सभी विषयों पर स्पष्ट रूप से व्याख्या कर सारा निचोड़ उनके सामने प्रस्तुत किया ।

बुद्धदास और सुभद्रा की धार्मिक प्रश्नोत्तरी सुनकर अमात्यवर चिन्तामुक्त हो गये । वे मन ही मन सोचने लगे कि अब यदि इनका परस्पर सम्बन्ध जुड़ जाए तो सोने में सुगन्ध का कार्य हो जाए । धार्मिक चर्चा परिसमाप्ति के वाद महामात्य ने पूछा—'विद्वद्वर ! अब बताएं मैंने जो बात कही थी, उसके बारे में आपका क्या चिन्तन है ?'

बुद्धदास—'अमात्यवर ! आपकी कन्या तो त्याग, तपस्या और धार्मिक चर्चा में मेरे से भी बहुत आगे है । अब आगे जैसी आपकी इच्छा, मैं तो आपके सामने एक बच्चा हूं । आप मेरे बुजुर्ग हैं, जो भी करेंगे मेरे लिए अच्छा ही करेंगे । मुझे इसमें कोई संदेह नहीं ।'

अमात्यवर ने अपनी प्यारी पुत्री का सम्बन्ध बुद्धदास से करने का निर्णय ले लिया ।

सुभद्रा का विवाहोत्सव

सम्बन्ध निश्चित होने के तत्काल बाद ही बुद्धदास अपनी नगरी चंपा पहुंचा एवं इस सम्बन्ध के विषय में अपने माता-पिता को जानकारी दी । जब बसंतपुर नगर के अमात्यवर की ओर से विवाह की तिथि निश्चित करने के समाचार मिले तो बुद्धदास ने भी अपनी तैयारी की और अपने परिवार वालों के साथ बारात लेकर बसंतपुर पहुंच गया । अमात्यवर जिनदास ने अपनी कन्या का विवाह बड़े आनन्द एवं उल्लास भरे

वातावरण में किया । विदाई के समय सुभद्रा के माता-पिता ने अमूल्य शिक्षाएं दीं तथा जैन धर्म में सुदृढ़ रहने को कहा । अपनी प्यारी पुत्री सुभद्रा को विदा करते समय अनेक प्रकार के बहुमूल्य उपहार दिये किन्तु उनका प्रदर्शन बिल्कुल नहीं किया । सुभद्रा बसंतपुर से विदा होकर अपनी ससुराल चंपा नगरी पहुंची । उसने वहां के वातावरण से पाया कि उसकी ससुराल के परिवार वाले सारे के सारे जैन नहीं अपितु बौद्ध धर्म अनुयायी हैं । उसके पतिदेव तो बुद्ध भगवान के कट्टर शिष्य हैं । उसके ध्यान में यह बात आ गई, कि उसके पतिदेव ने उसे प्राप्त करने के यह लिए सारा ढोंग रचा था । मेरे और पिताजी के साथ पतिदेव ने बड़ा धोखा किया है । किन्तु अब तो पश्चात्ताप से कुछ होने वाला नहीं है । मैं भी आज से यह निश्चित करती हूं कि मैं अपने जैन धर्म में अडिग रहूंगी । प्राणान्त-कष्ट आये फिर भी अपने आपको धर्म से विचलित नहीं करूंगी । सुभद्रा इस प्रकार से प्रतिज्ञा कर अपना धार्मिक क्रियाएं पूर्ववत् करती रही ।

घर में कलह के बीज

विवाह होने के पश्चात् ही बुद्धदास ने जैनत्व का चोगा उतार फेंका एवं भगवान बुद्ध की पूजा करनी प्रारंभ कर दी । सुभद्रा के निरंतर सामायिक प्रतिक्रमण |कार्य उसे अच्छे नहीं लग रहे थे । फिर भी वह प्रेमवश उसे कुछ कह नहीं पा रहा था । सुभद्रा की इस प्रकार जैनत्व की दैनिक दिनचर्या बूढ़ी सास के भी मनोनुकूल नहीं थी । आखिर कितने दिन सहन करती । एक दिन सुभद्रा से उसने कह ही दिया—'बहूरानी ! एक घर में दो धर्म कैसे निभ सकते हैं ? जितने दिन तुम्हारी शादी नहीं हुई थी, तुम अपने पीहर वालों का धर्म निभाती रही, किन्तु अब तुम्हारा विवाह हो चुका है अतः जो धर्म ससुराल वालों के घर में है उसी धर्म में तुम्हें भी प्रवेश कर देना होगा । मैं प्रेम के साथ तुमसे कहती हूं कि अब जैन धर्म को छोड़ दो । अपने सब एक घर में रह रहे हैं अतः बौद्ध धर्म को ही स्वीकार करना अच्छा रहेगा ।'

सुभद्रा—'माताजी ! धर्म एक ऐसी वस्तु है कि वह केवल आत्मा से संबंध रखती है । अतः आत्मा की रुचि के बिना किसी के कहने-सुनने से वह परिवर्तित नहीं किया जा सकता । मुझे जैन धर्म में पक्की आस्था है । इस बात को समझते हुए भी आपके पुत्र ने मेरे साथ धोखा किया । जैनत्व का नकली चोगा पहनकर उन्होंने मेरे साथ यह छल क्यों किया ? यह आप उन्हीं से पूछें ।'

सास—'बहू ! भवितव्यं भवत्येव' जो होना था हो गया । अब वह वापस होने वाला नहीं । मैं जो कुछ कह रही हूं, उसे स्वीकार करो । अधिक खींचतान करना उचित नहीं । इसका नतीजा आखिर बुरा हो सकता है । यह मानकर तुम्हें शान्ति के साथ बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेना ही उचित होगा ।'

सुभद्रा—'माताजी ! धृष्टता के लिए क्षमा चाहती हूं, जो धर्म मनुष्य के अन्दर की दुर्भावना के बीजारोपण कर सकता है । अब आप ही बताएं उस धर्म को मैं कैसे स्वीकार कर सकती हूं ।'

सास—'चुप रह डायिन कहीं की ! मेरे इस पवित्र धर्म पर कलंक लगाना चाहती है । छोटे मुंह बड़ी बात । ठहर, तू क्या तेरी छाया को धर्म-परिवर्तन करना पड़ेगा ! करना पड़ेगा ! करना पड़ेगा !!'

सास-बहू में परस्पर तनाव खड़ा हो गया । उसी दिन से बुढ़िया ने मन खींच लिया । बात-बात में सुभद्रा से कलह करना प्रारंभ कर दिया । मुंह से अण्ट-सण्ट और गाली-गलौज भी बकने लगी । यही नहीं, वह अपने पुत्र बुद्धदास को भी बहकाने का प्रयत्न करने लगी । एक दिन मौका पाकर बुद्धदास ने सुभद्रा से भी कहा—'सुभद्रा ! तुम माताजी का कहा क्यों नहीं करती ?'

सुभद्रा—'पतिदेव ! माताजी की बात सब कुछ मान सकती हूं किन्तु धर्म-परिवर्तन की बात मैं कैसे मान लूं ? मुझे आपकी तरह दम्भ करना तो आता नहीं और सच्ची बात कहती हूं तो माताजी रुष्ट हो

जाती हैं। अतः आप ही बताएं मुझे क्या करना चाहिए । सच कहने से मां भी मारने को दौड़ती हैं।' इस उक्ति से बुद्धदास और भी अधिक चिढ़ गया एवं कहने लगा—'सुभद्रा, यदि मेरे से काम है तब तो जैन-धर्म छोड़ना ही पड़ेगा।'

सुभद्रा ने वापस कहा—'पतिदेव! आप मेरे प्राणनाथ हैं, सर्वस्व हैं, लेकिन धर्म से बढ़कर नहीं। बुद्धदास आवेश में आकर कहने लगा—'अच्छा ले रख अपना धर्म मैं आज से ही तुम्हारे से अपना संबंध विच्छेद करता हूं। जब तक तुम बौद्ध धर्म को स्वीकार नहीं करोगी, तब तक तुम्हारे साथ भी मेरी मौन साधना चलेगी।' बुद्धदास घर से बाहर निकल गया। बुद्धदास के इस कार्य से सुभद्रा को दुःख तो बहुत हुआ किन्तु फिर भी वह इस हलाहल जहर की घूंट को समता के साथ पी गई। अब उसका धर्म के अतिरिक्त कोई सहायक नहीं था। न उससे सास बोलती और न उसके पतिदेव; घर के सारे सदस्य उसे भारभूत समझने लगे। सुभद्रा घर में अवश्य थी किन्तु रहने का आनन्द जो होता है वह बिल्कुल नहीं था। इतना होने पर भी सुभद्रा ने व्यावहारिक पटुता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आने दिया। वह घर में सारे कार्य पहले की तरह ही प्रेमपूर्वक करती रही।

सुभद्रा पर झूठा लांछन

सुभद्रा को पूरा विश्वास था, कि धर्म से ही उसके सारे दुःख दूर होंगे। अतः वह क्रमशः दिन-प्रतिदिन त्याग और वैराग्य की वृत्ति में अधिकाधिक प्रोत्साहित होती रही। एक दिन एक जिनकल्पिक मुनि भिक्षा के लिए उसके घर आये। मुनि का आगमन देखकर उसके हृदय में आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ा। उसने मुनि को भक्तिपूर्वक वन्दना किया एवं आग्रह-पूर्वक शुद्ध आहार-पानी वहराकर ज्योंही मुनि की ओर देखा, मुनि की आंख सूजी हुई नजर आई, उससे पानी गिर रहा था। मालूम पड़ रहा था कि उसमें कोई तृण-खण्ड पड़ा हुआ है। किन्तु मुनि

जिनकल्पिक हैं, अतः उन्हें तृण-खण्ड निकालना नहीं कल्पता। कल्प नहीं होने के कारण असह्य पीड़ा सहन करते जा रहे हैं। सुभद्रा उसकी वह तीव्र पीड़ा नहीं देख सकी एवं भक्ति के उद्रेक में उसने अपनी जिह्वा से मुनि की आंख से तत्काल वह तृणखण्ड निकाल दिया। मुनि के शरीर का स्पर्श उन्हें नहीं करना चाहिए था, किन्तु उस समय इस बात का ध्यान नहीं रहा और उसने भक्तिवश मुनि के शरीर का स्पर्श कर लिया।

इधर ज्योंही सास ने यह दृश्य देखा कि वह बलपूर्वक चिल्ला उठी। वह जोर-जोर से कहने लगी—'अरे हाय! हाय! इस बहू ने तो बेड़ा ही गर्क कर दिया। छिः-छिः! एक घर तो डायन भी छोड़ती है, किन्तु इसने तो वह भी नहीं छोड़ा। मैं देखती हूं जैसी यह कुलटा है वैसा ही इसका गुरु व्यभिचारियों का शिरोमणि है, इसीलिए तो मैं निरन्तर कहा करती थी कि जैन धर्म जैसा गिरा हुआ है वैसा और कोई धर्म गिरा हुआ नहीं है।' इस प्रकार उसका बलपूर्वक चिल्लाना सुनकर बहुत सारे लोग एकत्रित हो गए और कुछ लोग सुभद्रा को, कुछ जैन धर्म को, तो कुछ जैन मुनियों को भला-बुरा कहने लगे। बुद्धदास का पारा भी गर्म हो गया और मुंह से न जाने क्या-क्या अण्ट-सण्ट बक गया जिसका कोई लेखा-जोखा नहीं, जो भी मुंह से निकला, बकता ही गया। सुभद्रा अगर कुछ कहना चाहती तो उपस्थित लोग उसे डांट-डपटकर रोक देते थे।

ध्यानस्थित सुभद्रा

सुभद्रा चारों ओर से विवश थी। वह बेचारी सब तरह से निरुपाय होकर अपने शयनकक्ष में जाकर विचार करने लगी—अब मैं क्या करूं और किसके पास जाऊं? मेरे ऊपर जो कलंक आया सो तो आया, किन्तु मेरे कारण जैन धर्म पर कलंक आया, यह एक बहुत बुरी बात है अतः मैं प्रतिज्ञा करती हूं कि जब तक मेरे सिर से इस कलंक का

लोकोपवाद नहीं मिटेगा तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी । फिर चाहे मेरी सारी उमर ही क्यों न व्यतीत हो जाये । सुभद्रा ने सासांरिक अनशन किया एवं वह प्रभु के ध्यान में लीन हो, आसन लगाकर बैठ गयी । तीसरे दिन रात्रि के समय सुभद्रा के शील के प्रभाव से शासन देवी प्रकट हुई, कहने लगी—'महासती ! तू सच्ची पतिव्रता एवं धर्म में सम्यक् निष्ठा रखने वाली एक श्राविका है, ईर्ष्यावश कलंक लगाने वाले सारे झूठे हैं । मुझे इनसे कोई प्रयोजन नहीं—मुझे तो तुम यह बतलाओ कि मैं अब तुम्हारे लिए क्या करूं ? क्या बुद्धदास और उसकी मां को दण्ड दूं ?'

सुभद्रा ने कहा—'मातः ! मैं किसी को दुःख देना नहीं चाहती और न किसी को दुःख दिलवाना चाहती और न किसी का दुःख देकर प्रसन्नता का अनुभव करना चाहती हूं । मैं तो केवल इतना-सा चाहती हूं कि असत्य आरोप का भार मेरे मस्तिष्क से दूर हो जाए । बस इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं चाहती ।

चंपा के चारों द्वार बंद

'तथास्तु' कहकर महादेवी जिधर से आयी थी, उधर ही जाकर विलीन हो गई । बस पौ फटने के साथ ही चंपा में हा-हाकार मच गया । नगरी के चारों द्वार बन्द, कोई भी बाहर नहीं जा सकता । लोगों के सारे के सारे काम-काज ठप्प हो गए । द्वारों को खोलने के लिए बहुत-बहुत प्रयत्न किये गए । किन्तु द्वार इस प्रकार से सख्त बन्द थे कि खुलने का नाम ही नहीं लेते थे । लोहारों को बुलाया गया । उन्होंने विविध प्रकार से अपने बल को कसौटी पर चढ़ाया किन्तु द्वार के कपाटों को टस से मस नहीं कर पाये । अन्त में दरबार के मदोन्मत हाथियों को लाया गया । उन उन्मत्त हाथियों ने कपाटों पर टक्करें लगा-लगाकर अपने-आप को लहू-लुहान कर लिया, किन्तु कपाटों को तोड़ना तो दूर उन्हें हिला तक नहीं सके । राज-कर्मचारी तथा अन्यान्य लोग सभी चिंता सागर में डुबकियां लगा रहे थे, कि उस समय एकाएक एक आकाशवाणी हुई—'अये ! नगर के लोगो ! यह एक

प्रकार का दैवी प्रकोप है, आप लोग समझते हैं कि दैवी बल के सामने मानुषिक बल नहीं के बराबर होता है । अतः आप लोगों का यह श्रम करना बिल्कुल व्यर्थ है । इससे यह कपाट खुलने वाले नहीं । इनके खुलने का एकमात्र उपाय है कि कोई पतिव्रता सच्ची सती कच्चे धागे से छलनी बांधकर कुएं से पानी निकाले और वह पानी द्वारों पर छिड़का जाए तो ही सफलता प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं ।

कुओं में छलनियां ही छलनियां

विचित्र आकाशवाणी सुनकर लोग चिन्तित थे । जितने मुंह उतनी ही बातें । कोई कह रहा था—'अरे ! भाई कच्चा धागा छलनी के साथ बंध ही नहीं सकता ।' दूसरा कहता है—'अरे भाई ! मान लो बंध भी जाए फिर भी छलनी का भार वह कैसे झेलेगा ?' इतने में तीसरा बोल उठता है—'अरे ! मान लो कुछ समय के लिए वह छलनी का भार झेल भी लेता है किन्तु कुएं के तल तक तक कदापि नहीं पहुंच सकता ।' इतने में चौथा व्यक्ति बोल उठता है—'अरे ! तुम सब पगले हो 'ग्रामो नास्ति कुतः सीमा' इस जन-श्रुति की तुलना से मान लो कच्चे धागे से छलनी बंध भी गई, उसका भार भी झेल लिया और कुएं के तल तक भी पहुंच गई किन्तु छलनी आखिर छलनी ही है क्या उससे पानी नहीं छनेगा । अगर छनेगा तो पानी बाहर कैसे आयेगा । अतः कच्चे धागे से छलनी बांधकर पानी निकालने की बात गलत लगती है ।' कोई कहता है—'आज चंपा के निवासियों की परीक्षा है ।' कुछ कह रहे थे—'अरे भाई दिखता है किसी साधु-सती पर झूठा कलंक लगाया गया है । उसी का यह उपद्रव है ।' इस प्रकार जितने मुंह उतनी ही बातें । अच्छे-अच्छे बुद्धिमान मेधावी लोग भी निर्णय नहीं ले पा रहे थे कि अब इसके लिए क्या करना चाहिए ।

अन्त में महाराज जितशत्रु ने उद्घोषणा करवाई कि कोई भी पतिव्रता सच्ची सती हो, वह आगे आए और बिलबिलाती हुई नगरी को आस्वस्त करने की कृपा करे । जो भी कुलवती स्त्री यह कार्य करेगी

उसका इतिहास युगों-युगों तक अमर रहेगा और वह राज्य के द्वारा अधिक से अधिक सम्मानित की जायेगी । उद्‌घोषणा होते—होते सर्वप्रथम अन्तःपुर की महारानियां आयीं, फिर सरकारी कर्मचारियों की पत्नियां और फिर बड़े-बड़े सेठ साहूकारों की सेठानियां भी अपनी-अपनी विशिष्ट वेश-भूषा के साथ कुओं पर उपस्थित हुई । कुओं पर कच्चे धागे और छलनियों के अम्बार लग गए किन्तु कोई भी पतिव्रता पानी की एक बूंद भी नहीं निकाल सकी । कुछ स्त्रियां तो धागा बांध ही नहीं पायी, कुछ ने बांध दिया तो धागा वजन नहीं सह सका । कुछ ने कुएं के तल तक छलनी पहुंचा तो दी किन्तु पानी भरकर बाहर नहीं निकाल पायी । इस प्रकार कुल मिलाकर असफलता के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं लगा ।

उद्‌घोषणा की पुनरावृत्ति

यह निराशा भरा वातावरण देखकर लोग और भी चिन्तातुर हो उठे । उन्होंने पहले सोचा था कि इतनी बड़ी नगरी में कोई तो सच्ची सती प्राप्त होगी ही, किन्तु निराशापूर्ण दृश्य जब सामने आया तो स्तंभित-से हो गये । महाराज जितशत्रु ने जब इसका और कोई प्रतिकार नहीं देखा, तो उन्होंने इस विषयक दूसरी बार उद्‌घोषणा करवाई । उद्‌घोषणा में विशेष रूप से कहा गया कि जिस किसी स्त्री ने सावधानीपूर्वक पति पत्नीत्व-धर्म का निर्वाह किया है वही आगे आए और इस असाध्य संकट से नगर-जनों को बचाए । इस दूसरी बार की उद्‌घोषणा को सुनकर सुभद्रा का मन-मयूर भी नाच हो उठा और वह अपनी सास के पास पहुंची । सास के पास कहने का साहस नहीं हो रहा था, फिर भी धैर्य के साथ सास के चरणों में अपना सिर नमाया और करबद्ध होकर कहा—'माताजी, कृपया मुझे आज्ञा दिलाएं आप देख रही हैं, सारे नगर निवासी त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं । उनके इस कष्ट को दूर करने का मैं भी कुछ प्रयत्न करूं ।' बस इतना सुनना था कि वह तो लाल अंगारे के तुल्य हो गई—'नकटी ! कौन से मुंह से आज्ञा मांग रही है । थोड़े

ही दिन पहले की बात है उस जैन साधु से चिपक रही थी, वह तू ही तो है । कुलटे ! आज्ञा मांगते तुझे लज्जा का अनुभव नहीं होता ! सारे परिवार की इज्जत मिट्टी में मिलाकर अब सतीत्व की बात करती है । कुछ अन्दर के नेत्रों से देख तो सही जहां बड़े-बड़े राजाओं के घरों की महारानियों और बड़े-बड़े सेठों की सेठानियों को भी अपना मुंह लेकर वापस लौटना पड़ा, वहां तेरे जैसी कुलंकित, कुलच्छनी, कुलटा का जाना किसी भी तरह से शोभा नहीं देगा ? जा, चली जा चुपचाप घर और बदनाम मत कर ।

सुभद्रा ने सोचा, सास पर कोई कलंक नहीं, आखिर कलंक तो मेरे पर है । अतः सास इसकी चिंता क्यों करने लगी, वह वापस सास के पास पहुंची और अति आग्रह से आज्ञा प्राप्त कर, कुएं पर पहुंच गई । उसने बिना किसी भय के कच्चे सूत के धागे से छलनी बांधी और कुएं में उसेरने लगी कि वहां कुछ परिचित लोग उपस्थित थे । कहने लगे—'अरे ! यह तो वही सुभद्रा है हिसने थोड़े दिन पहले एक जैन मुनि से कुकर्म किया था । अरे ! देखो तो सही यह कितनी निर्लज्ज है जो सती होने का दम भरती है, और छलनी से पानी निकालने के लिए यह कुएं पर आई है ।' कुछ कहने लगे—'भाई, कलियुग है कलियुग । आजकल इस प्रकार की सतियां ही दुनिया का बेड़ा पार कर सकती हैं ।' कहने वालों का अपना मुंह है, अपनी इच्छा के अनुसार कहेंगे । किसी के रोकने से रुकने वाले नहीं किन्तु सुभद्रा ने उस ओर अंश मात्र भी ध्यान नहीं दिया । उसने नमस्कार महामंत्र का स्मरण किया और कुएं में छलनी उसेर दी । ज्योंही छलनी पानी से लबालब भरी बाहर आई कि जय-जय कि ध्वनि सें दसों दिशाएं मुखरित हो उठीं । कोटि-कोटि कंठों से 'जय हो जय हो' महासती सुभद्रा की जय हो' जय-जय के निनाद से आकाश और धरातल एकमेक हो उठे ।

महाराज जितशत्रु महामात्य और बड़े-बड़े राज-कर्मचारी लोग एवं साहूकार लोग दौड़कर सुभद्रा महासती के पास पहुंचे । महासती के

चरणों में नमस्कार कर कहने लगे—'महासती जी, अब अविलम्ब पधारिए और यह दिव्य जल छिड़कर नगर के द्वार खोलिए ।'

महासती के द्वारा द्वारोद्‌घाटन

नगर के लोगों को आश्चर्य में डालती हुई सुभद्रा महासती पानी की छलनी सहित नगर द्वार पर पहुंची एवं पंचपरमेष्ठी का स्मरण कर छलनी से एक चुल्लु पानी भरकर कपाटों पर छिड़का कि खड़खड़ करते हुए वे कपाट अपने आप खुल गये । इसी प्रकार चंपा के दूसरे और तीसरे द्वारों को भी महासती ने मुक्त कर दिया । चौथा द्वारा खोलने के लिए भी जब लोगों ने आग्रह किया, जब महासती ने लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा—'इस चौथे द्वार को खोलने के लिए भी लोगों का आग्रह है किन्तु लोगों से मेरा निवेदन है कि इस द्वार को मैं बिल्कुल ही नहीं छेड़ूगीं, इस को ज्यों का त्यों ही छोड़ देती हूं । क्योंकि भविष्य में कोई सती होगी तो वह इस द्वार को खोलकर अपने सतीत्व का परिचय दे सकेगी । इस प्रकार कहकर महासती ने उस द्वार को बन्द ही छोड़ दिया ।

सुभद्रा के ससुराल के लोग एवं उसके सास, ससुर, पति आदि सभी लज्जित थे । उन्हें मुंह ऊंचा करने के लिए भी स्थान नहीं था । जिन्होंने द्वेषवश सुभद्रा पर कलंक आरोपित किया था, वे सभी लोग महासती के पास आए एवं बहुत-बहुत नम्रता के साथ क्षमा-याचना की । महासती सुभद्रा ने सास, ससुर एवं पति तथा परिवार के वृद्धजनों को सिर झुकाकर प्रणाम किया और उन सबसे अनुरोध किया कि इसमें आप लोगों का कोई दोष नहीं है । मेरे ही पूर्वकृत पापों के संयोग से यह महाकलंक मेरे सिर आया था और वह अब धर्म के प्रताप से उतर गया है । आप लोगों से मेरी एक विनम्र प्रार्थना है कि आप लोग धर्म के मार्ग को समझें और उसे जीवन में उतार कर आत्म-कल्याण करें । महासती ने जैन धर्म का रहस्य इतने सरल शब्दों में समझाया कि उपस्थिति श्रोताजन मंत्र-मुग्ध हो गये । महासती के ससुराल वाले बुद्धदास आदि सभी उसी दिन से पक्के जैन बनकर उच्चकोटि की साधना में लग गये ।

सुभद्रा की दीक्षा और निर्वाण

अब सुभद्रा का गृहस्थ जीवन सुखपूर्वक गतिमान था । बुद्धदास आदि घर के सभी लोग महासती सुभद्रा का पूरा-पूरा सम्मान रखते थे । घर में हर समय धार्मिक चर्चा का होना स्वाभाविक-सा हो गया था । महासती को श्रावक धर्म का निर्वहन करते-करते एक दिन विरक्ति हो गई । उन्होंने दीक्षा ग्रहण की नाना प्रकार की तपस्या एवं अभिग्रहों से अपनी आत्मा को भावित किया एवं अन्त में कर्म-शत्रुओं का नाश कर सदा-सदा के लिए आवागमन से मुक्त हो गई ।



परिशिष्ट

(चार महासतियां)

महासती शीलवती

अजितसेन नन्दपुर शहर निवासी सेठ रत्नाकर का पुत्र था । उसकी पत्नी शीलवती दृढ़-धर्मिणी और पतिव्रता थी । वह स्त्रियों की चौंसठ कलाओं में निपुण थी । महासती शीलवती इसके अतिरिक्त पशु-पक्षियों की भाषा समझने में भी कोविद थी ।

एकदा अजितसेन रात्रि के समय अपने शयनकक्ष में सो रहा था । महासती शीलवती उसकी पत्नी भी वहीं सो रही थी । अर्धरात्रि के समय महासती शीलवती ने एकाएक एक श्रृगाल को बोलते हुए सुना । उसकी नींद टूट गई । उसने श्रृगाल को ध्यान से सुना । वह कह रहा था—'यहां नदी में बहकर आया हुआ एक मनुष्य का शव किनारे पर लगा हुआ है । उसकी जंघा में सवा-सवा करोड़ के पांच महारत्न छिपे हुए हैं । कोई सज्जन आए तो वे रत्न मैं प्राप्त करवा सकता हूं ।'

शीलावती नदी तट पर जाने को उद्यत

महासती शीलवती ज्योंही उठकर चलने को तैयार हुई उसके पति की आंख खुल गई । यह देखकर वह वापस लेट गई एवं पतिदेव के सोने की प्रतीक्षा करने लगी । अजितसेन भी बड़ी बुद्धि-वैभव वाला था । वह तत्काल ही समझ गया कि उसकी पत्नी कहीं जाना चाह रही है, किन्तु मेरे भय से वह नहीं जा पा रही है । अजितसेन ने तत्काल ही कपट नींद का प्रयोग किया । महासती उसकी इस छलना को नहीं समझ पायी और वह कुछ आवश्यक सामग्री लेकर नदी के किनारे पर पहुंची । जहां

पर वह श्रृगाल किसी के आने की प्रतीक्षा कर रहा था । महासती शीलवती ने श्रृगाल को संकेत किया, वह उसे मानव-शव के पास ले गया, उसकी बाईं जंघा की ओर इशारा किया । शीलवती अपने साथ जो सामग्री लायी थी उसमें एक चाकू भी था । उसने उस शव की बायीं जंघा को चीरा और पांच रत्न प्राप्त कर लिये । महासती शीलवती ने प्रस्तुत श्रृगाल को सांकेतिक भाषा में कुछ कहा और तत्काल ही वापस आकर अपनी शय्या पर लेट गई ।

अजितसेन ने भी प्रस्तुत समय तक जागृत रहकर अपनी पत्नी की सारी करतूतें देखी । उसका मन शंकाओं से भर गया । उसने सोचा कि उसकी पत्नी व्यभिचारिणी है, अन्यथा भला इस अर्द्धरात्रि के समय अकेली जाने का दुःसाहस क्यों करती । अजितसेन ने इस प्रकार चिन्तन कर अपनी पत्नी से मन खींच लिया । उसने अपने मन की बात शीलवती से न कहकर वहम ही वहम में उससे दूर हो गया । अन्त में एक दिन इस सारी घटना का विवरण अपने पिता रत्नाकर को सुना दिया । उसने अपने पिता को सम्बोधित करते हुए कहा—'पिताजी ! अब मैं इस स्त्री को घर में रखना नहीं चाहता, जो स्त्री स्वछंद होकर घूमती-फिरती हो उसके लिए अपने घर में स्थान नहीं है । अतः अब आप उसे घर से निकाल दीजिए । ऐसी कुलच्छनी स्त्री का अब मैं मुंह देखना भी नहीं चाहता ।'

सेठ रत्नाकर ने अपने पुत्र की बात को स्वीकार कर पुत्रवधू से कहा—'बहूरानी ! तुम्हारे पिता का पत्र आया था, उन्होंने किसी कार्यवश तुम्हें याद किया है, तैयारी कर लो । [illegible] तुम्हें तुम्हारे
पीहर पहुंचा आऊं । महासती शीलवती को [illegible] पता [illegible]
गया । यह तो पढ़ी-लिखी और बड़ी विचक्षण [illegible]
समझ गई कि यह सारा [illegible] ही उस [illegible]
है । पतिदेव को मैं [illegible] है से
पहुंचाने के मिस से [illegible]

मेरा धर्म मेरे साथ है, फिर ये चाहे जो करें किन्तु अपनी बात के विषय में जब तक यह नहीं पूछेंगे तब तक इन्हें कुछ कहना उचित नहीं ।

महासती शीलवती श्वसुर के साथ

आदेश प्राप्त होते ही शीलवती ने हर प्रकार से अपनी तैयारी की । उसने बिना कुछ ननुनच के चुपचाप अपने श्वसुर के साथ प्रस्थान कर दिया । मार्ग के एक किनारे पर खेत देखा, जिसमें हरे-हरे मूंग खड़े थे । सेठ ने कहा—'खेत वाला मालोमाल हो जाएगा ।' बहू ने जब सुना तो तत्काल ही बोल उठी—'नहीं-नहीं, श्वसुरजी ! यह तो कंगाल का कंगाल ही रहेगा । वहां से फिर वे कुछ आगे बढ़े कि उन्हें एक बाणों से विधा हुआ क्षत्रिय-पुत्र मिला । सेठ की दृष्टि में आते ही उन्होंने कहा—'अहा ! हा ! कितना वीर पुरुष है !

सेठ की पुत्रवधू श्वसुर की बात को काटते हुए कहा—'कहां है वीर पुरुष ? यह तो कायरों का शिरोमणि है । आपने बिना चिंतन के ऐसे कैसे कह दिया ?'

सेठ रत्नाकर और उसकी पुत्रवधू अबाध गति से चले जा रहे थे कि चलते-चलते रास्ते के बीच में एक नदी आ गई । सेठ ने कहा—'नदी पार करना है, जूते हाथ में ले लो ।'

बहू ने उत्तर देते हुए कहा—'सेठजी ! मैं तो जूते पहने-पहने ही नदी पार कर लूंगी ।

पुत्रवधू का इस प्रकार सूखा उत्तर सुना किन्तु सेठजी कुछ कह नहीं पाए । अन्त में नदी पार कर, आगे की ओर चल पड़े । चलते-चलते दिन बहुत थोड़ा रह गया । सूर्य अस्ताचल पर्वत से नीचे उतर रहा था, यह देखकर सेठजी एक मंदिर में रात-भर ठहरना चाह रहे थे । किन्तु उनकी पुत्रवधू ने कहा—'सेठजी, इस मंदिर में ठहरना उचित नहीं । यह मंदिर तो नरक- तुल्य है । अतः यहां ठहरना उचित नहीं ।' आगे चलते-चलते एक बहुत बड़ा शहर आया, सेठजी ने वहां

ठहरने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु उनकी पुत्रवधू ने उस शहर को भी श्मसान तुल्य बताकर निषिद्ध कर दिया ।

सेठ अपनी पुत्रवधू के साथ शहर से कुछ आगे निकले, कि एक छोटासा गांव आया । पुत्रवधू ने वहां ठहरने के लिए आग्रह किया । सेठजी की इच्छा न होते हुए भी उन्होंने अपनी हठीली पुत्रवधू के साथ विवाद करना उचित नहीं समझा और गांव की ओर चल पड़े । वे गांव में प्रवेश करने को ही थे कि रास्ते में पुत्रवधू का मामा मिल गया । उसने सेठजी की बहुत मनुहार की एवं उन्हें अपने घर ले गया । वहां पर उन्होंने सुखपूर्वक रात्री व्यतीत की । सूर्य उदय होते-होते ही फिर आगे की ओर प्रस्थान कर दिया । चलते-चलते मध्याह्न हो गया, धूप बहुत तेज हो चली थी । सेठ ने रास्ते पर एक गहरे वृक्ष के नीचे विश्राम करने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु बहूरानी इस बात पर भी सहमत नहीं हुई । सेठजी उस वृक्ष की गहरी छाया में विश्राम करने के लिए बैठे, किन्तु बहूरानी श्वसुर के कहने पर भी वृक्ष की छाया में न बैठकर अपनी गाड़ी की छाया में जाकर बैठी । बहू का हठीलापन और उश्रृंखलता देखकर सेठ क्रोध में जल उठा । वह सोचने लगा—'कैसी स्त्री है, जिसे औचित्य और अनौचित्य का भान नहीं, जिसे व्यवहार्य, अव्यवहार्य और परिहार्य, अपरिहार्य का अंश मात्र भी विवेक नहीं । इस प्रकार की मूर्ख स्त्री देखने का यह पहला ही मौका है । ऐसी स्त्री मैंने पहले कहीं नहीं देखी । यह कुलटा तो है ही किन्तु दूसरे अवगुणों की भी कमी नहीं है । खैर जैसा करेगी वैसा भरेगी । मुझे क्या, अब इस बहू के साथ जीवन थोड़े ही बिताना है, अभी चलता हूं और इसे इसके पीहर छोड़कर अपने घर का रास्ता पकड़ूंगा ।'

सेठ इस प्रकार संकल्प-विकल्प करता हुआ, कुछ सोच ही रहा था कि इतने में वृक्ष पर बैठे हुए एक कौवे ने अपनी भाषा में कुछ कहा । शीलवती ने इसके कहने को ठीक से समझा और प्रत्युत्तर करते हुए कहा—'भैया ! मैंने पहले एक गीदड़ का कहना किया था, जिसके

फलस्वरूप मेरे श्वसुरजी मुझे अपने घर से निकाल रहे हैं । अब अगर फिर तेरा कहना करूं तो कहीं मुझे देश से ही न निकाल दें । अतः न तो मुझे स्वर्ण-मुद्राओं की आवश्यकता है और न ही तुम्हें खिलाने के लिए मेरे पास कोई वस्तु ही है ।'

दूर बैठा श्वसुर चौंका और अपनी पुत्रवधू से कहने लगा—'बहूरानी, क्या पागल तो नहीं हो गई हो, जो अकेली ही बातें कर रही हो ?'

शीलवती ने कहा—'नहीं जी, ऐसी बात तो नहीं है, मैं तो इस कौवे से बातें कर रही हूं । यह कह रहा है कि इस कैर के वृक्ष के चारों ओर चार स्वर्ण मुद्राओं के घड़े गड़े हुए हैं । मुझे भोजन कराने वाले को मैं इन स्वर्ण मुद्राओं का पता बतला सकता हूं ।'

सेठ ने अविलम्ब उस कौवे को भोजन खिलाया और निर्दिष्ट स्थान से वे स्वर्ण मुद्राओं से परिपूर्ण घट प्राप्त कर लिये !

यह देखकर सेठ आश्चर्यचकित रह गया । उसने बहू से उस गीदड़ वाली बात के विषय में भी पूछा । महासती शीलवती ने वे सवा-सवा करोड़ वाले रत्न सेठजी के सामने प्रस्तुत किये । सेठ ने ज्योंही रत्न देखें उनका मन बदल गया । अब उसे बहूरानी वास्तविक रानी के तुल्य लगने लगी । अब वह उस पुत्रवधू को बुद्धिमती और सती समझने लगा । किन्तु फिर भी अपने मन का भ्रम दूर करने के लिए उसने बहूरानी को सम्बोधित करते हुए पूछा—'बहू ! तुम इतनी विदुषी और विवेकशालिनी हो फिर भी रास्ते में बात-बात पर मेरे साथ विवाद क्यों कर रही थी ?' महासती शीलवती ने अत्यन्त नम्र और विनय भरे शब्दों में कहा—'पिताजी ! विवाद से मेरा कोई प्रयोजन नहीं था, किन्तु आपको उन सब बातों के रहस्य मालूम नहीं थे और मैं उन सब बातों के मर्म को पहचानती थी, अतः ठीक समझकर मैंने आपके कथन का विरोध किया था ।

सेठ ने कुछ चकित होकर पूछा—'वह कैसे ?'

शीलवती ने श्वसुर को संबोधित करते हुए कहा—'पिताजी ! लीजिए, मैं आपको इन सबका रहस्य खोलकर बतलाती हूं। मूंग के खेत वाला व्यक्ति इतना देनदार है कि सारे मूंग बेचने पर भी वह देनदारी से मुक्त नहीं हो सकता। अतएव मैंने कहा था कि वह तो कंगाल का कंगाल ही रहेगा।

'बाणों से बिंधे मनुष्य को देखकर आपने उसे शूरवीर बताया था, किन्तु मैंने उसे कायर बताया था, क्योंकि उसकी पीठ बाणों से बिंधी हुई थी। अगर शूरवीर होता तो उसका वक्षस्थल बाणों से बिंधा हुआ होता।

'नदी पार करते समय आपने जूते उतारकर हाथ में ले लेने की बात कही, किन्तु नदी गहरी थी उसमें जहरीले जल-जन्तुओं का भय था, अतः मैंने पैरों से जूते निकालने उचित नहीं समझे। मैं समझती हूं अब तो आप इस रहस्य को समझ गए होंगे।

'आगे जब मंदिर आया, अपने वहां ठहरने की इच्छा व्यक्त की, किन्तु मैंने वहां ठहरना उचित नहीं समझा। इसका तात्पर्य था कि वह स्थान गुण्डों और बदमाशों का अड्डा था। अतः मैंने वहां पर टिकना उचित नहीं समझा। मैंने उस स्थान को नरक तुल्य कहा था।

'आगे जब वह एक बड़ा शहर आया और आप वहां पर ठहरना चाह रहे थे, किन्तु मैंने उस स्थान को श्मशान कहकर पुकारा था। कारण उस शहर में अपने परिचित व्यक्ति कोई नहीं थे। इस दृष्टि से उस शहर को श्मशान के तुल्य कहा और वहां ठहरना उचित नहीं मानकर उस छोटे से गांव में रहने का आग्रह किया। क्योंकि उस छोटे गांव में मेरा मामा रहता था।

'अन्त में रास्ते पर एक वृक्ष आया उसकी छाया में आपने मुझे बैठने को कहा था, किन्तु मैंने उस बात को स्वीकार नहीं किया और

उस वृक्ष की छाया में नहीं बैठी । तात्पर्य यह था कि उस वृक्ष पर कौवे बैठे हुए थे हो सकता था कोई विष्ठा कर दे तो मेरे सारे कपड़े गन्दे हो जाए । अतः मैंने वहां बैठना उचित नहीं समझा ।'

बहूरानी की रहस्यपूर्ण बातें सुनकर सेठ बेचारा स्तब्ध रह गया एवं क्षमा-याचना कर उसे वापस घर ले आया । उसका पति अजितसेन भी उसकी रहस्यभरी बातों का भेद पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ । वह शीलवती को सच्ची पतिव्रता धर्म को पालने वाली एवं विशेष विदुषी समझकर उससे अधिक से अधिक प्रेम करने लगा । कीमती रत्नों एवं स्वर्ण मुद्राओं का शहर में वह एक बड़ा भारी व्यापारी माना जाने लगा । लोगों ने उसे एक ख्यातिप्राप्त व्यक्ति समझकर राज्य सभा की सदस्यता प्राप्त करवा दी । अजितसेन ने शीलवती के सहयोग से राजा की अनेक जटिल समस्याओं का समाधान किया । अतः आगे चलकर वह राज्य में प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त हुआ ।

एक बार अजितसेन राजा के साथ युद्ध में जा रहा था । वह विदाई लेने के लिए अपनी प्राणप्रिया के कक्ष में पहुंचा । उसकी स्त्री ने अपने पति को विदा देने के साथ-साथ एक पुष्प भी भेंट किया । उसने बतलाया कि यह पुष्प जब तक मेरा ब्रह्मचर्य व्रत अखण्ड रहेगा, तब तक कुम्हलाएगा नहीं । फिर चाहे कितना ही समय क्यों न गुजरे । उसका पति अजितसेन यह सुनकर आश्चर्य में डूब गया । वह सोचने लगा कि ब्रह्मचारी की देवता भी सेवा करते हैं ।

दैवदानव गंधत्वा जक्ख रक्खस्स किन्नरा
वंभयारी नमंस्यांति दुक्करं जे करेंतिते'

इस महावाणी के अनुसार ब्रह्मचारी का बहुत बड़ा प्रभाव है फिर पुष्प का न कुम्हलाना क्या महत्त्व रखता है । इस प्रकार अजित ने अपने आपको समाधिस्थ कर लिया ।

अजितसेन से मन्त्रिगण की ईर्ष्या

अपनी स्त्री से प्राप्त उस पुष्प को लेकर अजितसेन भूपति के साथ संग्राम-स्थल पर पहुंचा । वहां वह पुष्प को प्रतिदिन देखा करता था । राजा, मंत्रीगण तथा कर्मचारियों ने इसे निरंतर ऐसे करते हुए देखा । संदेह हो गया कि हमेशा-हमेशा यह क्या देखता है । उन्होंने अजितसेन से पूछा । अजितसेन ने उन लोगों को सत्य-सत्य बात कह दी । अजितसेन के मुंह से उस पुष्प के विषय में आश्चर्यजनक वृत्तान्त सुनकर उन लोगों के मन में एक प्रकार की ईर्ष्या पैदा हो गई । उस समय भूधव के परामर्श से चार मंत्री महासती का शीलव्रत की कसौटी करने के विचार से वापस शहर में आये । उन्होंने एक दूती से संपर्क स्थापित किया एवं उसे अपने करणीय के विषय में सारी बातें समझा दीं । दूती ने शीलवती के घर पहुंचकर बड़ी नम्रता के साथ उसे फुसलाते हुए कहा—'बहन ! तुम्हारी इच्छा हो तो कुछ राजमंत्री तुमसे एकान्त में मिलना चाह रहे हैं ।'

महासती शीलवती ने उस दूती को इस प्रकार का उपालम्भ दिया कि बेचारी दूती उसी समय नौ-दो ग्यारह हो गई । किन्तु उन राजमंत्रियों ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा, उन्होंने कुछ भय दिखलाते हुए महासती शीलवती को कहलवाया कि अगर हमारा कहा नहीं करोगी, तो हम तुमको बिल्कुल विनष्ट कर देंगे । महासती उनके कहने के रहस्य को समझ गई कि ये ईर्ष्यावश मेरा शीलभंग करने के लिए आए हैं । अतः इन्हें कुछ शिक्षा देनी चाहिए । यह सोचकर उसने उन चारों मंत्रियों को रात्रिकाल में अलग-अलग समय देकर अपने घर पर आमंत्रित किया । उसने अपने घर पर 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति से एक बड़ा गर्त खुदवाया और उसके ऊपर एक केवल पल्यंक का ढांचा रखकर उस पर एक सुन्दर वस्त्र लगा दिया । जैसे-जैसे उन लोगों के आने का समय हुआ, वे अपने समय के अनुसार एक-एक कर आये । शीलवती उन्हें स्वागत के साथ पल्यंक पर बैठने का इशारा करती गई, वे ज्योंही बैठते गर्त में समाहित होते गए । अन्त में शीलवती ने उन

चारों को एक कारागृह में बन्द कर दिया और वहीं उनकी व्यवस्था कर दी। किन्तु आखिर घर घर ही होता है और कारागृह कारागृह ही, वे दुःखी थे। उस कारागृह में वे नारकीय दुःखों का अनुभव कर रहे थे। वे दीन स्वरों से शीलवती को अनुरोध कर रहे थे कि वे उन्हें अब मुक्त कर दे। किन्तु शीलवती उन्हें कहती थी कि जब तक मेरे पतिदेव न आ जाएं तब तक आप लोग इस कारागृह की हवा ही खाएं और अपने कृत कमर्द्ध का फल भोगें।

अजितसेन का घर आना

युद्ध-स्थल पर गए अजितसेन के छह महीने व्यतीत हो गये। उसने घोर श्रम से वहां सफलता प्राप्त की और छह महीनों के पश्चात् वह अपने घर लौटा। महासती शीलवती ने अपने पतिदेव को सारा हाल बताते हुए कहा—'चारों मंत्री कारागृह में तड़प रहे हैं। आपकी इच्छा हो तो अब उन्हें छुट्टी दे दूं।' अजितसेन ने कारागृह में जाकर उन्हें देखा। वे सचमुच ही काले-कलूटे और एक प्रकार से विद्रूप हो रहे थे। उनकी दाढ़ी और मूछें बड़ी-बड़ी हो रही थीं एवं सिर की केश-राशि भी काफी लम्बी बढ़ चुकी थी। उन्हें कारागृह से बाहर निकाला जाए, इस बीच अजित ने एक दिन राजा को अपने घर पर आमंत्रित किया। उस दिन अजितसेन के घर विविध व्यंजन और पकवान बनाये गये। अजितसेन ने महाराज को भोजन परोसने के लिए उन चारों मंत्रियों को तैयार किया। उन्हें स्नान करवाया और फिर उनके शरीर पर लाल चन्दन का लेप कर उन्हें लाल वर्ण का बना दिया एवं उनके उन लम्बे-लम्बे बालों में फूल गूंथ दिए गये। वे चारों के चारों अब एक यक्ष जैसे लग रहे थे।

महाराज जब भोजन के लिए अजित के घर पहुंचे और भोजन पर बैठे तो अजित के आदेशानुसार वे चारों ही मंत्री राज-परिवार को भोजन परोसने के लिए आये। वे सारे मौन धारण किये हुए थे। क्योंकि उन्हें बोलने के लिए अजितसेन ने रोक लगा रखी थी। महाराज के साथ

भोजन पर बैठे हुए लोग तरह-तरह के बहानों से उन्हें बोलने के लिए प्रेरित कर रहे थे। किन्तु उनके मुंह पर सशक्त ताला लगा हुआ था। अतः वे मौन रहकर ही इधर-उधर दौड़-धूप कर रहे थे। अन्त में दरबार के पूछने पर अजितसेन ने कहा—'राजन् ! ये चारों यक्ष मेरे घर पर कार्य करते हैं।' राज दरबार ने अजितसेन से उन यक्षों की याचना की। वह दूसरे ही दिन उन चारों को लेकर भरी राज-सभा में पहुंचा और उन चारों को दरबार के सम्मुख उपस्थिति किया। राजदरबार ने पूछा—'आप लोग कहां के हैं ? और यहां मंत्री के घर पर कैसे आना हुआ ? महाराज के पुनः-पुनः पुछने पर भी, वे चारों के चारों मौन रहे। आखिर बोलते भी तो क्या ? वे तो बेचार शर्म के मारे नजर भी ऊंची नहीं कर सकते थे।

मंत्रियों का स्मरण

इस प्रकार बातें करते-करते महाराज को अपने उन चारों मंत्रियों का स्मरण हो आया। दरबार ने उनके घर पर अपने आदमियों को निगाह करने के लिए भेजा। घरवालों ने बतलाया कि वे तो छह महीनों से गायब हैं। दरबार ने सोचा महासती शीलवती को परेशान करने के लिए आये थे, कहीं वे फंस तो नहीं गये ? सोचते-सोचते राजदरबार ने ध्यानपूर्वक उन चारों को देखा कि उसी क्षण उनको पहचान लिया। सारी स्थिति पूछी। उन चारों को भरी सभा के बीच लज्जित होना पड़ा और सभा में सबके सामने सच्ची-सच्ची घटनाएं सुनानी पड़ीं। सभा के सारे सदस्य आश्चर्यचकित थे।

इस प्रकार उनके मुंह से सारी बातें सुनने के पश्चात् उन चारों को मुक्त कर दिया गया। उन्होंने भी अपने दुष्कृत का पाश्चाताप किया एवं महासती शीलवती से क्षमायाचना की। जीवन भर के लिए उन्होंने पर-स्त्री गमन का प्रत्यखान कर दिया। महाराज दरबार से उन्होंने शीलवती की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

दमघोष मुनि का पदार्पण

लोगों में एक प्रकार से सुखद वातावरण चल रहा था कि उस शहर में दमघोष मुनि पधारे । राजा, राज-मंत्रिगण मुनि के स्थान पर पहुंचे । साधारण नागरिकजन भी वैराग्य रस का आस्वाद लेने के लिए मुनि के उपाश्रय पर पहुंचे । मुनि ने अपनी सुधा निर्झरिणी वाणी से लोगों को तृप्त कर दिया । उन्होंने साधु धर्म और गृहस्थ धर्म का विशद विवेचन किया । श्रेष्ठीपुत्र अजितसेन तथा उसकी पत्नी शीलवती ने सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रतों को स्वीकार किया । उन्होंने जीवन भर निरतिचार रूप से व्रतों का पालन किया । अन्त में उस क्षणभंगुर शरीर को छोड़कर वे पांचवें ब्रह्मनाम के स्वर्ग में उत्पन्न हुए एवं भवान्तर में वे मुक्ति के सुखों को प्राप्त करेंगे ।



महासती चेल्लना

महासती चेल्लना सोलह सतियों की गणना में नहीं हैं फिर भी वे उन सबसे किसी भी बात में कम नहीं थीं । महासती चेल्लना ललनाओं सम्बन्धित चौंसठ कलाओं के अध्ययन में अभ्यस्त थीं । चेल्लना श्रद्धालुता और दयालुता के गुणों से परिपूर्ण थीं । तत्त्व-ज्ञान की आराधिका और दूसरों को तत्त्व-ज्ञान समझाने में वह अपना एक अलग ही स्थान रखती थीं । वे विनय और विवेक की तो प्रतीमूर्ति ही थीं । सत्यशील और धैर्य के गुणों में वे बेजोड़ थीं । महासती चेल्लना अनेक गुणों की पात्रा थीं । उपर्युक्त सभी गुणों का परिचय उनके एककार्य से ही लग जाता है, जो कि उन्होंने श्रेणिक जैसे कट्टर बौद्ध मतावलम्बी को अनेक न्याय और युक्तियों के द्वारा जैन बनाया । जो कार्य विद्वानों और साधु-सन्तों द्वारा नहीं पट रहा था, वह कार्य महारानी चेल्लना ने अपने बुद्धि-वैभव से कर दिखाया ।

महासति चेल्लना का जन्म-परिचय

विशाला के महारज चेटक के सात पुत्रियां थीं । उनमें पांच पुत्रियों का सम्बन्ध हो चुका था, सुज्येष्ठ और चेल्लना अभी तक कुमारावस्था में ही थीं । एक बार एक संन्यासिनी उनके निवास-स्थान पर पहुंची और बातचीत का सिलसिला चलाया । इस दौरान संन्यासिनी ने जैन-धर्म से संबंधित कुछ तत्वों के विषय में चर्चा प्रारम्भ की । एक ओर कुमारी सुज्येष्ठा उसे समझाने का प्रयत्न कर रही थी दुसरी ओर संन्यासिनी

जैन-धर्म के विषय में तर्क-वितर्क कर रही थीं । इस प्रकार विवाद में चलते-चलते संन्यासिनी ने जैन धर्म के विषय में कुछ अपशब्दों का प्रयोग किया, आगे चलकर वह कुछ जैन-धर्म की निन्दा करने पर भी उतर आई ।

सुज्येष्ठा अपने धर्म की निन्दा कब सहन कर सकती थी ! उसने संन्यासिनी को युक्तिपूर्वक ऐसी फटकार लगाई कि वह तिलमिला उठी और बेचारी बिल्कुल निरुत्तर होकर वहां से चलती बनी । किन्तु सुज्येष्ठा के प्रति उसकी भावना दूषित हो गई । उसने अपने अपमानित होने का बदला कैसे लिया जा सकता है, इसका भी निश्चय कर लिया । उसने राजकुमारी सुज्येष्ठा का एक अति सुन्दर चित्रपट बनाया और उस चित्रपट को एक डिबिया के अन्दर रख लिया ।

प्रातःकाल नौ बजने का समय था । महाराज श्रेणिक अपने विश्रामकक्ष में विराजित थे । विश्रामकक्ष में चारों दिशाओं में कुछ अगरबत्तियां जल रही थीं । चारों ओर दीवारों पर बड़े-बड़े ऐतिहासिक चित्रपट लगे हुए थे । ऊपर की ओर छत से बड़े-बड़े कांच के बने हुए झाड़ लटक रहे थे । चारों ओर के द्वारों पर सुन्दर कलात्मक ढंग से निर्मित परदे लगे हुए थे । विश्रामकक्ष में चारों ओर स्थान-स्थान पर फूलों के गुलदस्ते रखे हुए थे । विश्रामकक्ष गुलदस्तों और अगरबत्तियों की सौरभ से सुरभित था । इस एकान्त के समय में महाराज श्रेणिक से साक्षात् करने के लिए एक संन्यासिनी विश्राम-कक्ष में प्रविष्ट हुई । उसने अपने द्वारा निर्मित राजकुमारी सुज्येष्ठा का चित्रपट महाराज श्रेणिक के कर-कमलों में थमाया और स्वयं तत्क्षण ही कक्ष से बाहर हो अपने गन्तव्य पथ की ओर बढ़ गई ।

महाराज श्रेणिक अपने कर-कमलों में थामे हुए उस चित्रपट पर टकटकी लगाये हुए थे । वे देख रहे थे कि यह चित्रपट किसका है ? बड़ी ही सुन्दराकृति है ! लगता है यह कोई देवांगना होगी । इसके अतिरिक्त इतना सुकोमल और स्निग्ध अंग क्या किसी का हो सकता है

इस प्रकार वे नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों से उस चित्रपट को अत्यन्त ध्यान से देख रहे थे कि उनकी दृष्टि उन परिचयात्मक पंक्तियों पर पड़ी जो इस प्रकार थी –

'विशालाधिपति महाराज चेटक की सुपुत्री राजकुमारी सुज्येष्ठा' इस परिचय को पढ़ते ही महाराज श्रेणिक चिन्तासागर में आप्लावित हो गये । वे सोच रहे थे कि महाराज चेटक भगवान महावीर के उपासक हैं और मैं भगवान बुद्ध का शिष्य हूं । अतः यह सम्बन्ध मेरे साथ कदापि नहीं हो सकता । महाराज श्रेणिक सुज्येष्ठा पूर्ण रूप से मुग्ध थे । किन्तु वह प्राप्त किस प्रकार से हो, यह उनके लिए एक चिन्ता का विषय था । महाराज श्रेणिक इस चिन्ता से दिन-प्रतिदिन शरीर से कृश होते जा रहे थे । उनकी इस कृशता को देखकर मंत्री अभयकुमार को भी चिंता हुई । उन्होंने महाराज श्रेणिक से इसका कारण पूछना चाहा किन्तु अभयकुमार उनके पुत्र थे अतः पुत्र के सम्मुख अपनी यह गुप्त बात महाराज कैसे प्रकट कर सकते थे । महामंत्री अभय इन बातों के अनुसंसाधन करने में बड़े पटु थे । वे महाराज श्रेणिक के विश्राम-कक्ष में पहुंचे । देखभाल करने पर वहां पर राजकुमारी सुज्येष्ठा का चित्रपट प्राप्त हुआ और उसी के आधार पर उन्होंने पता लगाया कि महाराज श्रेणिक कृश क्यों हो रहे हैं । उनकी यह भावना कैसे सफल हो । महामंत्री अभयकुमार उसी दिन से अपने पिता की मनोभिलाषा पूर्ण करने की चिंता में लग गये ।

विशाला महाराज चेटक की राजधानी थी । छोटा-सा शहर अत्यन्त सुन्दर प्रकार से बसा हुआ था । नगर के चारों ओर संगीत प्राकार और बुरजे बनी हुई थीं । जिसके बाजारों की श्रेणी अत्यन्त मनमोहक थी । शहर की गगनचुम्बी भव्य अट्टालिकाएं देखते ही बनती थी ! महाराज चेटक के राजमन्दिरों की सुन्दरता के विषय में तो कहना ही क्या ? ठीक राजमंदिरों के नीचे एक विक्रय भण्डार है । जिस के संचालक महामात्य अभयकुमार हैं । वे जब भी उसमें विक्रेता बनकर बैठते हैं,

एक वाणिज्यकार के परिवेश में दिखाई पड़ते हैं । उनकी हट्टिटका की केवल आकृति ही सुन्दर हो, ऐसी बात नहीं, उसमें वस्तुएं भी प्रामाणिक व ठोस प्राप्त होती थीं । महामात्य अभयकुमार के आपण में अधिकांशतः वही वस्तुएं प्राप्त हैं जो कि अन्तःपुर की महारानियों, राजकुमारियों आदि के उपयोग में आती हों । अन्तःपुर की दासियां वस्तुएं यहां से ही क्रय करती हैं । क्योंकि महामात्य अभय की यह दुकान राजमन्दिरों के अत्यन्त निकट थी ।

एक दिन महामात्य अभय ने राजकुमारी सुज्येष्ठा की एक दासी को अनेक कार्षापणों का सौदा एक थैले में बांधकर सौंपा । उसके साथ-साथ उन्होंने महाराज श्रेणिक का एक चित्रपट भी बांध दिया । उसने वह थैला राजकुमारी सुज्येष्ठा के कर-कमलों में थमा दिया । राजकुमारी ने उस थैला को खोलकर एक-एक वस्तु को देखा । देखते-देखते महाराज श्रेणिक का चित्र भी उनके सामने आया । राजकुमारी सुज्येष्ठा ने उस भव्य चित्र को ध्यानपूर्वक देखा और वह उस चित्र पर पूर्ण मोहित हो गई । किन्तु उस चित्र पर लिखे गए परिचय से राजकुमारी कुछ भी अवगत नहीं हो पायी । अतः वह गुप्त रूप से महामात्य अभय से मिली और उनसे हर प्रकार की जानकारी प्राप्त की । अन्त में महामात्य अभय ने राजकुमारी से अनुरोध किया कि महाराज श्रेणिक इस समय के एक बहुत बड़े राजा हैं, किन्तु वे भगवान् बुद्ध को मानने वाले हैं । अतः आपके पिताजी उनके साथ सम्बन्ध करें, यह बहुत कम संभव है । क्योंकि आपके पिताजी महाराज चेटक भगवान् महावीर के शिष्य हैं । यही कारण है कि वे महाराज श्रेणिक के साथ आपका सम्बन्ध करना नहीं चाहेंगे । यदि आप महाराज श्रेणिक को पतिरूप में स्वीकार करना चाहती हैं तो इसके लिए कोई दूसरे चिन्तन का ही आलम्बन लेना पड़ेगा ।' राजकुमारी सुज्येष्ठा ने महामात्य अभय को अपनी ओर से स्वीकृति देते हुए कहा—'अब कार्य शीघ्रातिशीघ्र सफल हो, ऐसा उपाय करना चाहिए ।'

महामात्य अभय ने तत्काल ही अपने गुप्त कार्यकर्ताओं को आदेश दिया कि महाराज श्रेणिक के महलों से राजकुमारी सुज्येष्ठा के आवासों तक एक सुरंग का निर्माण करना है। महामात्य के आदेश के साथ ही सुरंग का कार्य अत्यन्त तत्परता के साथ प्रारंभ किया गया। जिस कार्य में अनेक दक्ष और चातुर्य्य अग्रणी कार्यकर्ता नियोजित थे उन्होंने थोड़े ही दिनों में सुरंग के कार्य को सम्पन्न कर महामात्य को निवेदन कर दिया। महामात्य अभय ने एक तिथि नियुक्त कर सम्राट् श्रेणिक और राजकुमारी सुज्येष्ठा दोनों को अवगत कर दिया। महाराज श्रेणिक महामात्य अभय के इस कार्य से बड़े ही प्रसन्न हुए एवं निश्चित तिथि के दिन सुज्येष्ठा को प्राप्त करने के लिए प्रस्थान करने की तैयारी में जुट पड़े। इधर सुज्येष्ठा भी बिना किसी आहट के अपनी तैयारी की धुन में जुट गई। उसने अपने सुन्दर वस्त्रों को एक बैग के अन्दर निहित किए। सोने-चांदी और कुछ रत्नजटित आभूषणों को एक सुरक्षित बटुए में संभाल कर रखे। वह हर प्रकार की तैयारी करने में व्यस्त थी कि उसकी छोटी बहन चेल्लना उसके पास आ खड़ी हुई। उसने सुज्येष्ठा के मन को कुछ चंचल देखा एवं अस्त-व्यस्त चीजों को व्यवस्थित करते देखा, तो पूछ लिया—'बहन! आज किधर की तैयारी हो रही है?' सुज्येष्ठा ने देखा उसकी छोटी बहन चेल्लना उसके पास खड़ी-खड़ी उसकी गोपनीय क्रियाओं को निहार रही है। सुज्येष्ठा ने चेल्लना के प्रश्न को पहले तो टालना ही चाहा, किन्तु आखिर में उसने अपनी छोटी बहन चेल्लना के समीप सारे भेद खोल दिए।

चेल्लना ने कहा—'प्यारी बहन! तब तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगी। हम दोनों यहां साथ रह रही हैं, तो वहां ससुराल में भी साथ-साथ ही रहेंगी।' चेल्लना का आग्रह देखा तो सुज्येष्ठा ने उसे साथ में चलने की स्वीकृति दे दी। चेल्लना बड़ी प्रसन्न हुई। वह एक तितली की तरह उछलने लगी। उसने कुछ ही क्षणों में अपनी तैयारी की और बहन के साथ-साथ उस सुरंग के मार्ग से प्रस्थान कर

दिया । दोनों बहनें कुछ ही दूर गई होंगी कि सुज्येष्ठा को स्मरण आया कि वह अपना आभूषणों वाला बटुआ वहीं भूल आई है । उसने अपनी छोटी बहन चेल्लना को सारी स्थिति समझाकर उसे वहां रोका और स्वयं वहां से वापस मुड़ी । चेल्लना उसकी प्रतीक्षा न कर अपने गन्तव्य की ओर बढ़ती रही । इधर महाराज श्रेणिक ने भी समय पर उसी सुरंग मार्ग पर राजगृह से प्रस्थान किया । उनके साथ सुरक्षा के लिए महासती सुलसा के बत्तीसों पुत्र सक्रिय थे ।

महाराज श्रेणिक और उनके आत्म-रक्षक अबाध गति से चले आ रहे थे, रास्ते में चेल्लना से उनका साक्षात् हुआ । महाराज श्रेणिक ने चेल्लना को ही सुज्येष्ठा समझकर उसको लेकर वापस मुड़ गए । इधर पीछे से सुज्येष्ठा अपना बटुआ लेकर आई । उसने देखा चेल्लना नहीं है । उसने जोर-जोर से चिल्लाना प्रारंभ कर दिया । राजकुमारी का चिल्लाना बाहर तक सुनाई दिया । बाहर के लोग भयभीत हो उठे एवं महाराज चेटक की सेना की एक टुकड़ी ने तत्काल ही सुरंग के मार्ग से अन्दर प्रविष्ट होकर स्थिति का मुकाबला किया । सम्राट श्रेणिक राजकुमारी चेल्लना का अपहरण कर लिये जा रहे थे । उन्हें रोका एवं उनके साथ एक भयंकर संघर्ष छिड़ा गया । महासती सुलसा के बत्तीसों पुत्रों ने सम्राट् श्रेणिक की सुरक्षा की और उन्हें सुरंग के मार्ग से पार कर दिया । किन्तु वे बत्तीसों ही बन्धु उसी संघर्ष में काम आ गए ।

सम्राट् श्रेणिक चेल्लना को लेकर राजगृहों के प्रसादों में पहुंचे, तब कहीं उन्हें पता पड़ा कि यह तो सुज्येष्ठा के बदले चेल्लना आ गई । किन्तु अब क्या हो सकता था । अन्त में महाराज श्रेणिक ने चेल्लना के साथ ही विधिवत् धूमधाम के साथ विवाह कर लिया । चेल्लना रूप-रंग से अत्यन्त सुन्दरी थी । वह हर प्रकार से सम्राट् श्रेणिक के मन भाने वाली थी । महाराज श्रेणिक ने पटरानी का पद चेल्लना को ही दिया । वह अब श्रेणिक की पटरानी बनकर बहुत ऊंचे स्थान को प्राप्त हो गई । महाराज श्रेणिक उन्हें बहुत सम्मान देते थे एवं वे प्रायः

महारानी चेल्लना के कहने के अनुसार चलते थे । महारानी चेल्लना इतना सम्मान और सम्राट् का प्रेम प्राप्त करके भी करने भी उदास-उदास रहती थी ।

समय अपनी अवाध गति से चला जा रहा था । महारानी चेल्लना अपनी उसी स्थिति में रह रही थी । एक दिन महाराज श्रेणिक ने उनसे पूछा—'प्रिये ! तुम इतने वड़े देश की पटरानी हो और मेरे जैसा बहुत बड़ा राजा तुम्हें पति के रूप में प्राप्त है फिर भी तुम इस प्रकार उदासीन रहती हो, मैं इसका कारण जानना चाहता हूं ।'

महारानी चेल्लना ने महाराज श्रेणिक से कहा—प्राणप्रिय ! मैं एक जैन धर्मानुयायी परिवार में पली-पुसी महिला हूं । अतएव प्रतिदिन जप-तप करना, अपने इष्ट के प्रति श्रद्धा की भावना व्यक्त करना, यह मेरा दैनिक कार्यक्रम है । उपर्युक्त कार्य करने के पश्चात् ही भोजन करती हूं । रात पड़ने के वाद कभी भी भोजन नहीं करती हूं । मद्य, मांसादि का भोजन नहीं करती हूं । इतना होते हुए भी आपके यहां के लोगों पर कोई असर नहीं । मैं देखती हूं अभी तक यहां के लोगों में वही परिपाटी चलती है । यहां तो कृत्याऽकृत्य, खाद्याऽखाद्य, आर्याऽनार्य, व्यवहार्याऽव्यवहार्य आदि-आदि बातों का कोई विवेक नहीं है, ऐसा जान पड़ता है मानो यह कोई अनार्य लोगों का निवास-स्थान है । मुझे खेद है कि अभी तक आपने भी आखेट करना नहीं छोड़ा । मद्य-मांस का परित्याग करना एक बहुत छोटी बात है किन्तु आपके द्वारा तो इतना-सा परित्याग भी दुर्लभ हो रहा है । मैं समझती हूं, यह त्याग भी आपको महाभारत लगता होगा । प्राणनाथ ! आपके यहां की स्थिति को देखती हूं तो कभी-कभी मुझे रुलाई आ जाती है । प्राणप्रिय ! कौन जानता है यहां षट्द्रव्यों को और कौन समझता है नौ तत्वों को ! कौन समझता है आत्मा के अस्तित्व को और कौन समझता है आत्म सम्बन्धित अन्यान्य बातों को एवं कौन समझता है कर्मों के विषय में प्रकृतिवंध क्या है स्थितिवंध क्या है, और क्या है अनुभाग और

प्रदेशबन्ध । महारानी ने जैन धर्म के विषय में अत्यन्त विशद व्याख्या के साथ एक अच्छा वक्तव्य दे डाला । सम्राट् श्रेणिक महारानी के मुख से वक्तव्य सुनकर चकित रह गये । उनका जैन धर्म के प्रति आकर्षण बढ़ गया एवं सोचने लगे कि बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म बहुत गहरा और आदरणीय है ।

महाराज श्रेणिक बौद्ध क्यों ?

सम्राट् श्रेणिक इतने विद्वान् और समझदार होकर भी बौद्ध धर्म के अनुयायी क्यों थे ? महाराज प्रसेनजित् ने अपनी सबसे छोटी रानी कलावती के पुत्र को राज्याभिषेक करने की प्रतिज्ञा की थी । महाराज प्रसेनजित् के सौ पुत्र थे, किन्तु उनमें सर्वगुण सम्पन्न श्रेणिक ही गिना जाता था । उसकी विद्यमानता में दूसरों को राज्याभिषेक करना किसी भी स्थिति में उचित नहीं लगता था । इधर महाराज प्रसेनजित् का अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना भी औचित्य को पुकार रहा था । अतएव उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए ही एक बार राजकुमार श्रेणिक को देश से निर्वासित कर दिया था । राजकुमार श्रेणिक देश से निर्वासित होने का आदेश प्राप्त कर राजगृही से बाहर निकल गया और अन्यान्य जनपदों में भ्रमण करने लगा । उस समय एक बार उन्हें बौद्ध मिले, उन्होंने इनका आकार-प्रकार देखकर निवेदन किया कि तुम थोड़े समय के बाद मगध देश के सम्राट् बनोगे । आपके विपत्ति के दिन अब थोड़े ही अवशेष रह गये हैं । उस समय श्रेणिक ने प्रसन्न होकर उनसे कहा था कि भगवन् ! अगर मैं राजगृही का सम्राट् बना तो आपको अवश्य ही राजगुरु की गद्दी पर आसीन करूंगा । अवसर प्राप्त हुआ और राजकुमार श्रेणिक को मगध का राज्य मिला, राजकुमार श्रेणिक अब एक महान सम्राट् बन गए थे । वचनबद्ध होने के कारण भविष्यवाणी करने वाले उस बौद्ध भिक्षु को सम्मानित कर सम्राट् श्रेणिक ने राजगुरु के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया और स्वयं बौद्ध धर्म के

अनुयायी बन गये। एक बार महाराज श्रेणिक ने अपने धर्मगुरु को अपने राजमंदिरों में आमंत्रित किया। उनके स्वागत के लिए अनेक प्रकार की तैयारियां प्रारंभ की गईं। बौद्ध धर्मानुयायी अपने मन में बांसों उछल रहे थे।

महारानी चेल्लना ने महाराज श्रेणिक से पूछा—'प्राणप्रिय! हिंसा से परिपूर्ण खाद्य सामग्री और विभिन्न प्रकार के वाद्य एवं संगीत यह सब किसलिए किये जा रहे हैं? इतना बड़ा आरंभ-समारंभ क्यों हो रहा है? मैं इस विषय में कुछ समझ नहीं पा रही हूं।'

महाराज श्रेणिक ने महारानी को समझाते हुए कहा—'भद्रे! अपने राजप्रासादों में आज राजगुरु पधार रहे हैं। उनके स्वागतार्थ यह सब किया जा रहा है। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम भी वहां चलो और गुरुदेव के दर्शनों का लाभ लो।'

महारानी ने प्रतिप्रश्न करते हुए महाराज से पूछा—'प्राणेश्वर! क्या वे आपके मित्र परिजन हैं या कोई राजकीय अथिति हैं?'

महाराज श्रेणिक ने उत्तर देते हुए कहा—'नहीं प्रिये! वे महान भिक्षु हैं और मेरे धर्म-गुरु हैं।'

महारानी ने आश्चर्यचकित होकर कहा—'ओ हो! आपके धर्म-गुरु हैं और उनके लिए इतना आरंभ-समारंभ! एक त्यागी पुरुष के लिए इतना आडम्बर! मुझे तो यह बड़ा ही अटपटा लग रहा है। मित्र-स्वजनों की तरह आमंत्रित होकर राजप्रासादों में इस प्रकार भोजन करने के लिए आना और फिर भी साधुता की डींगें मारना, यह कहां तक उचित है? मेरे विचारों से ऐसे लोगों को साधु कहना, एक प्रकार से बुद्धि का दिवालियापन है। प्राणेश्वर! क्षमा करना ऐसे धर्म-गुरुओं के प्रति मेरे मन में कोई स्थान नहीं है। आपसे भी अनुरोध करती हूं कि हम त्यागी, तपस्वी एवं जो निस्पृह हैं उन्हीं साधुओं को गुरुओं की कोटि में ग्रहण करें। मैं आपसे ठीक अनुरोध करती हूं कि मैं तो ऐसे ही मुनिजनों की उपासिका हूं।

अब महाराज श्रेणिक निरुत्तर थे । उनके पास महारानी की तर्कों का कोई जवाब नहीं था । अतः वे चुप-चाप खड़े रह गए । किन्तु वे मन ही मन सोच रहे थे कि जब तक महारानी के हृदय में जैन मुनियों के प्रति घृणा व अश्रद्धा पैदा नहीं होती, तब तक यह मेरे धर्म की अनुयायी नहीं बन सकती । महाराज श्रेणिक ने इस प्रकार चिन्तन किया एवं उन्होंने जैन मुनियों की अवहेलना हो, इसके लिए कई योजनाएं बनायीं । किन्तु उन्हें किसी भी योजना में सफलता प्राप्त नहीं हो पायी । फिर भी महाराज श्रेणिक की यह अभिलाषा बनी रहती थी कि किसी भी प्रकार से महारानी का मन जैन मुनियों से हटे ।

प्रतिमाधारी मुनि का आगमन

एक दिन एक प्रतिमाधारी मुनि महाराज श्रेणिक के राजप्रासादों में भिक्षार्थ आए । महाराज श्रेणिक की दृष्टि उन पर पड़ी । उन्होंने तत्काल ही अपने अनुचरों को आदेश दिया कि एक गहरा गर्त खोदकर उसमें एक गर्भवती बकरी बांध दी जाए और ऊपर से बंद कर उस पर एक आसन लगा दिया जाए । इस प्रकार तैयारी होने के पश्चात् महाराज श्रेणिक ने प्रतिमाधारी मुनि से उस आसन पर बैठने के लिए निवेदन किया ।

प्रतिमाधारी मुनि ने महाराज श्रेणिक से कहा – 'राजन् ! इसके नीचे जो गर्त है उस गर्त में तीन पंचेन्द्रिय प्राणी छिपे हुए हैं, उनके ऊपर मैं कैसे बैठ सकता हूं ?'

महाराज श्रेणिक ने मुनि को सम्बोधित करते हुए कहा—'महाराज, आप मिथ्या बोल रहे हैं । कहां हैं इसके अन्दर तीन पंचेन्द्रिय प्राणी ?' महाराज श्रेणिक का आदेश प्राप्त कर तत्काल ही उस गर्त की छत को हटाया गया और देखा उसमें एक बकरी और दो उसके बच्चे । उस गर्त में तीन पंचेन्द्रिय प्राणी थे । मुनि के ज्ञान का चमत्कार देखकर महाराज श्रेणिक जैन-धर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके ।

तीन अंगुलियां और चेल्लना

एक बार महाराज श्रेणिक अपने राजप्रासाद के झरोखे में बैठे हुए महारानी से राज्य सम्बन्धी कुछ परामर्श कर रहे थे, कि इतने में वहां एक मुनि आ निकले। महारानी चेल्लना ने उन्हें तीन अंगुलियां दिखाई। मुनि ने वापस दो अंगुलियां दिखाई एवं महारानी का संकेत प्राप्त कर चले गए। थोड़ी देर पश्चात् एक-एक कर दो मुनि फिर आए। महारानी चेल्लना ने उनको भी इसी प्रकार से तीन अंगुलियां दिखलाई और फिर महारानी चेल्लना के हाथ का इशारा पाकर वहां से वापस लौट गये। महाराज श्रेणिक को महारानी चेल्लना का यह व्यवहार अनुचित प्रतीत हुआ। उन्होंने महारानी से पूछा—'प्रिये ! यदि तुम बुरा न मानो तो एक बात पूछना चाहता हूं।'

महारानी ने कहा—'क्यों नहीं, अवश्य पूछिये।' महाराज श्रेणिक ने कहा—'प्रिये ! इन साधुओं से तुमने सांकेतिक भाषा में क्या बातें कीं, मुझे समझाने का कष्ट करो।'

महारानी ने कहा—'प्रिय ! आप उन्हीं के पास जाएं और समाधान प्राप्त करें।' महाराज श्रेणिक मुनियों के निकट पहुंचे, एवं नम्रतापूर्वक महारानी वाली बात पूछी। इस पर मुनिजनों का एक ही उत्तर था कि महारानी ने तीन अंगुलियां ऊंची कर हमसे यह पूछा था, कि क्या आपकी तीनों गुप्तियां अखण्ड हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमने दो अंगुलियों का संकेत कर महारानी से निवेदन किया था कि हमारी दो-दो गुप्तियां ही अखण्ड हैं। महाराज श्रेणिक ने मुनिजनों से कहा—'मुनिवरो ! यदि किसी प्रकार की अड़चन न हो तो मैं इस रहस्य को स्पष्ट रूप से सुनना चाहता हूं कि आपकी किस प्रकार और कौन-सी एक खण्डित गुप्ति है ?'

पहले मुनि ने कहा—'राजन् ! मैं तिलकपुर नगर के लक्ष्मीपति सेठ का पुत्र हूं। पूर्ण युवावस्था में घर-गृहस्थी को त्यागकर दीक्षित हुआ और घोर तपस्या करने में लीन हो गया। भगवन् ! एक दिन मैं अपने

देश के महात्मा के घर पर भिक्षा के लिए पहुंचा । महात्मा की पत्नी मुझे भिक्षा दे रही थी, उस समय मेरी दृष्टि उसके पैरों पर पड़ी । उन पैरों को देखते समय मुझे अपनी पत्नी के उन सुन्दर पैरों का स्मरण हो आया । राजन् ! मैं उसे मनोगुप्ति का खण्डित होना मानता हूं और आज तक उसका पश्चात्ताप कर रहा हूं ।' सम्राट् श्रेणिक ने दूसरे नम्बर के मुनि से भी प्रश्न प्रस्तुत किया । मुनि ने कहा—'राजन् ! एक दिन मैं तिलकपुर के एक देवालय के पास ध्यान करके खड़ा था । मेरे आस-पास ही कुछ बच्चे गेंद खेलने के आनन्द में अपने आपको भूल-से रहे थे । दूसरी ओर एक शत्रु राजा की सेना स्थानीय राजा के साथ युद्ध की तैयारी में खड़ी थी एवं राजा शुभ शकुन की प्रतीक्षा कर रहा था । इधर बच्चों ने खेल प्रारंभ किया कि उनकी गेंद उछलकर मेरे पैरों पर आ गिरी । इस स्थिति को देखकर बच्चे सब रो उठे और वे भयभीत हो गए । तब मेरे मुंह से सहसा ये शब्द निकल पड़े—'बच्चे ! भय मत करो, भय खाने जैसी कोई बात नहीं है ।' राजा ने मेरे इन शब्दों को शुभ शकुन मानकर अपने शत्रु पर हमला कर दिया एवं भारी नर-संहार के साथ उसकी विजय हुई । नरपते ! मेरे इन शब्दों के कारण लाखों मनुष्य मारे गए अगर हम वस्तुस्थिति को देखें तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह सारा नर-संहार मेरी वचन-गुप्ति की स्खलना के कारण ही हुआ है । यह बात आज भी मेरे अन्दर एक कांटे की तरह चुभ रही है ।

'भगवन् ! महारानी को मैंने दो अंगुलियों का निर्देश कर यही बात बताने का प्रयत्न किया था कि मेरी वचन-गुप्ति को छोड़कर दो गुप्तियां अखण्ड हैं ।'

तीसरे नम्बर वाले मुनि से भी महाराज श्रेणिक ने विनम्रता के साथ श्रद्धा प्रस्तुत की और कहा कि आपको किसी प्रकार की आपत्ति न हो तो मैं यह जानना चाहता हूं कि आपकी कौन-सी गुप्ति खंडित है और

किस प्रकार से खण्डित हुई ?

महर्षि मणिमाल ने सम्राट् श्रेणिक को बताया कि उसकी काय-गुप्ति एक बार खण्डित हो गई थी । 'एक दिन मैं श्मसान में सोया-सोया ध्यान कर रहा था । वह भाद्रपद का महीना था । उन दिन अमावस्या की अंधेरी रात थी । बादलों के जमघट के कारण वह और भी गहरी गंभीर हो रही थी । उस अंधेरे में हाथ को हाथ दिखलाई नहीं दे रहा था । एस समय एक कापालिक बैतालिक विद्या साधने के लिए पायस पकाने की सोची । उस गहरे अंधेरे में वह इधर-उधर से ढूंढ़कर दो पत्थर लाया और तीसरे पत्थर के स्थान पर उसने मेरे सिर को ही पत्थर मानकर उन दोनों पत्थरों के साथ जोड़ दिया । इस प्रकार उसने काम चलाऊ चूल्हा बनाया और खीर पकाने के लिए ज्योंही उसने आग धुकाई कि मेरा सिर भी साथ-साथ पकने लगा । उस समय मुझे एक खंधक मुनि और गजसुकुमाल मुनि का स्मरण हो आया । उनकी सहिष्णुता मेरे कण-कण को धृति की प्रेरणा कर रही थी । मैं उस स्थिति में बहुत समय तक स्थिरता से उस पत्थरों का साथ देता रहा, किन्तु अन्त में मेरा मानस उठने के लिए विवश हो ही उठा । मैं उन पत्थरों का साथ नहीं दे सका और तत्काल ही अपना सिर हटा लिया । बस फिर क्या था जैसे ही सिर हटाया कि पायस का पात्र चूल्हे में लुढ़क गया और कापालिक भयभीत होकर उस स्थान को छोड़कर नौ-दो ग्यारह कर गया । इसका मुझे बहुत बड़ा पश्चात्ताप हुआ । इस प्रकार से काय-गुप्ति की विराधना कर मैंने बहुत बड़ी गलती की । राजन् ! अपनी इस दुर्बलता को प्रकट करने के लिए मैंने महारानी के सम्मुख दो अंगुलियां ऊंची की थीं, एवं उन्होंने मुझे संकेत के द्वारा ही वापस लौट जाने को कहा ।'

सम्राट् ! श्रेणिक ने तीनों मुनियों के मुख से तीनों गुप्तियों के पृथक्-पृथक् उदाहरण सुने । महाराज श्रेणिक तीनों सन्तों की घटनाओं

से आश्चर्यचकित थे । तीनों मुनिजनों की सरलता-ऋृजुता के लिए मुग्ध थे । कारण कि यदि वे चाहते तो एक गुप्ति खण्डित है, इतने से ही काम चला सकते थे किन्तु उन्होंने गुप्तियों के नामों का उल्लेख किया । महाराज श्रेणिक उन संतों की आत्मार्थिता और ऋृजुता को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुए और सोचने लगे कि अगर कोई सच्चे साधु हैं तो यही हैं । मैं तो इन वेशधारियों के मिथ्या जाल में फंसकर व्यर्थ ही अपना जीवन खो रहा हूं । अच्छा हो कि मैं जैन बन जाऊं । किन्तु धर्म-परिवर्तन करना भी ठीक नहीं । जब लोगों के सामने यह बात आएगी तो लोग मुझे क्या कहेंगे । बस चिन्ता है तो इसी बात की कि देश के लोगों पर इस स्थिति का क्या प्रभाव होगा । किन्तु क्रम से देखा गया, राजा श्रेणिक का मन जैन-धर्म की ओर झुकता जा रहा था उनके दिल में जैन-धर्म के प्रति अनुराग होने लगा था । महाराज श्रेणिक अपने राजमंदिरों की ओर बढ़े और अपने कक्ष में पहुंचकर महारानी चेल्लना को अपनी सारी कहानी सुनाई । उन्होंने मुनियों की मुक्त कण्ठों से प्रशंसा की । महारानी चेल्लना ने सारी स्थिति ध्यानपूर्वक सुनी और महाराज श्रेणिक से निवेदन किया कि प्रभो ! यदि जैन-धर्म ही सच्चा है तो उसे अविलम्ब अपना लेना चाहिए । महाराज श्रेणिक ने कहा—'कोई भी काम हो उसे कुछ समय तक तो सोच-समझकर करना चाहिए । अतिशीघ्रता से कभी-कभी कार्य बिगड़ भी सकते हैं ।'

महाराज श्रेणिक ने जैन मत स्वीकारा

एक बार महाराज श्रेणिक राजगृही के बाहर मंडिकुक्षि नाम के उद्यान में घूमने के लिए गए । वे उस उद्यान में स्वेच्छानुसार घूम रहे थे कि उन्हें एक चकमा देने वाली वस्तु दिखाई दी । उन्हें वह वस्तु कोई वन्य पशु के रूप में दिखाई दे रही थी । किन्तु वे ज्योंही उस वस्तु के निकट पहुंचे तो देखा कि जैन मुनि ध्यानस्थ होकर खड़े हैं । मुनि की वह चढ़ती आयु और अत्यन्त सुन्दर आकृति देखते ही बनती थी । मुनि ने

ध्यान समाप्त किया और महाराज श्रेणिक ने तत्क्षण ही दोनों हाथ जोड़े एवं मस्तक नीचे झुकाकर वन्दन किया ।

महाराज श्रेणिक ने मुनि से अनुरोध किया—'भगवन् ! आप और यह कठोर चर्या ! यह आपको किसने बतलाई ? अभी तो आपकी भोग की वय है न कि योग की । लगता है आपने किसी की बात में आकर यह बाना पहन लिया है । अन्यथा तो यह बात बिल्कुल जंचती ही नहीं ।'

मुनि ने महाराज श्रेणिक की बात का प्रत्युत्तर देते हुए कहा—'महाराज ! मेरे कोई नाथ नहीं था, इसलिए मैंने यह कार्य किया है ।

आप तो विज्ञ हैं । जब कोई दूसरा त्राण नहीं हो तो धर्म ही त्राण होता है । अतः आप ही कहें इसके अतिरिक्त और कर ही क्या सकता था ।'

महाराज श्रेणिक ने समझा, सम्भवतः इनके कोई संरक्षक नहीं था । अतएव इन्होंने इस रास्ते को चुना है । महाराज श्रेणिक ने तत्काल कहा—'महाराज, आपके कोई स्वामी नहीं है, इसलिए यदि आपने यह योग स्वीकार किया है तो लीजिये, मैं आपका स्वामी व नाथ बनता हूं, आप मेरे आवास पर चलिए और मनचाही सुख-सुविधाओं का उपभोग करिए । मुने ! मैं कोई साधारण व्यक्ति नहीं हूं, मैं मगध देश का राजा हूं । आप आएं और मेरी गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में आनन्द के साथ भौतिक सुखों का आनन्द उठायें ।'

मुनि ने महाराज श्रेणिक की बात सुनी एवं उनसे अपने विचार निवेदन किये । उन्होंने कहा—'राजन् यह बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं और वैभव आदि की मेरे घर में भी कोई कमी नहीं थी । दास-दासी अनुचारों की कोई कमी नहीं थी । मेरा परिवार भी भरा-पूरा था । महाराज ! एक दिन की एक घटना मैं आपके सम्मुख निवेदन करता

हूं । एक दिन संध्या के समय मेरी आंखों में वेदना उठी । उस भयंकर वेदना के विषय में मैं ही समझता हूं । दूसरों को क्या पता, कहा भी है जिसके पैर न फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई, मेरी उस आंख की वेदना के लिए मेरे माता-पिता ने पानी की तरह पैसे बहाए मेरी भगिनी, भानजी, बुआ, दादी, नानी आदि ने देवताओं की मनौतियों में सहस्त्रों का खर्च किया, किन्तु कुछ भी कर नहीं पायीं । भगवान् ! मैंने देखा कि वह रात मेरे लिए महान भयंकर बनती जा रही थी । किन्तु इतना करके भी मेरे परिवार वाले, मेरे घर वाले कोई मेरी वेदना को शांत नहीं कर सकें । राजन् ! मैंने यह निश्चित रूप से अनुभूति की कि कुटुम्ब-परिवार और धन-सम्पति से कोई भी जन्म, जरा और मृत्यु के दुःखों से नहीं बचा सकता ।

'राजन् ! इस विषय में तुम्हारी भी तो यही स्थिति है । क्या यह धन, यौवन और बल मृत्यु से आपकी रक्षा कर सकेंगे ?'

मुनि के इस रहस्य भरे उत्तर ने महाराज श्रेणिक के हृदय को झकझोर डाला और उनके अन्तर नेत्र खुल गये । वे एक फलों से लदे हुए वृक्ष की तरह मुनि के सम्मुख झुक गये और पूर्ण श्रद्धा के साथ मुनि के चरणों में बैठ गए एवं धर्म का रहस्य समझाने में व्यग्र हो उठे । गंभीर चर्चा करने के पश्चात् मुनि ने महाराज श्रेणिक को धर्म का मर्म समझाया ।

तत्त्व समझने के पश्चात् महाराज श्रेणिक ने जैन-धर्म स्वीकार किया, सच्चा धर्म प्राप्त कर वे अपने-आपको कृत-कृत्य एवं परम सौभाग्यशाली समझने लगे । महाराज श्रेणिक भगवान महावीर के सच्चे श्रद्धालु भक्त बन गए । वे भगवान महावीर के श्रद्धायुक्त सम्यक्त्वी श्रावक थे । महाराज श्रेणिक ने भगवान महावीर की विशुद्ध भावना से सेवा की, उन्होंने सेवा के द्वारा तीर्थंकार गोत्र का उपार्जन किया । वे बड़े दृढ़धर्मी थे । एक बार देवता भी उनकी परीक्षा करने आये, किन्तु महाराज

श्रेणिक हर प्रकार से उत्तीर्ण रहे । वे आगामी होने वाले तीर्थंकरों में पद्मनाभ नाम के तीर्थंकर बनेंगे ।

एक बार महारानी चेल्लना सर्दी की ऋतु में भगवान महावीर के दर्शन कर वापस लौट रही थीं, उन्होंने मार्ग में एक मुनि को देखा, जो एक वृक्ष के नीचे सर्दी में बाहर ध्यानस्थ खड़े थे । उस स्थिति में मुनि को निहार कर महारानी चेल्लना बहुत प्रभावित हुईं, वे सोच रही थीं कि हम बड़े-बड़े गद्दे और दो-दो, तीन-तीन रजाइयों से लिपटे रहते हैं, फिर भी हमारी सर्दी दूर नहीं होती । धन्य है, मुनिराज को, जो इस कड़कड़ाती सर्दी में भी ध्यानस्थ, बिल्कुल स्थिरता के साथ खड़े हैं । इस प्रकार मुनि के मनोबल की प्रशंसा करती हुई वह अपने निवास-स्थान पर पहुंची ।

'रात्री के समय जब महाराज श्रेणिक और महारानी चेल्लना अपनी शय्या पर सो रहे थे, उस समय महारानी चेल्लना का एक हाथ नींद में रजाई से बाहर निकल गया, जब सर्दी से हाथ ठंडा हुआ तो उनकी नींद टूट गई और सहसा उन्हें ध्यानस्थ मुनि की याद आई और उनके मुंह से सहसा ये शब्द निकल पड़े कि, 'वे क्या करते होंगे ?

उसी समय अकस्मात् महाराज श्रेणिक की नींद भी टूट गई और उन्होंने महारानी के मुंह से उपर्युक्त शब्द सुने । अरे ! यह क्या मेरी रानी इस प्रकार पर-पुरुष के विषय में चिन्ता करती है, और वह भी मेरी उपस्थिति में । लगता है यह किसी अन्य पुरुष से अनुचित सम्बन्ध रखती है । वास्तव में देखता हूं यह यथार्थ सोना न होकर नकली सोना निकला, भला ! जिसके लिए मैं प्राण न्योछावर करता हूं, वह रानी मेरे से इस प्रकार की छलना करे ! धिक्कार है, मुझे ! और धिक्कार है इसे !

सवेरा होते-होते महाराज श्रेणिक ने महामात्य अभय को याद किया, और आदेश दिया कि शीघ्रातिशीघ्र महारानी चेल्लना के महल

आग की लपटों में जला दिये जाएं, इस प्रकार महामात्य अभय को निर्देश कर महाराज श्रेणिक भगवान महावीर के दर्शन करने के लिए चले गए । महामात्य अभय कुमार अत्यंत बुद्धि सम्पन्न थे । उन्होंने महल के चारों ओर घास-फूस के ढेरे लगा दिये और उनमें आग सुलगी दी । ज्योंही धुआं उठा, महारानी चेल्लना के महल और धुआं एकाकार के रूप में प्रतीत होने लगे । महाराज श्रेणिक की सवारी धीरे-धीरे चलती-चलती भगवान महावीर के समवसरण में पहुंची । महाराज श्रेणिक ने देखा भगवान् महावीर अशोक वृक्ष के नीचे स्फटिक सिंहासन पर विराजित थे । भगवान उस समय साधु-साध्विओं, श्रावक-श्राविकाओं, देवता-देवांगनाओं और तिर्यंच-तिर्यंचनियों आदि से चारों ओर से वेष्टित थे ।

भगवान महावीर ने अपने प्रवचन में प्रकरणवश फरमाया कि महारानी चेल्लना पतिव्रता एवं सच्ची सती है । चेल्लना ही नहीं, महाराज चेटक की सातों की सातों पुत्रियां पतिव्रता व सच्ची सती हैं । महाराज श्रेणिक को उन्होंने संबोधित करते हुए कहा कि महासती चेल्लना के प्रति तुम्हारा संदेह मिथ्या है । उन्होंने 'वे क्या करते होंगे' इस वचन का रहस्योद्घाटन कर महाराज श्रेणिक को निशंकित कर दिया । सारी बातें सुन लेने के बाद महाराज श्रेणिक की चेतना थोड़ी देर के लिए तो विलुप्त-सी हो गई । वे तत्काल ही बाहर की ओर दौड़े । उन्हें दूर से ही महारानी चेल्लना के महल जलते हुए नजर आए । वे शीघ्रातिशीघ्र शहर में पहुंचने का प्रयत्न कर रहे थे । किन्तु बीच में ही उन्हें महामात्य अभय से साक्षात हो गया ।

महाराज श्रेणिक ने कहा—'अभय ! आज तो अनर्थ हो गया ।'

अभय—'कैसे, महाराज !'

श्रेणिक—अरे ! चेल्लना के महलों में तुमने आग लगी दी ।'

अभय—'यह तो आपके निर्देश से ही लगाई थी, महाराज !

श्रेणिक—'बस ! बस ! अभय ! यह तो अनर्थ हुआ है, मैंने चेल्लना को असती समझ रखा था ।'

अभय—'तो फिर !'

श्रेणिक—'तो फिर क्या, भगवान महावीर ने अपने प्रवचन में चेल्लना को सच्ची पतिव्रता एवं सती बतलाया है ।'

महाराज श्रेणिक और महामात्य अभयकुमार इस प्रकार बातें करते-करते महारानी चेल्लना के आवासों तक पहुंच गये और वहां की स्थिति देखकर महाराज श्रेणिक आनन्द की लहरों में डूब गए । महाराज श्रेणिक ने महमात्य अभयकुमार के इस कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

महाराज श्रेणिक अन्तःपुर में गए और महारानी चेल्लना के कक्ष में पहुंचे । महारानी चेल्लना ने उनसे अपने महलों के बगल में हुए अग्निकाण्ड के विषय में चर्चा की । अपनी विषय की इस बात पर महारानी को काफी खेद हुआ । महाराज श्रेणिक ने इस बात के लिए बहुत-बहुत क्षमा-याचना की । चेल्लना ने महाराज श्रेणिक से निवेदन किया—'प्राणप्रिय ! इसमें आपकी क्या गलती है । यह तो मेरे ही दुष्कर्मों के कारण हुआ है । इस घटना के लिए आपको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं । यह तो बहुत छोटी बात है, न जाने हमारे जीवन में इससे भी बड़ी-बड़ी कितनी घटनाएं घटी होंगी जो कि वर्तमान में हमें स्मरण नहीं है । हृदय-वल्लभ ! मेरा आपसे निवेदन है कि आप आश्वस्त रहें । आप और मैं भगवान महावीर की वाणी पर एकनिष्ठ बनकर अपना कल्याण करें ।

चेल्लना कितनी गहरी

चेल्लना का गहरापन और सहिष्णुता को देखकर महाराज श्रेणिक अत्यंत प्रसन्न हुए । वे गद्गद हो उठे । उन्होंने महारानी को बहुत-बहुत

साधुवाद और धन्यवाद किया—'प्राणप्रिये ! धन्य है तुम्हारी वाणी और धन्य है तुम्हारा धार्मिक जीवन ।

महारानी चेल्लना का आंगन तो भरा-भरा रहता है उसके महलों में बच्चों की किलकारियां होती रहती हैं, महारानी चेल्लना के चार पुत्र हुए—कोणिक, विहल्ल, विहायस और नंदीषेण—ये सब इन चार नामों से पुकारे जाते थे । क्रमशः पढ़-लिखकर उन्होंने योग्यता प्राप्त की एवं हर प्रकार के कार्य करने में सक्षम बने, कोणिक का अपने पिता महाराज श्रेणिक से पूर्व जन्म का वैर था । अतः उस कारण से कोणिक अपने विमातृज काली आदि दस भाईयों से मिलकर सत्तर वर्ष की आयु में अपने पिता महाराज श्रेणिक को हथकड़ी और बेड़ी पहनाकर कारागृह में बंद कर दिया । पिता को कारागृह में बन्दकर वह स्वयं राजगृही का अधिनायक बन गया । इस घटना से महाराज श्रेणिक को अत्यंत खेद हुआ ।

घमासान युद्ध और नर-संहार

महाराज श्रेणिक ने अपना दिव्य हार और सेचनक नाम का गंधहस्ती—ये दोनों वस्तुएं विहल्ल कुमार को दी थीं । उनकी मृत्यु के पश्चात् वे दोनों वस्तुएं महाराज कोणिक ने अपने भाई विहल्ल कुमार से चाही, किन्तु विहल्ल कुमार इनकार कर गया । वह अपने भाई कोणिक से भयभीत होकर अपने नाना महाराजा चेटक के पास पहुंचा । कोणिक सरलता से मानने वाला नहीं था । उसने शकेन्द्र और धरणेन्द्र की सहायता से महाराज चेटक के साथ भीषण युद्ध प्रारम्भ किया । उस समय दो दिन के युद्ध में एक करोड़ अस्सी लाख मनुष्य मौत के मुंह में चले गए । इस युद्ध में कोणिक विजयी बना, और महाराज चेटक की हार हुई । उस स्थिति में महाराज चेटक का मन विरक्ति से परिपूर्ण हो उठा । उन्होंने अनशन कर बारहवां स्वर्ग प्राप्त किया । दिव्य हार देवता लोग अपने स्थान पर ले गए एवं सेचनक हस्ती किसी भयंकर आग की चपेट

में जलकर भस्म हो गया । महाराज कोणिक इस जादुई खेल को देखते ही रह गए, अन्त में वे राज्य लोभ की चपेट खाकर छठी नरक में उत्पन्न हुए । महारानी चेल्लना के दूसरे पुत्र विहल्ल कुमार थे । उन्होंने दीक्षा ग्रहण की एवं मुक्ति धाम सिधार गये । तीसरे पुत्र विहायस कुमार भी भगवान महावीर के शिष्य बन गए एवं बारह वर्ष तक संयम पर्याय में रहकर विजय विमान में उत्पन्न हुए । आगे चलकर यह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धावस्था को प्राप्त करेंगे ।

नंदीषेण वेश्या के घर

नन्दीषेण महारानी चेल्लना के चौथे पुत्र थे । शासन देवी के निषिद्ध करने पर भी उन्होंने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की । उन्होंने प्रारम्भ से ही अपने जीवन में तपस्या को स्थान दिया । विभिन्न प्रकार की तपस्या को अपनाकर उन्होंने अनेक प्रकार की लब्धियां प्राप्त कीं । केवल लब्धियां ही नहीं, उनकी आत्मा में एक ज्ञान का निधान था । एक दिन वे भिक्षा के लिए शहर की गलियों और कूचों में घूमते हुए एक वेश्या के घर में प्रविष्ट हो गए । निकाचित्त भोगावली कर्मों के उदय से उस वेश्या पर मोहित होकर संयम भ्रष्ट हो गए एवं उस वेश्या के साथ ही रहने लगे । किन्तु जिस दिन से वेश्या के घर निवास करने लगे उस दिन से उन्होंने एक प्रण ग्रहण किया था कि वह प्रतिदिन दस व्यक्तियों को तत्त्व-बोध देकर ही भोजन करेंगे । इस प्रण का पालन करते हुए उसके बारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे । इधर उसके वे भोगावली कर्म भी प्रायः समाप्त हो चुके थे । एक दिन उन्होंने नौ व्यक्तियों को तो तत्त्व प्रबुद्ध बना दिये । दसवां व्यक्ति एक सोनी का लड़का था, उसको बहुत समझाने पर भी नहीं समझ रहा था । प्रत्युत्तर में कह रहा था कि पहले स्वयं तो समझो । स्वयं तो इस वेश्या के जाल में फंसे पड़े हो और दूसरों को प्रबुद्ध बनाने जा रहे हो । यह तो 'पर उपदेश, कुशल बहुतेरे' वाली बात हुई । स्वयं तो बंधे हुए हो और दूसरों को मुक्त करने की डींगें हांक रहे हो ।

फिर भी नन्दीषेण उस व्यक्ति पर प्रयत्न करता ही रहा । इधर वेश्या ने अपनी रसोई बनाई और नन्दीषेण को भोजन के लिए आह्वान करते हुए कहा—'छोड़िये इसको भोजन ठंडा हो रहा है । नौ को तो तत्त्व प्रबुद्ध बना ही दिया, दसवां अपने आपको मान लीजिये एवं चलकर शीघ्र ही भोजन करें ।' वेश्या का यह वाक्य उनके तीर-सा लगा और नन्दीषेण ने प्रतिबुद्ध होकर तत्काल ही दीक्षा ग्रहण कर क्रमशः अपना आत्म-कल्याण किया ।

महारानी चेल्लना की मुक्ति

कोणिक राज्याभिषेक के पश्चात् अपनी मां महारानी चेल्लना के पास आशीर्वाद लेने के लिए आया । किन्तु महारानी चेल्लना ने मुंह फेर लिया । कारण स्पष्ट था कोणिक अपने पिता को कारागृह में बन्दी बनाकर स्वयं राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होकर आया था । चेल्लना को यह कैसे सहन हो सकता था ।

उसने कोणिक से कहा—'जा, चला जा मेरे सामने से, मुझे मुंह दिखाने आया है । तुझे शर्म आनी चाहिए, पिता को कारागृह में वन्दी बनाकर आशीर्वाद लेने आया है । धिक्कार है तुझे ! नीच-कर्मी जिस पिता की गोद में पला-पुसा और इतना बड़ा हुआ उसी पिता को कारागृह में बन्दी बनाया, और मेरे पास अब आशीर्वाद लेने आया है । मैं समझती हूं अगर तू मेरी कोख से जन्म ही नहीं लेता तो और अच्छा होता ।' महारानी चेल्लना ने उसे काफी डांटा और फटकारा । कोणिक उसी पैरों कारागृह की ओर दौड़ा किन्तु देखा कारागृह में ताला लगा है । महाराज कोणिक ने ताले को तोड़ने की कोशिश की । किन्तु निष्फल, अन्दर महाराज श्रेणिक ने जब बाहर की खड़खड़ाहट सुनी तो उन्हें संदेह हुआ कि अब कोणिक मुझे मौत के घाट उतारने आया है । इस कायर के हाथ मरने से तो आत्महत्या करना अच्छा है । ऐसा सोचकर महाराज श्रेणिक ने मोहरे वाली मुंदरी जो अपनी

अंगुली में पहनी हुई थी, उसे अंगुली से निकालकर उन्होंने अपने मुंह डाली कि तत्काल ही उनका स्वर्गवास हो गया ।

महारानी चेल्लना ने जब ये समाचार सुनें तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ । व्यक्ति कितना स्वार्थी होता है । स्वार्थ की तुलना में उसके सामने माता-पिता, भाई-बन्धु सब गौण हो जाते हैं । स्वार्थप्रिय व्यक्ति कितना निस्पृह और क्रूर होता है । उसका उदाहरण महारानी के सम्मुख था । उनका अन्तःकरण वैराग्य से भर गया । इस घटना से उन्होंने अपने आपको साधना की ओर अग्रसर किया । अनेक प्रकार के त्याग-तपस्या पर बढ़ते-बढ़ते उन्होंने अपने शरीर को पूर्ण रूप से साध लिया, अन्त में उन्होंने चारित्र ग्रहण कर अपने आपको स्वध्याय और ध्यान के ढांचे में डाला । इस प्रकार महासती चेल्लना ने कर्म शत्रुओं का सर्वथा विनाश कर सदा-सदा के लिए जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त हो गई । महासती चेल्लना के जीवन से अनेक प्रकार के सद्गुणों की शिक्षा प्राप्त होती है । ऐसे व्यक्तियों के जीवन-प्रसंगों से ही लोग संयमी और सच्चरित्री बन सकते हैं ।

महासती अंजना

महेन्द्रपुर महाराज महेन्द्र की राजधानी थी । यह छोटा-सा नगर एक नक्षत्र की तरह चमक रहा था । इसके चारों ओर बाग-बगीचों की अद्भुत छटा थी । इसकी सजावट अन्दर से अत्यन्त सुन्दर ढंग से की गई थी । इसकी प्रत्येक गली के मकान एक ही रूपरंग के बने हुए थे । ऐसा लगता था मानो किसी कारीगर ने इसको सांचे में ही ढाला हो, ऐसा लगता था मानो किसी देवता ने ही इसका निर्माण किया हो, इसका भव्य बाजार जिसकी सुन्दरता की कोई सीमा नहीं, पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दोनों ओर दूकानों की श्रेणी बराबर दूर तक चली गई थी । इस नगर की गलियां पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी आर-पार दिखाई देती थीं । जिसके चारों ओर संगीन प्राकार और बुर्जे नगर की रक्षा के लिए तत्पर थीं ।

महाराज महेन्द्र के प्रश्नकीर्ति आदि सौ पुत्र थे और सौ पुत्रों के बाद अंजना नाम की एक पुत्री थी । अंजना बचपन से ही धार्मिक संस्कारों वाली थी । सौ भाईयों के बीच एक ही बहन होने के कारण उसका बड़ा ही प्यार था । वह माता-पिता, भाई-बन्धु, नाना-नानी, मामा-मामी आदि सभी परिजनों के लिए बड़ी आज्ञाकारिणी थी । अंजना स्वभावतः ही विनयवती और विवेकशालिनी थी । उसने ललनाओं सम्बन्धी चौसठ कलाओं का अध्ययन किया था और दिन-प्रतिदिन वह प्रत्येक कार्य में प्रवीणता की ओर बढ़ रही थी । प्रगति की ओर बढ़ती हुई अंजना यौवनावस्था में प्रविष्ट हुई । वह रूप और लावण्य में रति से भी बढ़कर दिखाई दे रही थी ।

यौवनावस्था को प्राप्त होने के पश्चात् लड़की का पिता के घर रहना कुछ कठिन हो जाता है । अंजना के माता-पिता के इस बात की चिन्ता हुई कि अंजना के लिए योग्य वर की गवेषणा करनी चाहिए । इसलिए उन्होंने इस कार्य के लिए अपने निजी व्यक्तियों को वर की गवेषणा करने के लिए चारों ओर भेजा । उन्होंने स्थानस्थान पर पूरे मन से अन्वेषण किया किन्तु फिर भी अंजना के अनुरूप वर प्राप्त नहीं हो रहा था । अंत में ढूंढते-ढूंढते महाराज प्रहलाद के पुत्र पवनंजय का नाम सुना । पवनंजय की योग्यता की चर्चा सुनकर इन्हें बड़ी प्रसन्न हो रही थी । महाराज प्रहलाद की राजधानी रत्नपुर थी । महाराज महेन्द्र के व्यक्ति रत्नपुर पहुंचे एवं उन्होंने राजकुमार पवनंजय को निहारा ! राजकुमार पवनंजय को हर प्रकार से उपयुक्त पाया । राजकुमार पवनंजय को जब इन्होंने अंजना के उपयुक्त देखा तो महाराज प्रहलाद से बातचीत की और राजकुमार पवनंजय से सम्बन्ध कर दिया ।

इस राजकुमारी अंजना के रंग-रूप की चर्चा चारों ओर व्यापक रूप से विस्तार पा चुकी थी । उनके रूप-रंग और लावण्य की अतिशयोक्ति राजकुमार पवनंजय के कानों में भी पहुंची, उन्होंने सोचा कि अंजना कितनी सुन्दर है पता नहीं । किन्तु उसकी सुन्दरता की चर्चा जन-जन के मुंह पर है । अतः प्रच्छन्न रूप से एक बार मुझे उसे देखना आवश्यक ।

एक दिन राजकुमार पवनंजय अपने पूर्ण विश्वस्त मित्र प्रहसित को साथ लेकर विमान द्वारा महेन्द्रपुर पहुंचे । दोनों मित्र महाराज महेन्द्र के प्रासाद देखने के लिए वहां आए । इधर संध्या के समय राजकुमारी अंजना भी अपनी सहेलियों के साथ घूमने के लिए उद्यान की ओर जा रही थी । पवनंजय अपनी भावी पत्नी की विशेषताओं को बारीकी के साथ देख रहा था एवं प्रसन्नता के साथ अपने भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहा था ।

राजकुमारी अंजना और उसकी सहेलियां भी इसी प्रकार की बातें

करती हुई आगे बढ़ रही थी । एक सहेली ने कहा, अपनी राजुमारी बहुत ही भाग्यशालिनी है जो कि यह महाराज कुमार पवनंजय की प्राण-प्रिया बनने जा रही है ।

दूसरी सहेली ने उसकी बात काटते हुए कहा—'नहीं-नहीं, बहन ! राजकुमार पवनंजय तो ठीक-ठीक है । अपनी राजकुमारी अंजना के अनुरूप वर तो महाराज हिरण्यकश्यय के सुपुत्र राजकुमार विद्युतप्रथ थे, किन्तु वे तो अठारह वर्ष की आयु में ही चारित्र ग्रहण कर शाश्वत सुखों की ओर अग्रसर होने जा रहे हैं । ऐसा कुछ सुनने में आया है ।' अपनी सहेलियों की पारस्परिक बातें सुनकर राजकुमारी अंजना के मुंह से सहजतया यह शब्द निकल पड़े कि धन्य हैं राजकुमार विद्युतप्रभ जो छोटी उम्र में ही चारित्र ग्रहण कर मुक्ति की ओर अग्रसर होना चाह रहे हैं । राजकुमारी अंजना के जैसे ही ये शब्द राजकुमार के कानों तक पहुंचे, कि वे तत्क्षण ही क्रोध में लाल हो उठे । उनके होंठ फड़फड़ाने लगे और ललाट में सलवटें उभर आई । उन्होंने अपने मित्र प्रहसित से कहा—'जिस स्त्री का सम्बन्ध तय हो चुका उसके मुंह से इस प्रकार पर-पुरुष की प्रशंसा शोभा नहीं देती । इन बातों से मुझे लगता है कि यह कुलटा, कुलक्षणी व व्यभिचारिणी है । इच्छा होती है कि इसको अभी-अभी ही सजा दे दूं और उन्होंने अपने हाथों में बाण ले लिया । उनके मित्र प्रहसित ने अनर्थ होते देखकर उनका हाथ पकड़कर बड़ी मुश्किल से रोका । बहुत कुछ कहने-सुनने पर पवनंजय ने मार डालने का विचार तो त्याग दिया, किन्तु उन्होंने कहा कि—इसके साथ विवाह तो मैं कभी नहीं कर सकता ।'

उनके मित्र प्रहसित ने कहा—'भाई इस प्रकार एक झूठे संदेह से एक निरपराध बालिका का जीवन क्यों नष्ट कर रहे हो । ऐसी सुशील कन्या जो एक प्रकार से लक्ष्मी का रूप है । यदि तुम हठ करके उस लक्ष्मी को छोड़ दोगे तो जीवन-भर फिर पश्चात्ताप के अलावा और कुछ

हाथ आने वाला नहीं है । तुम देखते ही रह जाओगे । इस देव-कन्या के लिए कोई वरों की कमी नहीं है । बड़े-बड़े राजा-महाराजा इसको आदर और सम्मान के साथ पाणिग्रहण कर ले जायेंगे ।

अपने मित्र की बात सुनने के पश्चात् पवनंजय ने कहा—'अच्छा भाई ! ठीक है तुम्हारे सुझाव को स्वीकार करता हूं और इसके साथ विवाह तो कर लूंगा, किन्तु फिर कभी इसका मुंह नहीं देखूंगा, ताकि इसे भी कुछ महसूस हो कि पर-पुरुष की प्रशंसा करने के कितने कटु फल होते हैं ।' इस प्रकार बातें करते-करते राजकुमार पवनंजय और प्रहसित दोनों अपने नगर लौट आये । प्रहसित ने पवनंजय की इन सब बातों को एक बचपन की नादानी के रूप में ग्रहण किया । पुनः राजकुमार से अनुरोध किया कि राजकुमारी अंजना के साथ पाणिग्रहण अवश्य करना है, तत्पश्चात् देखेंगे क्या स्थिति बनती है ।

विवाहोत्सव

विवाह के लिए एक तिथि निर्णीत की गयी । महाराज प्रहलाद ने बड़े उत्साह के साथ बारात सजायी । राजकुमार पवनंजय की बारात जब रत्नपुर से प्रस्थान कर रही थी, उस समय शहर के लोगों ने देखा—जिसमें अनेक बड़े-बड़े लोग विविध प्रकार की पोशाकों में सजे हुए ऐसे लग रहे थे, मानो स्वर्ग से देवताओं का समूह ही उतरकर आया हो । जिस बारात में स्वर्णाभूषणों से सज्जित हाथियों की कतार ऐसी शोभा दे रही थी, मानो सावन की मेघ घटा हो । जिस बारात में आभूषणों से सजे हुए अश्वों की श्रेणी अनायास ही दर्शकों के मन मुग्ध कर रही थी । जिस बारात में न जाने कितने-कितने प्रकार के वाद्य प्रस्तुत थे जिनका कोई अनुमान नहीं । महाराज प्रहलाद ने अपने पुत्र पवनंजय की बारात में नाना प्रकार की अद्‌भूत-अद्‌भूत वस्तुएं प्रस्तुत कर दर्शकों के लिए न जाने कितने कौतूहल खड़े कर दिये थे । इस प्रकार बड़े

उत्साह और उमंग के साथ राजकुमार पवनंजय की बारात महाराज महेन्द्र के नगर में पहुंची । नगर-निवासियों ने जब राजकुमार पवनंजय और उस विशाल पंक्ति-बद्ध चलने वाली बारात को देखा तो चकित रह गये । सारे नगर की परिक्रमा देती हुई बारात राजप्रासादों में पहुंची । महाराज महेन्द्र ने अपने भावी दामाद को देखा । उनके मन की प्रसन्नता का पार नहीं रहा । उन्होंने जब अपने आंगन में बारात का ठाट देखा तो बांसों उछलने लगे । उनके हृदय में आनन्द का सागर उमड़ पड़ा ।

पास में ही विवाह का एक मंडप सजाया गया था । वह मंडप भी अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे पर्दे और विभिन्न प्रकार की आकृति वाले आदर्शों से सजाया गया था । जिसमें अनेक राजा और महाराजाओं के ऐतिहासिक चित्र आरोपित किये गये थे । नाना प्रकार के कुसुमों के फूलदान वहां सुसज्जित किये हुए थे । स्थान-स्थान पर अगरबत्तियों के गुच्छे सौरभ फैला रहे थे । फूलदान और अगरबत्तियों की महक से सारा मंडप महक रहा था । उस मंडप में एक ओर से दूल्हे और एक ओर से दूल्हन ने प्रवेश किया । जैसे ही दूल्हन और दूल्हे ने मंडप में प्रवेश किया, विवाह मंडप जय के नारों से गूंज उठा । जैसे ही विवाह का शुभ मुहूर्त आया, विवाह की रीति-रिवाज सम्पन्न की गयी । महाराज महेन्द्र ने अपनी लाडली पुत्री को दहेज में कोटि-कोटि मूल्यों की सामग्री अर्पित की । अनेकानेक हाथी और घोड़े तथा राजकुमारी अंजना की सेवा-सुश्रूषा के लिए बसंतमाला आदि पांच सौ दासियों का एक बड़ा समूह दान में दिया । राजकुमार पवनंजय ने अपने श्वसुर की दी हुई सभी धन-राशि को स्वीकार किया, फिर भी राजकुमार के अन्तःकरण में द्वेष की चिनगारी धधक रही थी ।

महाराज प्रहलाद ने दूल्हन और दूल्हे एवं बारातियों को सानन्द लेकर अपनी रत्नपुरी नगरी में प्रवेश किया । राजकुमारी अंजना, जो कि नयी दूल्हन के रूप में थी, रथ से नीचे उतरी और राजमहलों में प्रवेश

निर्भर है । मेरी इच्छा हो तो सबके सामने भी रख सकता हूं और इच्छा न हो तो तुम्हें भी नहीं बता सकता । इसमें सारा सारांश आ जाता है । अब इसके लिए आगे कहने की आवश्यकता नहीं ।'

महारानी केतुमती ने यह सारी बात अपने पतिदेव महाराज प्रहलाद से कही । जब उन्होंने यह बात सुनी तो उनके मन पर भी बड़ा भारी आघात लगा । उन्हें इस बात से इतना दुख हुआ कि अगर पृथ्वी फट जाए तो वे समा जाएं । हाय ! हाय ! हे राम ! यह क्या हुआ ? हे भगवान ! कल तो पुत्र का विवाह करके घर लाया और आज ही यह एक विचित्र उत्पात ! प्रभो ! अब कहां जाऊं और क्या करूं ? किसके पास जाकर अपना दुखड़ा गाऊं । अरे ! और तो और बेचारी निरपराध राजकुमारी कितनी दुःखित हो रही होगी, भगवन् !' तुम ही इस रहस्य को पकड़ सकते हो । मेरे जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति का यह कार्य नहीं है ।' इस प्रकार महाराज प्रहलाद बैठे-बैठे न जाने कितनी देर तक बिलखते रहे । विचित्र है कर्मों की गति । समय पर मनुष्य को कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ।

उन्होंने एक उपाय सोचा और अपने स्वजन बंधुओं के सामने इस विषय को रखा । महाराज प्रहलाद ने उन सबसे पवनंजय को समझाने के लिए कहा । उन सबने अपनी युक्तियों के द्वारा समझाने का प्रयत्न किया किन्तु निष्फल । अनेक प्रकार से समझाने की कोशिश की गयी किन्तु सारांश कुछ नहीं निकला । अन्त में महाराज प्रहलाद और महारानी ने अपनी प्यारी पुत्रवधू अंजना को पवनंजय के कुपित होने का सारा भेद खोलकर बतलाया एवं अपनी ओर से उन्हें पूर्ण रूप से आश्वसित किया । उन्होंने अपनी प्यारी पुत्रवधु को वात्सल्य की बौछारों से सिक्त करते हुए धर्म-ध्यान में विशेष रूप से लीन बने रहने का निर्देश किया ।

इस दुखद समाचार से अंजना के हृदय पर एक बार तो विद्युत संपात सा हुआ और वह मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी । किन्तु शीतल हवा के झोंकों ने उसे तत्काल ही सचेत किया एवं चिंतन के द्वारा अपने आपको आत्मस्थ बनाया । राजकुमारी अंजना अपने इस दुखद समय को सामायिक, पौषधव्रत, प्रतिक्रमण एवं त्याग-प्रत्याख्यान आदि धार्मिक क्रियाओं का सहारा लेकर व्यतीत करने लगी ।

चाहे कुछ भी हो, अंजना के रग-रग में राजकुमार बसे हुए हैं । वह राजकुमार के दर्शनों के लिए ताकती रहती थी । जब कभी भी वे अंजना के महलों के पास से किसी कार्यवश आते-जाते, अंजना अपने झरोखों से राजकुमार के दर्शन कर लेती थी । इस प्रकार बहुत दिनों तक यह क्रम चलता रहा । अंजना अपने प्राणवल्लभ के दर्शन कर तृप्त हो जाती थी । एक दिन जैसे ही अंजना ने राजकुमार के दर्शनों के लिए नीचे की ओर झांका कि अकस्मात् राजकुमार पवनंजय की दृष्टि उन पर पड़ी और अंजना के प्रति उनके दिल में क्रोध भड़क उठा । उन्होंने तत्काल ही अपने निजी सचिव को आदेश दिया—'इस झरोखे को बंद कर दिया जाए । न जाने कब इस अभागिनी का मुंह दिख जाए । मैं इस दुश्चरित्रा का मुंह देखना भी पसंद नहीं करता । अतः शीघ्रातिशीघ्र यह कार्य कर दिया जाए ।' बस, आज्ञा की देर थी, ज्योंही राजकुमार की आज्ञा हुई कि तत्काल ही उस झरोखे को बंद कर दिया गया और वह बेचारी अबला बिलखती ही रह गयी ।

एक बार किसी एक त्यौहार के उपलक्ष में अंजना के पीहर से अनेक प्रकार के फल-फूल, मिठाईयां, मौलिक-मौलिक वस्त्र और आभूषण आये थे । अंजना ने वह सारी सामग्री सर्वप्रथम दिखाने के निमित्त अपने पतिदेव के समक्ष भेजी । वसंतमाला ने वह सारी सामग्री पवनंजय के सम्मुख प्रस्तुत की ।

पवनंजय ने पूछा—'यह सब वस्तुएं कहां से आयी हैं ?' वसंतमाला ने अनुरोध किया—'स्वामिन् ! यह सब सामग्री आपके ससुराल वालों ने अपनी पुत्री के लिए भेजी हैं और अंजना ने आपको दिखाने के लिए मुझे देकर यहां भेजा है ।'

बस फिर क्या था ? अंजना का नाम सुनते ही तो वे एक साथ ही भभक उठे । उन्होंने मुड़कर उस सामग्री की ओर दृष्टि भी नहीं उठायी । भौं सिकोड़ते हुए कहा—'लुटा दो यह सब सामग्री गरीबों को । मैं इन्हें एक क्षण के लिए भी देखना नहीं चाहता ।' इधर-उधर गलियों में भिखारी-जन घूम रहे थे, उन सबको वे सारी वस्तुएं लुटा दी गयीं । बेचारी बसंतमाला रोती-रोती वापस अंजना के पास पहुंची और उनको स्वामी की वह सारी दुःख भरी घटना सुनायी । अंजना ने जब इस घोर अपमान भरी घटना को सुना तो उसके चित्त पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा । किन्तु इसका उसके पास कोई उपाय भी नहीं था । इस प्रकार जो भी ऐसे अवसर आते राजकुमार, राजकुमारी अंजना को अपमानित करते रहते थे । वे उसे नाना प्रकार से दुःख देकर ही संतुष्ट होते थे । किन्तु अंजना इतना सब कुछ होने पर भी पति के प्रति रंच मात्र भी दुर्भावना नहीं रखती थी । वह इन सब घटनाओं को अपने ही पूर्वकृत दुष्कर्मों का फल मानती थी । वह दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक संयत बनती जा रही थी ।

अंजना के विवाह को बारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे । किन्तु अभी तक उसे चारों ओर दुःख के दरिये ही उमड़ते दिखायी दे रहे थे । दूर-दूर तक कहीं भी किनारे नजर नहीं आ रहे थे । उस अवसर में लंकाधिपति महाराज रावण और वरुण का परस्पर में युद्ध प्रारम्भ हुआ । महाराज रावण ने अपना दूत भेजकर महाराज प्रहलाद से कहलवाया कि वे अपने दल-बल के साथ महाराज वरुण की राजधानी मेघपुर पहुंचे और उनसे संग्राम कर खर आदि नरेशों को (जो कि उनके कारागृह में बंदी

हैं) छुड़ाने का प्रयत्न करें । महाराज रावण का आदेश प्राप्त कर महाराज प्रहलाद ने तत्काल युद्ध की तैयारियां कीं । इस बात का पता जब राजकुमार पवनंजय को लगा तो वे अपने पिता को रोककर, स्वयं युद्धार्थ प्रस्थान करने के लिए तत्पर हो गये । पवनंजय अपने पिता के अत्यन्त विनयी थे । अतः वे इस कार्य के लिए जब अपने दल-बल के साथ प्रस्थान कर रहे थे तब महासती अंजना को इस बात की खबर पड़ी कि राजकुमार युद्ध के लिए प्रस्थान कर रहे हैं । उसने सोचा कि यद्यपि पतिदेव मुझसे रुष्ट हैं, वे मेरा मुंह तक देखना नहीं चाहते फिर भी मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि ऐसे समय में मैं उनके दर्शन अवश्य करूं और उनके लिए शुभकामनाएं प्रकट करूं । इस प्रकार सोचकर महासती अंजना ने शुद्धोदक से स्नान किया । उन्होंने नव्य वस्त्र और आभूषण धारण किये । हाथ में श्रीफल-अक्षत आदि मांगलिक वस्तुएं लेकर, मुख्य द्वार पर खड़ी-खड़ी उनकी प्रतीक्षा करने लगी । राजकुमार अपने महलों से प्रस्थान कर चले किन्तु रास्ता अंजना के महलों के सामने से होकर ही जाता था । वे ज्यों ही आगे आये और अंजना उन्हें दिखायी दी कि उनका तेवर बदल गया । उनकी आंखों में खून बरसने लगा । भौंहें चढ़ाकर वे कुछ कहने वाले ही थे कि महासती अंजना ने उनके चरण छुए एवं शुभ शब्दों में कहा—'आपकी जय-विजय हो, जिस कार्य के लिए जा रहे हैं, आपको सफलता प्राप्त हो । आप चिरायु हों ।'

बस राजकुमार के लिए तो यह आग में घृत डालने जैसा कार्य हो गया । उन्होंने क्रोधावेश में कहा—'निर्लज्जे ! तुझे शर्म नहीं आती ! क्यों खड़ी है यहां बाहर अपशकुन करने के लिए ! जा, चली जा मेरे सामने से ।' इस प्रकार महासती अंजना को घोर अपमानित कर पवनंजय आगे निकल गये और वह बाला-रोती-बिलखती अपने आवासों की ओर लौट आयी ।

हृदय-परिवर्तन

अंजना को अपमानित करने की आनन्द लहरी में राजकुमार पवनंजय आगे बढ़ते जा रहे थे। सूर्यास्त होने के समय वे एक किसी गहरे उपवन में पहुंचे और वहीं पर उन्होंने सेना का शिविर लगाया। राजकुमार पवनंजय और प्रहसित एक तम्बू में सो रहे थे, लेकिन राजकुमार को नींद नहीं आ रही थी। कारण स्पष्ट था कि अंजना को अपमानित करने वाला दृश्य पुनः-पुनः उनकी आंखों के सामने आकर साकार हो रहा था। उस समय उनके उस तम्बु के इर्द-गिर्द एक चकवी चक्कर लगा रही थी और वह एक प्रकार के दीन स्वरों में आक्रद कर रही थी। उस चकवी का आक्रंद सुनकर राजकुमार ने अपने मित्र प्रहसित से पूछा—'मित्र! यह चकवी इस प्रकार इतना आक्रंदन क्यों कर रही है?'

प्रहसित—'पवन! यह अपने प्रिय के वियोगजनित दुःख से दुःखित होकर ऐसा कर रही है।'

राजकुमार—'मित्र! इसको प्रिय के वियोग का दुःख कैसे हुआ?'

प्रहसित—'पवन! सूर्यास्त के बाद यह पति-पत्नी एक साथ नहीं रह सकते। यह इस जाति के पक्षियों का स्वाभाविक नियम है। जिस प्रकार यह रोती हुई इधर-उधर भटक रही है, उसी प्रकार इसका पति भी कहीं न कहीं रोता-बिलखता हुआ भटक रहा होगा।'

अपने मित्र प्रहसित की इस उक्ति ने राजकुमार को चौंका दिया। और तत्काल ही वह चिन्तन करने लगा—पक्षिणी को भी पति के एक रात के विरह का इतना भारी दुःख होता है, तो फिर मेरी पत्नी तो मानुषी है, जिसे बारह वर्ष हो गये, क्या वह मेरे विरह से नहीं तिलमिलाती होगी? नहीं-नहीं, यह कैसे हो सकता है? जबकि एक पक्षी भी इतना संवेदनशील हो सकता है तो वह तो मानुषी है। उसे तो कहीं और अधिक संवेदन होता होगा। मैंने उस बेचारी को बार-बार

अपमानित कर कितने-कितने कष्ट दिये हैं ? हाय ! अब मैं क्या करूं ? कहां जाऊं ? हे भगवान ! मैं सोचता हूं इस प्रकार से किसी को अपमानित तो एक क्रूर से क्रूर आदमी भी नहीं कर सकता । मैं देखता हूं मुझसे यह एक बहुत बड़ा अपराध हुआ है । वस्तुतः मेरी स्त्री सच्ची सती है । मैंने उस पर व्यर्थ ही संदेह करके नाना प्रकार के कष्टों से पीड़ित किया है । अब उससे क्षमा-याचना किए बिना युद्ध-स्थल पर कैसे जा सकता हूं ? अगर कदाचित् मैं युद्ध-भूमि में चला गया और वहां मेरी मृत्यु हो गई तो निःसंदेह ही नरकगामी बनना पड़ेगा । इस प्रकार चिन्तन करते-करते राजकुमार पवनंजय कांप उठे । प्रहसित उनका अनन्य मित्र उनके निकट ही बैठा था । उन्होंने अपनी वह सारी मनःस्थिति अपने मित्र के कानों में डाली और उससे पूछा—'मित्र ! अब मुझे क्या करना चाहिए ?'

प्रहसित—'भाई ! पवन ! तुमने बहुत अच्छा सोचा है । ऐसी स्त्री के लिए तो तुम्हें तत्काल ही वापस जाना चाहिए एवं उनसे शीघ्रातिशीघ्र क्षमा-याचना करनी चाहिए ।'

राजकुमार—'मित्र ! क्या वह मेरे जैसे नराधम प्रदान कर देगी ?'

प्रहसित—'प्रिय मित्र ! अंजना वस्तुतः सच्ची सती के रूप में तुम्हें प्राप्त हुई है । जो सच्ची सती होती है वह पति के प्रति कभी भी दुर्भावना नहीं रख सकती ।'

राजकुमार—'बस मित्र ! तब वहां हमें अविलम्ब ही अंजना से साक्षात् कर अपने किए गए अपराधों के लिए क्षमा-याचना करनी ही चाहिए ।' राजकुमार अपने प्रिय मित्र प्रहसित के साथ विमान द्वारा अंजना के आवास-स्थल पर पहुंचे । प्रहसित ने द्वारपाल को सारी स्थिति समझाई और आगे बढ़ गए । अंजना के आवास के सामने जाकर द्वार खटखटाया ।

अंजना ने उसी क्षण चौंककर कहा—'कौन है इस महानिशा में द्वारा खटखटाने वाला ? ये राजकुमार पवनंजय के महल हैं । यहां

उनके अतिरिक्त दूसरा कोई भी पुरुष प्रविष्ट नहीं हो सकता । आप लोग कौन हैं ? पता नहीं । मैं अभी-अभी सूचना देती हूं । आप लोग दण्डी पुरुषों के द्वारा वन्दी वना लिये जाएंगे । भाग जाएं शीघ्रातिशीघ्र, अन्यथा कहीं कारागृह की हवा खानी न पड़ जाए ।'

बाहर से प्रहसित ने कहा—'स्वामिनी ! जिस व्यक्ति का नाम आप अपने मुंह से बता रही हैं, वे ही आपके स्वामी राजकुमार पवनंजय आज बारह वर्षों बाद आपके साथ साक्षात् करने युद्ध-स्थल से लौटकर आये हैं और साथ में मैं उनका अनन्य सखा प्रहसित हूं । आप किसी भी प्रकार का संदेह न करें । चोर, डाकू व लूटेरों को यहां आने का कैसे साहस हो सकता है ? आप विलम्ब न करें और द्वार खोलें ।'

पवन और अंजना का मिलन

बस युद्ध-स्थल का शब्द कानों में पड़ते ही अंजना का संदेह दूर हो गया । उसने तत्क्षण ही द्वार खोले और राजकुमार पवनंजय ने अन्दर प्रवेश किया । अंजना राजकुमार के चरणों में लिपट गई । उसके अन्तःकरण में आनन्द समा नहीं रहा था । उसके रोम-रोम से हर्ष के फुहारे फूट रहे थे । अंजना आज अपने पतिदेव को पाकर बांसों उछल रही थी, मानो उसे आज कोई अमूल्य निधि प्राप्त हो गई है । वह राजकुमार को अपने निजी कक्ष में ले गई और उन्हें स्वर्णमय सिंहासन पर बिठाया ।

राजकुमार इस प्रकार अपनी पत्नी को हर्ष-विभोर देखकर गद्गद हो गए । उनके नेत्रों से हर्षाश्रुओं की धारा बहने लगी । राजकुमार ने अंजना को संबोधित करते हुए कहा—'प्राणेश्वरी ! मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिए हैं और पता नहीं कितने-कितने अपमान किए हैं ? प्रिये ! तुम्हारे सतीत्व के विषय में मुझे मेरे मित्रों ने बहुत समझाने का प्रयत्न किया । माताजी और पिताजी ने भी बहुत-बहुत कहा, किन्तु मैंने किसी की नहीं सुनी । हृदयेश्वरी ! पता नहीं मेरे कौन से कर्मों का उदय था कि तुम्हारे

प्रति मेरा संदेह बढ़ता ही गया और तुम्हें दुःखों के दरिया में ढकेलता गया । जिसमें आज जो मैंने तुम्हारा अपमान किया है, वह तो सीमातीत ही था । प्रिये ! मैं चाहता हूं जो कुछ होना था, सो हो चुका, अब तुमसे प्रार्थना है कि मेरे उन सब अपराधों को भूलकर मुझे आज क्षमा कर दो । देवि ! तुम सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति हो । विज्ञ-शिरोमणे ! तुम उदारता की संस्थापिका हो । हृदय वल्लभे ! तुम क्षमा की उपासिका हो । प्राणप्रिये ! तुम वात्सल्य की अपूर्व सेविका हो । अयि ! सत्यव्रते ! तुम ब्रह्मचर्य की ज्योतिसुरूपा हो, मैं तुम्हारे कौन-कौन से गुणों की बात कहूं । तुम तो सर्वगुण सम्पन्न हो । इस अधम की ओर मत देखो और अपनी ओर निहारो ।'

महासती अंजना ने उन्हें बीच में ही रोकते हुए कहा—'बस-बस रहने दीजिए । अपने मुंह से आपको ऐसे शब्द बोलने की आवश्यकता नहीं । प्राणनाथ ! मैं देखती हूं इसमें आपका कोई दोष नहीं है । यह सब मेरे ही अशुभ कर्मों के कारण हुआ है । नाथ ! इस विषय में आप किंचित् भी विचार न करें । इन सब बातों की मेरे मन पर कोई प्रतिक्रिया नहीं है ।' महासती अंजना ने राजकुमार के स्वास्थ्य के बारे में पूछा और राजकुमार ने भी महासती अंजना से अपनी सुख-दुःख की सारी स्थितियां बतलायीं । इस प्रकार बहुत रात गये तक दोनों पति-पत्नी बातें करते रहे । अन्त में राजकुमार ने अपने प्रस्थान करने की भावना व्यक्त की, तो महासती अंजना ने उन्हें आग्रहपूर्वक रोक लिया । राजकुमार पवनंजय और महासती अंजना उस रात साथ में रहे और हर्ष एवं उल्लासपूर्ण वातावरण में क्रीड़ा करते रहे ।

पश्चिम रात्रि के समय जब राजकुमार प्रस्थान करने के लिए खड़े हुए तो अंजना भी उनके सम्मुख खड़ी हो गई । वह राजकुमार से निवेदन करने लगी कि प्राणप्रिय ! मैंने आज ही ऋतुस्नान किया है । संभव है पीछे से कोई ऐसी स्थिति बन जाए, जो मेरे लिए विचारणीय

भी और ससुर का भी । अभागिनि ! अब बोलती क्यों नहीं ? बता यह पेट कैसे पाल रही है ?'

अंजना ने धैर्य के साथ अपनी सास से कहा—'माताजी ! आप मेरी बात पर ध्यान दें । मैं बिल्कुल सच्ची-सच्ची घटना निवेदन कर रही हूं ।' अंजना ने कहा—'मातेश्वरी ! जिस दिन आपके पुत्र युद्ध-स्थल में पधारे थे उसी दिन वे अर्द्धरात्रि के समय मेरे ऊपर अनुकम्पा कर यहां महलों में पधारे थे । रात भर वे मेरे सहवास में रहकर सवेरा होते-होते ही वापस युद्ध-स्थल की ओर लौट गये ।'

यह सुनकर महारानी केतुमती और भी जल उठी । कहने लगी—'दुष्टे ! झूठ बोलती है । मेरा पुत्र तेरे जैसी कुलच्छनी के पास आना तो दूर वह तो तेरा मुंह भी नहीं देखना चाहता । फिर मैं कैसे मान लूं कि तेरे महलों में पवनंजय आया था, भला वह आया होता तो मुझसे मिले बिना वापस कैसे लौट सकता था !'

अंजना हैरान थी, उसने सास से कहा—'अच्छा माताजी ! कोई बात नहीं, मैं झुठी हो सकती हूं, किन्तु यह नामांकित अंगूठी वे मुझे देकर गये थे । यह देखें ।' अंजना ने अंगूठी निकालकर उनकी ओर की, किन्तु केतुमती ने एक भी नहीं सुनी ।

उसने कहा—'मेरा पुत्र तुम्हारा मुंह भी देखना पसन्द नहीं करता था, वह यहां कैसे आ सकता है, और कैसे तेरे जैसी कुलटा से प्रेम कर सकता है । अतः मैं देख रही हूं तू झूठ बोल रही है ! न तो वह यहां आया है, न तुमसे प्रेम किया है और न ही अपनी अंगूठी तुम्हें दी है । मैं समझती हूं तूने यह सब प्रपंच रचा है ।

'तूने मेरे उज्ज्वल कुल को कलंकित किया है । व्यभिचारिणी ! ज़ा निकल मेरे महलों से । तू और तेरी दलालन यह बसंतमाला ! और तत्काल खाली कर दो मेरे इन राज मन्दिरों को ।' इस प्रकार आदेश देकर केतुमती अपने महलों की ओर लौट गई ।

केतुमती इस प्रकार अंजना और वसंतमाला को आदेश सुनाकर महाराज प्रहलाद के पास पहुंची और उन्हें महासती अंजना के विषय में पूर्णरूप से भर दिया । उनके पास अंजना पहुंची तो उन्होंने उनकी एक भी नहीं सुनी । बेचारी अंजना ने ससुर से बहुत-बहुत अनुरोध किया—'पिताजी ! आप मुझे यहां नहीं रहने देना चाहते, यह ठीक है, मैं जाने के लिए तैयार हूं, किन्तु आपसे मेरा एक बहुत आवश्यक अनुरोध है कि आप मुझे इस प्रकार कलंकित करके न निकालें । बारह वर्षों से आप मुझे देख रहे हैं कि मैं कैसी स्त्री हूं । पर-पुरुष से प्यार करना तो दूर किसी के सम्मुख तक नहीं झांकती । अतः आपसे निवेदन है कि आप इस अभागिनी को यों लांछन लगाकर न निकालें । लंका व मेघपुर कोई अधिक दूर नहीं है । आप वहां से अपने पुत्र के समाचार मंगवाकर इस तथ्य की जांच कर सकते हैं । पिताजी ! अगर आप ऐसा करना नहीं चाहते तो फिर मुझे यहीं पर कड़ी से कड़ी कसौटी पर कसें और तत्पश्चात् ही इस विषय का निर्णय लें ।' इस प्रकार से महासती अंजना ने उन्हें अनेक प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया किन्तु सब व्यर्थ । महाराज प्रहलाद ने उनकी एक भी नहीं सुनी और महासती अंजना एवं बसंतमाला को काले वस्त्र पहनाकर एक काले घोड़ों के काले रंग के रथ पर बैठाकर शहर से बाहर निकाल दिया ।

महासती अंजना का वह काला रथ जैसी ही सीमा पार कर महाराज महेन्द्र की सीमा में पहुंचा, सारथी ने उन्हें नीचे उतरने के लिए कहा । वे जैसी ही नीचे उतरीं, सारथी महासती अंजना को वहीं छोड़कर वापस लौट आया ।

महासती अंजना को, उनके सिर कलंक लगाने का दुख तो था ही और यह एक भयंकर जंगली जानवरों के बीच छोड़ने का दुःख भी उनके हृदय को पुनःपुनः कचोट रहा था । वे कहां जाएं, किधर जाएं, किस ओर कदम बढ़ाएं, वे कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रही थीं । अन्त में उन्होंने बसंतमाला, जो उसकी चिरसंगिनी थी, उससे परामर्श किया और

अपने पीहर की ओर चल पड़ीं । बड़ी कठिनाई से दोनों ने इस भयावह रास्ते को पार कर महेन्द्रपुर पहुंचीं । किन्तु जैसे ही वे नगर द्वार पर पहुंची नगर-संरक्षकों ने वहां पर ही रोक लिया । महाराज महेन्द्र के पास द्वारपाल ने अंजना के आने के समाचार बतलाये । उसने महाराज के कान में धीरे से कहा—'प्रभो ! अंजना नगर द्वार पर खड़ी है । उसने काले वस्त्र पहने हुए हैं । लगता है वह शीघ्र ही बच्चे को जन्म देने वाली है । भगवन् ! एक बात और है, उसके साथ बसंत के अतिरिक्त और कोई नहीं है, उसका बहुत बुरा हाल हो रहा है । इस भयंकर जंगल में कांटों और कंकड़ों के मार्ग से पैदल चलकर आई है ।'

महाराज महेन्द्र को स्थिति समझने में कोई देर नहीं लगी । उन्होंने अपने पुत्रों तथा सभी ज्ञातिजनों से परामर्श किया और द्वारपाल को आदेश दिया कि अंजना को यहां भीतर आने का आदेश नहीं है । उसे बाहर से ही लौटा दिया जाए । द्वारपाल शहर से लौटकर आया और जैसा महाराज महेन्द्र का आदेश था, अंजना को कह सुनाया । उस समय अंजना प्यास से व्याकुल हो रही थी । किन्तु जब पिता का इतना कड़ा आदेश सुना तो उसने वहां पानी पीना भी उचित नहीं समझा एवं वापस फिर उसी प्रकार एक भयंकर जंगल में आकर आश्रय लिया ।

उन्होंने देखा उस भयावह स्थान में चारों ओर से शेरों, व्याघ्रों और भालुओं की चीत्कारें सुनाई दे रही थीं । उस मौत के मुंह में भी अंजना का अपूर्व साहस था । वह अबला प्रसव-काल के निकट होते हुए भी उस भयावह अटवी में इधर-उधर घूम रही थी । उसके साथ धैर्य बंधाने वाला एक बसंत के अतिरिक्त कोई नहीं था । महासती अंजना इधर-उधर घूमते-घूमते एक महा गुफा के सामने पहुंची । उ देखा—इस महा गुफा के भीतर एक अत्यन्त कृशकाय योगी हैं । अंजना और उसकी जीवनसंगिनी बसंत ने बिल्कुल निर्भ

उस गुफा में प्रवेश किया । मुनि महाराज ध्यानस्थ थे । वे दोनों थोड़ी देर लिए वहां सुस्ता गई । मुनि ने ध्यान खोला । अंजना ने भी पूर्ण भक्ति भाव से उन्हें नमस्कार किया और वहां बैठकर मुनि की उपासना करने लगी । अंजना ने नम्रतापूर्वक मुनि से अपने पिछले जन्म के विषय मे प्रश्न किया । मुनि अंजना का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर उनसे कहने लगे—'भद्रे ! प्राचीन काल में यहां कनकपुरी नामक बस्ती थी । वह महाराज कनकरथ की राजधानी कहलाती थी । महाराज कनकरथ के तुम दो महारानियां थी । तुम लक्ष्मी देवी के नाम से प्रसिद्ध थी । दूसरी कनकोदरी के नाम से विख्यात थी । महारानी कनकोदरी के सिंहरथ नाम का एक पुत्र था । बहन ! तुमने ईर्ष्या वश एक दिन उसे अपने पड़ोसी के घर छिपा दिया । उसकी माता के पूछने पर भी तुमने नहीं बताया । भद्रे ! बारह घंटों तक वह पुत्र के विरह में रोती-बिलखती रही अन्त में उसका रोना-बिलखना देखकर तेरा दिल भी रो उठा और उस छिपाये गये बच्चे को निकालकर उसे सौंप दिया । सुश्राविके ! बारह घंटे के दुःख के कारण तुम्हें बारह वर्ष तक पति का वियोग सहना पड़ा । इसके अतिरिक्त और भी दूसरे-दूसरे कष्टों का सामना करना पड़ा । तुम्हारी अनन्य सखी बसंतमाला भी तुम्हारे साथ भटक रही है । क्योंकि पूर्व जन्म में इसी के घर तुमने अपनी बहन के पुत्र को छिपाया था ।

'छठे स्वर्ग से चलकर एक महर्द्धिक देवता तुम्हारे उदर में अवतरित हुआ है, वह बजरंग-वीर हनुमान के नाम से ख्याति प्राप्त करेगा । बहन ! अब तुम्हारे दुःख के दिन समाप्तप्राय हैं । कुछ ही समय में तुम्हारा मामा सूरसेन आने वाला है, वह तुम्हें अपने घर ले जाएगा । वहां राजकुमार पवनंजय भी आयेंगे और तुम्हारे से साक्षात करेंगे । तुम्हारे परिवार वाले जो कि अभी प्रतिकूल हैं, वे सबके सब वापस अनुकूल बनकर तुमसे मिलेंगे ।' इस प्रकार कुछ बातें बताकर प्रतिमाधारी मुनि विहार कर गये ।

अंजना और बसंतमाला दोनों उसी गुफा में निवास करने लगीं। वे दोनों नित्य प्रभु का भजन किया करती थीं। एवं स्वाध्याय, ध्यान व आत्म-चिंतन में संलग्न रहने लगीं। प्रसव की घड़ियां निकट आ रही थीं। एक दिन एक महाकाय शेर उनकी गुफा के पास ही आ निकला। महासती अंजना उस समय ध्यानस्थ होकर बैठ गई। देखा तत्क्षण ही गुफा निवासी देवता ने अष्टापद का रूप धारण कर उस शेर को जंगल की ओर खदेड़ दिया। देवता ने अपना मूल रूप बनाया और महासती अंजना से निवेदन करने लगा, कि आप किसी भी प्रकार की चिन्ता न करें, मैं आपकी सेवा में हूं। आपको किसी भी प्रकार का संकट नहीं होने दूंगा। इस प्रकार से सांत्वना देकर वह अपने स्थान की ओर लौट गया।

क्रमशः गर्भ स्थिति पकी एवं चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन महासती अंजना ने एक अत्यन्य तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उसका दिव्य रूप देखकर महासती अंजना के उल्लास का पार नहीं रहा। किन्तु जंगल में निवास था। अतएव जन्मोत्सव के समय किसी भी प्रकार के उत्सव—महोत्सव नहीं मनाये गये। अतः माता कुछ व्याकुल-सी हुई महासती अंजना कहने लगी—'बहन बसंत! आज यदि अपना घर होता एवं प्राणनाथ पास में होते तो हम देखतीं कि पुत्र-जन्मोत्सव कैसे मनाया जाता है। किन्तु क्या करें, कर्मों के साथ संघर्ष चल रहा है।'

चैत्र पूर्णिमा की रात थी। चन्द्रिका चारों ओर अपना आंचल फैलाकर जंगल की शोभा बढ़ा रही थी। अंजना भी अपने लाडले को अंक में लिये हुए उस नयनाभिराम चांदनी का आनन्द लूट रही थी। इधर महाराज सूरसेन, महासती अंजना के मामा उस चांदनी रात में कहीं जा रहे थे। विमान जैसे उस गुफा के ऊपर पहुंचा, रुक [illegible] महाराज सूरसेन विमान को लेकर नीचे आए, देखा—पुत्र को लिये हुए अंजना बैठी है। महाराज सूरसेन ने पूछा—'बेटी! कैसे? अंजना ने अपनी दुःखभरी कहानी [illegible]

आंखें भर आयीं । वे गद्गद हो उठे और तत्क्षण ही उन तीनों को विमान में बैठकर आकाश मार्ग से चले जा रहे थे कि बच्चे की नजर उस चमकते हुए चन्द्र बिम्ब पर पड़ी, वह ज्योंही उसे पकड़ने के लिए ऊपर की ओर उछला कि विमान से नीचे गिर गया । अंजना की तो चेतना ही लुप्त हो गई, और वह मूर्च्छित होकर लुढ़क गई । महाराज सूरसेन तत्काल ही नीचे पहुंचे, देखा बच्चा एक चट्टान पर पड़ा है । उन्होंने सोचा—लगता है वह मर गया है । किन्तु पास में जाकर देखा—'बच्चा तो आनन्द में है । प्रत्युत उसके कठिन शरीर के प्रहार से वह शिला ही चूर-चूर हो गई है । महाराज सूरसेन ने बच्चे को उठाया और विद्या के द्वारा वापस विमान में आ पहुंचे । देखा अंजना अभी तक मूर्च्छित पड़ी है । उन्होंने उसे सचेत किया और सकुशल बच्चे को उसकी गोद में सौंपा । महासती अंजना ने उसे स्तनपान कराया एवं पुत्र को इस स्थिति में भी कहीं चोट नहीं लगी, इस बात से अपना सौभाग्य माना । महाराज सूरसेन अपने हनुपुर नगर में आये और पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया । उस अवसर पर उन्होंने उस बालक का नाम हनुमान रखा ।

इधर राजकुमार पवनंजय भी महाराज रावण की आज्ञा से मेघपुर-पति महाराज वरुण से समर भूमि में मिले । उनके साथ भीषण संग्राम हुआ और युद्ध में पवनंजय की विजय हुई । वे वरुण द्वारा कैद किये हुए खर-दूषण आदि विद्याधरों को मुक्त कराकर सानन्द लंका पहुंचे । महाराज रावण ने उनका बहुत-बहुत सम्मान किया । इस प्रकार राजकुमार पवनंजय रावण से सम्मान प्राप्त कर विजय दुन्दुभि बजाते हुए अपनी राजधानी में पहुंचे । वे सीधे महासती अंजना के आवासों में गये किन्तु अंजना वहां नहीं मिली । पूछताछ करने पर अंजना का पता चला कि उसे लांछित कर, काले वस्त्र पहनाकर यहां से निकाल दिया गया है । यह सुनकर राजकुमार अत्यन्त क्रुद्ध और दुःखित हुए । वे बिना ही भोजन किये अपनी ससुराल की ओर चल पड़े । उनका चिर साथी प्रहसित भी उनके साथ ही था, उन्होंने वहां पहुंचकर कुछ अपने परिचित

व्यक्तियों से जानकारी की, पता लगा की महासती अंजना को यहां प्रवेश तक नहीं करने दिया गया और कलंकित समझकर बाहर से ही निकाल दिया गया। यह सुनकर तो उनका क्रोध और भी भड़क उठा। वे आवेश में आकर चिता प्रवेश की तैयारी करने लगे।

इधर जब महासती अंजना के माता-पिता को पता लगा तो वे भी दौड़-दौड़े आए और राजकुमार को जैसे-तैसे समझाकर चिता प्रवेश करने से रोके। दोनों पक्षों के सहस्त्रों-सहस्त्रों लोग अंजना की खोज में निकल पड़े। ग्राम-ग्राम में, नगर-नगर में, पहाड़ों में, नदी और नालों में जिधर देखो आदमी ही आदमी नजर आने लगे। वे सब मनुष्य मिलने वाले व्यक्तियों से एक ही प्रश्न कर रहे थे—'भाई ! क्या तुमने कहीं पर अंजना को देखा है ?'

इस प्रकार अनेकों पहाड़ों और घाटिओं में, ग्रामों और नगरों में घूमते-घूमते कुछ लोग महासती अंजना के ननिहाल हनुपुर पहुंचे। वहां पहुंचने पर जब अंजना का पता लगा तो वे लोग दौड़े-दौड़े राजकुमार के पास आये और अंजना के प्राप्त होने की बधाई दी।

राजकुमार पवनंजय को जैसे ही समाचार मिले वे अपने समस्त परिवार सहित हनुपुर दौड़े आए। अंजना को जैसे पता लगा, वह बाहर आई और अपने सभी बड़ों को नमस्कार किया। महासत्ती अंजना से उनके माता-पिता, सास-ससुर क्षमा-याचना करते हुए आंसू बहाने लगे।

महासत्ती अंजना ने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा—'जो होना था वह हो गया, मैं समझती हूं आप लोग कोई मुझे कष्ट हो, ऐसा करना नहीं चाहते थे, फिर भी होनहार बलवान है, मेरे अशुभ कर्मों के उदय से यह सब हुआ है। अब इसकी चिन्ता करना व्यर्थ है।' सभी परिवार के लोग अंजना की समता देखकर आश्चर्य चकित थे। वे पुनः महासत्ती अंजना को धन्यवाद दे रहे थे एवं बालक हनुमान से प्यार करते हुए अपने-आपको धन्य मान रहे थे।

इधर महासती अंजना और राजकुमार पवनंजय की भी विचित्र स्थिति हो रही थी, उनकी आंखों से अविरल आंसूओं की धारा बह रही थी। उन्होंने भी परस्पर एक-दूसरे से सुख दुःख की बातें की। परिवार के सब लोग आनन्द-विभोर थे। अन्त में सभी लोग प्रेम के साथ विदा होकर अपने-अपने स्थान पर गए। राजकुमार पवनंजय भी माता-पिता आदि अपने परिवार के साथ नगर लौट आये। महाराज प्रह्लाद ने अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर महारानी केतुमती के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। राजकुमार पवनंजय राजा बने एवं अंजना महारानी बनी। दोनों ने ही सुव्यवस्थित रूप से अपना राज्य चलाया। इधर राजकुमार हनुमान भी बड़ा हुआ। उसने क्रम से अध्ययन किया एवं आकाशगामिनी, रूप-परिवर्तनी, बानरी आदि अनेक प्रकार की विद्याओं में चोटी का विद्वान बना। महाराज पवनंजय और महारानी अंजना अपने पुत्र की प्रगति पर पुर्णरूप से संतुष्ट थे। वे हनुमान को देख-देखकर हर्ष में फूले नहीं समा रहे थे।

इधर कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् महाराज अरुण ने फिर से सिर उठाया और अपने सौ पुत्रों के बल पर महाराज रावण की आज्ञा की अवहेलना करने लगा।

महाराज रावण को जब इस बात का पता लगा तो उसने तत्काल ही अपने सेनापति को सेना की तैयारी करने का निर्देश दिया। सबके ऊपर नेतृत्व करने के लिए महाराज पवनंजय को याद किया। उन्होंने प्रस्थान की तैयारी की। उस समय उनके सुपुत्र वीर हनुमान ने आकर उन्हें रोका एवं वह स्वयं जाने के लिए आगे आए। वीर हनुमान ने अपनी तैयारी की और शीघ्र ही लंका आ पहुंचा। महाराज रावण वीर हनुमान को अपनी सेना के साथ लेकर महाराज वरुण का समूलोच्छेद करने के लिए मेघपुर पहुंचे। इधर महाराज वरुण भी अपने सौ पुत्रों के साथ सेना को सजाकर संग्राम के लिए आ पहुंचे। महाराज रावण की सेना में अग्रणी वीर हनुमान था। दोनों ओर से घमासान युद्ध प्रारंभ

हुआ। वरुण की सेना के प्रहारों से महाराज रावण की सेना पीछे की ओर दबने लगी। बजरंगबली हनुमान ने जब यह स्थिति देखी तो उन्होंने तत्काल ही उस बिगड़ती हुई स्थिति को संभाला और अचूक निशाने वाले बाण फेंके कि वरुण की सेना में भगदड़ मच गई।

हनुमान ने अपनी विद्या से सैकड़ों-सैकड़ों वानर बनाए। वे सभी वानर जंगली पेड़-पौधों को उखाड़कर वरुण की सेना का नाश करने लगे। वरुण ने जब इस प्रकार हनुमान को सेना का नाश करते देखा तो उसने हनुमान से कहा—'तुम्हें वीरता दिखलानी है तो आओ मेरे साथ लड़ो। इन निर्बल सैनिकों से तुम्हारा क्या विरोध है। अंजनीपुत्र ने ज्योंही यह बात सुनी, उसका पुरुष जाग उठा और वरुण के सौ पुत्रों को विद्या के बल पर अपनी लम्बी पूंछ से बांध लिया। वरूण किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। इधर महाराज रावण दौड़ते हुए आये और वरुण को देखते-ही-देखते कैद कर लिया। वरुण मन ही मन काफी पश्चात्ताप करता रहा। अन्त में उसने रावण के सम्मुख अपनी पराजय स्वीकार कर ली। रावण ने उसे छोड़ दिया, वह मुक्तगामी था। अतः उसने संयम स्वीकार कर लिया। इधर रावण ने उसके ज्येष्ठ पुत्र को राज्य का अधिकारी बनाकर अपने अनुशासन में ले लिया।

विजय प्राप्त कर महाराज रावण लंका में आवे और अंजनी-पुत्र हनुमान को काफी सम्मानित किया। अन्त में उन्हें सूर्पणखा की कन्या के साथ पाणिग्रहण कराकर अपना दामाद बना लिया। वानरपति महाराज सुग्रीव, नल तथा नील आदि अनेक विद्याधरों ने अपनी-अपनी कन्याओं से हनुमान की शादी की। जैन रामायण के आधार पर यह कहा जाता है कि वीर हनुमान के एक सहस्र रानियां थीं।

इस प्रकार विजयोल्लास प्राप्त करते हुए, हनुमान अपने नगर पहुंचे और माता-पिता के चरणों में नमस्कार किया। महासती अंजना और महाराज पवनंजय फूले नहीं समा रहे थे। अन्त में उन्होंने भी वीर

हनुमान को राज्याभिषेक कर दीक्षा ग्रहण कर ली । उन्होंने अनेक वर्षों तक संयम में रमण किया । संयम और तप में अपनी आत्मा को भावित कर, अन्त में अनशन के साथ वे स्वर्गगामी बने । भवान्तर में वे मनुष्य के अवतार में सिद्ध बुद्ध मुक्तात्मा बनेंगे ।



महासती मदनरेखा

मालव देश में एक सुदर्शन नाम का नगर था । वह अनेकों बाग-बगीचों और उद्यानों के द्वारा घिरा हुआ था जिसकी बसावट अत्यन्त सुन्दर प्रकार की थी । उस नगर के लोग पूर्व से पश्चिम की ओर, उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी रेखा में निवास करते थे । वहां के अधिकांश लोग शिष्ट व सभ्यता के साथ-साथ अनुशासित भी थे । नगर का वातावरण प्रायः शान्त रहता था । शहर में चौरासी चोहटे थे । उसके बाजार अनेकों प्रकार की साज सज्जाओं से सजे हुए थे । बाजार का प्रत्येक चोपड़ कुछ न कुछ नवीनता लिये हुए था । देखने वाले दर्शकों का मन सहज में ही आकर्षित हो जाता था । कहीं भी कूड़ा-करकट व कीचड़ दिखाई नहीं देता था । चारों ओर सुन्दरता ही सुन्दरता का संगम दिखाई दे रहा था वह नगर महाराज जगमन्दिर की राजधानी थी । युगबाहु उनके छोटे भाई थे । मदनरेखा उनके छोटे भाई की पत्नी का नाम था ।

एक दिन मदनरेखा अपने महल में निर्वस्त्र स्नान कर रही थी । अकस्मात् महाराज जगमन्दिर अपने महलों की छत पर पहुंचे । छत पर पहुंचते ही उनकी दृष्टि ठीक मदनरेखा के शरीर पर पड़ी । महाराज जगमन्दिर उन्हें देखते ही कामविह्वल हो गये, वे मदनरेखा के लिए लालायित हो उठे । मदनरेखा से प्रेम बढ़ाने के लिए उन्होंने एक उपाय सोचा, एवं तत्काल ही उन्होंने उसका प्रयोग भी चालू कर दिया । उन्होंने बाजार से कुछ भौतिक वस्त्र मंगवाए और उन्हें एक पेटी में सजाकर अपनी निजी दासी के साथ मदनरेखा के पास पहुंचा दिया ।

मदनरेखा ने उन्हें खोलकर देखा और यह सोचकर रख लिया, कि जेठ पितृ स्थानीय होते हैं, अतः उन्होंने मुझे यह प्यार से भेजे हैं। किन्तु महाराज जगमन्दिर इतने से ही नहीं माने, उन्हें तो अभी बहुत कुछ करना अवशेष है। इसलिए इस बार उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर पेटी मंगवाई। वह पेटी उन्होंने रत्नजड़ित सोने और चांदी के, कुछ हीरों और पन्नों के, कुछ मोतियों के हार-गजरे आदि अनेक प्रकार के आभूषणों से परिपूरित कर मदनरेखा के यहां पहुंचाई। मदनरेखा ने उसे भी पूर्ववत् जेठ का प्यार मानकर ही स्वीकार कर लिया। किन्तु तीसरी बार जब दासी तेल-फुलेल, इत्र, टीकी, आदि श्रृंगार-सज्जा की वस्तुओं से परिपूर्ण पेटी लेकर पहुंची, और इन सब वस्तुओं को मदनरेखा ने देखा, तो उसे पता चला कि राजा के मन में तो पाप है। उसने तत्काल ही दासी के कान ऐंठते हुए कहा—'दुष्टे! तू दूतीपन के कार्य करती है। तुझे शर्म नहीं आई, एक घर तो डायन भी छोड़ती है।'

उसने तीनों पेटियां उसे सौंपते हुए कहा—'जा, ले जा इन्हें और कह देना अपने महाराज से कि आगे ऐसा न करें, अगर किया तो इसका फल बुरा होगा।'

दासी वहां से चलकर महाराज जगमन्दिर के समीप पहुंची और वहां का सारा वातावरण उन्हें कह सुनाया। वस्त्रों और आभूषणों से भरी-पेटियां महाराज जगमन्दिर को सौंप दीं। उन्होंने देखा—'लगता है मदनरेखा तीसरे व्यक्ति को बीच में नहीं चाहती।' महाराज जगमन्दिर ने ऐसे सोचकर एक दिन अवसर देखकर वे स्वयं ही मदनरेखा के महलों में पहुंच गए। महाराज जगमन्दिर ने वहां पहुंचकर मदनरेखा के साथ कुछ पापाचार की बातें करनी चाही। किन्तु मदनरेखा तो पहले से ही सावधान थी।

उसने महाराज जगमन्दिर को फटकार लगाते हुए कहा—'महाराज! आपको शर्म आनी चाहिए। आप समग्र देश के राजा हैं। यह सारी रैय्यत आपकी संतान है। देश की सभी औरतें

आपकी बहन-बेटियां हैं । अतः महाराज से निवेदन है कि आप हम सभी स्त्रियों के प्रति मातृत्व और भगिनीत्व-सा बर्ताव रखें । वैसे आप मेरे जेठ हैं अतएवं पितृतुल्य हैं, मैं आपकी एक प्रकार से पुत्री हूं और पुत्री के प्रति बुरी नजर रखना पाप कार्य है । मेरा आपसे निवेदन है कि अब आप कभी भी इस प्रकार की हरकतें नहीं करेंगे । ऐसा मेरा विश्वास है । मैं चाहती हूं कि आप अपने आवासों की ओर चले जाएं एवं आगे इस बात को पूरी-पूरी गहराई से मापें ।'

महाराज जगमन्दिर उत्तर में कुछ भी नहीं बोल सके और चुपचाप वहां से उठकर अपने महलों में चले गए ।

महाराज जगमन्दिर का मन फिर भी शांत नहीं हो रहा था । वे सोच रहे थे कि कौन-सी युक्ति से मदनरेखा को अपने बाहुपाश में लिया जा सकता है । उन्होंने सोचा कि युगबाहु के रहते काम बनना कुछ मुश्किल-सा ही प्रतीत होता है । इस बात को नजर में रखते हुए उन्होंने सोचा कि युगबाहु को किस प्रकार से मौत के घाट उतारा जाए । उक्त कार्य के लिए महाराज जगमन्दिर हर प्रकार से युगबाहु के छल-छिद्रों का अन्वेषण करने लगे । अपनी वासना को शांत करने के लिए महाराज जगमन्दिर एक अत्यन्त नीच कोटि के कार्य करने के लिए उतारू हो गए । इधर महासती मदनरेखा ने भी अपने पतिदेव युगबाहु को जगमन्दिर का सारा वृत्तांत बतला दिया ।

युगबाहु ने अपनी पत्नी से कहा—'प्रिये ! यह बात कैसे हो सकती है ? वे अपने पितृ स्थानीय हैं, उनके प्रति ऐसी अनर्गल धारणा हमें नहीं करनी चाहिए ।'

मदनरेखा ने विनम्र भाव से कहा—'स्वामिन् ! कामी पुरुष के लिए अपने पराये हो जाया करते हैं । कामी नर, यह अन्याय है; ऐसा कभी नहीं सोचते । मेरा आपसे अनुरोध है कि आप अत्यंत सावधानी बरतें । कहीं ऐसा न हो जाए कि आपको अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ें ।'

युगवाहु ने अपनी पत्नी को धैर्य बंधाते हुए कहा—'तुम भोली हो, मेरे भाई के द्वारा ऐसा कार्य नहीं हो सकता। मेरा तुमसे कहना है कि तुम भाई द्वारा जो कोई त्रुटि हुई है उसे भूल जाओ। आदमी से भूल होना स्वाभाविक है। तुम्हें पिछली बातों को याद नहीं करना चाहिए और संदेहमुक्त होकर सुख से जीवन व्यतीत करना चाहिए।'

मदनरेखा के मन में युगवाहु की बात जांच नहीं रही थी, फिर भी अपने पति की बात को स्वीकार कर, निसंदेह होकर सुख से जीवन के दिन व्यतीत करने लगी। महाराज जगमन्दिर के प्रति अब उसके मन में कोई संदेह नहीं रह गया था। उसने एक बार पूर्णचन्द्र का स्वप्न देखकर गर्भ धारण किया था। गर्भ धारण करने के बाद मदनरेखा की देव, गुरु और धर्म के प्रति आस्था और भी बढ़ गयी। एक दिन बसंत क्रीड़ा के लिए युगवाहु और मदनरेखा दोनों उद्यान में पहुंचे और दिनभर वहीं क्रीड़ा करते रहे, संध्या हो जाने के कारण उनका रात्रिकालीन प्रवास भी वहीं रहा।

इधर महाराज जगमन्दिर तो इस प्रकार के अवसरों की टोह में थे ही। उन्होंने अपने अनुचर को बुलाया और उसे एक अश्व तैयार करके लाने के लिए कहा। वह व्यक्ति तत्काल ही वहां से गया और उनके कहने के अनुसार एक अश्व लाकर उन्हें सौंप दिया। महाराज जगमन्दिर ने अपना वेश बदला और अर्ध रात्रि के समय अत्यंत तीव्र गति से अश्व को दौड़ाते हुए उद्यान की तरफ बढ़ रहे थे। देखते-ही-देखते उद्यान के प्रमुख द्वार के पास पहुंचे द्वारपाल ने उन्हें रोकना चाहा, किन्तु जगमन्दिर किसी भी प्रकार रुके नहीं। आवाज सुनकर मदनरेखा ने अपनी पतिदेव को सूचित किया किन्तु जगमन्दिर उस समय एक प्रकार से काल रूप ही हो रहा था। वह युगवाहु की शय्या के पास पहुंचा और उसी क्षण किसी पैनी धार वाले अस्त्र के द्वारा युगवाहु को एक वार में ही मरणासन्न कर दिया।

जगमन्दिर उन्हीं पांवों वापस लौट रहे थे कि एक काला नाग अश्व के पैर के नीचे आने के कारण ऊपर की ओर उछला और उनकी गर्दन पर डंक लगाया । जगमन्दिर उसी क्षण मृत्यु को प्राप्त हो गए । प्राचीन लोगों का कहना है कि कभी-कभी पापों का फल हाथों-हाथ ही मिल जाता है । जगमन्दिर के लिए भी ऐसा ही घटित हुआ । वहां वह मृत्यु को प्राप्त होकर चौथे नरक का मेहमान बना एवं दस सागर तक कष्टों को भोगता हुआ जीवन व्यतीत करेगा ।

युगबाहु इस प्रकार अपने बड़े भाई के शस्त्र से घायल होकर चिंतित अवस्था में शय्या पर पड़े थे । आवेश में उसके नेत्र लाल हो गए थे । वह भाई जगमन्दिर के प्रति अत्यंत आवेश आकर अन्तर्ध्यान कर रहे थे । जगमन्दिर के प्रति न जाने कितने विचार उसके मन में आए होंगे । उस समय उनकी आत्मा कलुषता की ओर बढ़ रही थी ।

मदनरेखा ने स्थिति को देखा और वह उनके निकट आकर बैठी एवं नाना प्रकार से उन्हें धैर्य बंधाने लगी । उसने अपने प्राण-प्रिय से निवेदन किया कि वे भाई के प्रति किसी भी प्रकार की दूषित भावना न करें । अपने चित्त को शांत बनाएं और अपने मन की भावना को किसी भी प्रकार से अनुदार न होने दें । स्वामिन् ! इस क्रोध पिशाच को अब अपने मन-मन्दिर से निकाल कर दूर अति दूर भगा दें । आप अपने मन से इस बात को भी निकाल दें कि भाई ने आपकी यह मरणासन्न स्थिति की है । वस्तुतः यदि हम देखें तो कोई किसी मारने वाला नहीं है । अपने-अपने कर्मानुसार ही प्राणियों का जन्म-मरण होता है । अब आप से मेरा यही निवेदन है कि आप मेरा, धन और परिवार का मोह छोड़ें, राज्य का मोह छोड़ें, वस्त्र और आभूषण का मोह छोड़ें । इस शरीर का मोह छोड़ें, इस शरीर के साथ हम कितने अभेदोपचार से रहते हैं । कितनी इसकी सार-संभाल करते हैं । किन्तु अंत में यह हमें छोड़ देता है । प्राणनाथ ! अब आपसे मेरा एक ही निवेदन है कि पीछे जो भी कुछ हुआ उसे भूल जाएं और इस

मोह-ममता को दूर कर अपने आपको उज्ज्वल भावनाओं के स्रोत में प्रवाहित करें । ताकि शीघ्र ही आपका उद्धार हो । अब समय निकट है ।

'स्वामिन ! अब वीतराग भगवान की साक्षी से अपने किए हुए पापों का पश्चात्ताप करें । सुकृत का अनुमोदन करें । संसार के सब प्राणियों से क्षमा-याचना करे । अपने अपराधी जनों को क्षमा दान करें । अठारह पापों का परिहार करें । खान-पान से अपने मन को मोड़कर, अनशन की ओर बढ़ें । अरिहंत, सिद्ध साधु और वीतराग भाषित धर्म की शरण लें । सद्‌भावनाओं में लीन होकर परमेष्ठि मंत्र का स्मरण करते हुए इस नश्वर शरीर को छोड़ें ।

मदनरेखा के सुधासदृश उपदेश को सुनकर महाराज युगबाहु शांत हो गये और समाधि मरण-प्राप्त होकर पांचवें स्वर्ग में पहुंचे । युगबाहु की मृत्यु के पश्चात् मदनरेखा कामी राजा महाराज जगमन्दिर से भयभीत होकर रात्रि में ही वन की ओर चल पड़ी । वह अंधेरी रात के कारण रास्ता भूलकर एक भीषण अटवी को प्राप्त हुई । उसने उस मध्य रात्रि के समय ही वहां पर एक तेजस्वी बालक का प्रसव किया । उस बालक की अंगुली में उसने नामांकित एक मुद्रिका पहनाई और उसे रत्न कंबल में लपेटकर सुरक्षित स्थान पर रखा, एवं स्वयं निकटवर्ती एक तालाब पर शारीरिक शुद्धि के लिए पहुंची । जैसे ही महासती अपने शरीर की शुद्धि के लिए तालाब के अन्दर घुसी, उसी समय वहां एक गजराज आ उपस्थित हुआ । उसने मदनरेखा को अपने शुंडादण्ड से पकड़कर आकाश की ओर उछाल दिया । जब महासती मदनरेखा वापस धरातल की ओर आ रही थी, तब बीच में ही एक मणिप्रभ-विद्याधर ने उन्हें अपने विमान में झेल लिया, और वह महासती को लेकर वहां से उड़ा एवं वैताढ्य पर्वत के ऊपर आकर उतारा । महासती मदनरेखा का शारीरिक सौन्दर्य जब उसने देखा तो उस पर वह मुग्ध हो गया एवं भोग के लिए प्रार्थना करने लगा ।

महासती मदनरेखा ने उससे कहा—'भद्र ! नव-प्रसुता के कारण अभी मैं भोग के योग्य नहीं हूं । तुम्हारे कारण मेरा वह नवजात शिशु भी भीषण अटवी में ही रह गया है । उस नवजात शिशु के विरह में मेरा हृदय विदीर्ण होता जा रहा है । परोपकार परायण ! मेरा निवेदन है कि कृपया सर्वप्रथम मुझे अपने उस नवजात शिशु के पास पहुंचाएं । मैं उसके बिना व्याकुल हो रही हूं । न जाने उस भयंकर जंगल में उस नव निहाल शिशु का क्या हाल हुआ होगा । अतः मैं चाहती हूं और आपसे प्रार्थना करती हूं कि अपने पूर्व नियोजित सभी कार्यों को गौण कर, सर्वप्रथम मेरे इस कार्य को करो ।'

महासती मदनरेखा की बात सुनकर विद्याधर ने अपनी विद्या को याद किया एवं जानकारी प्राप्त कर उसने महासती से निवेदन करते हुए कहा—'भद्रे ! तुम्हारा नव निहाल शिशु अब उस जंगल में नहीं है । वह अब मिथिला के महाराज पद्मरथ के प्रासादों में पहुंच गया है । महाराज पद्मरथ के कोई पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने उसे पुत्र के रूप में अपना लिया है, वह अब वहां पर हर प्रकार से सुरक्षित है एवं आनन्द और उत्साह के साथ पालने में झूल रहा है । अब तुम्हें उसकी चिंता छोड़ देनी चाहिए एवं मेरी जो कामना है उसकी चिन्ता करनी चाहिए ।

मदनरेखा ने कहा—'भद्र ! मेरा मन अभी तक शांत नहीं है । मैं चाहती हूं कि पहले मेरा मन शांत हो, ऐसा कोई उपक्रम करो ।' विद्याधर ने तत्क्षण ही महासती मदनरेखा को विमान में बिठाया, और अपने संसार पक्षीय पिता 'मणिचूड़' मुनि के पास ले गया । मणिचूड़ मुनि चतुर्ज्ञानधर थे । उन्होंने ज्ञान से अपने पुत्र मणिप्रभ को व्यभिचार एवं मदनरेखा को महासती समझा । उन्होंने उन दोनों को एक चामत्कारिक उपदेश दिया । अपने उस उदपदेश में ब्रह्मचर्य के विशेष गुण बतलाए और अब्रह्मचर्य के दोष दिखलाये । ब्रह्मचर्य से आत्मा का उत्थान और अब्रह्मचर्य से पतन के गर्त में पड़ता बतलाया ।

ब्रह्मचर्य से आत्मा की पवित्रता की ओर बढ़ना दिखलाया और अब्रह्मचर्य से घोरान्धकार की ओर बढ़ना जताया ।

इस प्रकार मुनि का अत्यंत चामत्कारिक उपदेश सुनकर मणिप्रभ ने यावज्जीवन तक परस्त्रीगमन के प्रत्याख्यान कर दिए, एवं अपने नाना प्रकार के दुर्गुणों से कलुषित हृदय को विशुद्ध बनाया । भगवान मणिचूड़ उपदेश कर ही रहे थे कि आकाश मार्ग से अति तीव्र गति से एक विमान उतारा और उस नये विमान के अन्दर से एक तेजस्वी देव प्रकट हुए । देवता ने वहां स्थित तीनों व्यक्तियों को देखा और सर्वप्रथम महासती मदनरेखा को नमस्कार किया, तत्पश्चात् उसने मुनि को नमस्कार किया । विद्याधर मणिप्रभ ने जब नमस्कार विधि में विपर्यय पाया तो देवता से इसकी जानकारी लेनी चाही ।

देवता ने उत्तर देते हुए कहा—'मैं अपने पिछले जन्म में महाराज ज़गमन्दिर का युगबाहु नाम का छोटा भाई था । मदनरेखा मेरी पत्नी थी । मैं जब मृत्यु-शय्या पर था, उस समय मेरे परिणाम अत्यन्त कलुषित हो रहे थे, न जाने मैं कौन-सी नरक में जाकर गिरता, किन्तु मेरी इस धर्मपत्नी ने धर्मोपदेश देकर, उस नरक के खड्डे में गिरने से बचाया । अतः यह मदनरेखा मेरी उपकारिणी है और इसी कारण से मैंने इसे पहले नमस्कार किया ।

इस प्रकार वार्तालाप चलते-चलते उस देवता ने मदनरेखा से पूछा—'भद्रे ! अब तुम्हारी क्या इच्छा है ?'

मदनरेखा ने कहा—'देव ! सर्वप्रथम मुझे पुत्र-दर्शन करायें ।'

देवता तत्काल ही उसे मिथिलापुरी ले गया । मदनरेखा मिथिलानगरी में एक साध्वियों के स्थान पर पहुंची । तत्रस्थित साध्वियों ने मदनरेखा को संसार की नश्वरता बतलाई । पिता, माता, पुत्र, कलत्र, पारिवारिक मोह को बन्ध का हेतु बतलाया । इस प्रकार मदनरेखा ने जब साध्वियों का अमृतमय उपदेश सुना तो वह वैराग्य रस में सराबोर

होकर, पुत्र से साक्षात् किए बिना ही साध्वियों के पास दीक्षित हो गई। वह साधना में दत्तचित्त होकर सयमशरणी का अनुसरण करने लगी। संत हृदय का इस प्रकार प्रभाव पड़ता है। मदनरेखा अपने पुत्र से मिलने हेतु यहां आई थी किन्तु साध्वियों के अमृतोपदेश से वह तत्क्षण ही दीक्षित हो गई एवं अपने नवजात शिशु को भूल गई।

इधर पिता युगबाहु और बड़े पिता महाराज जगमन्दिर की इस प्रकार अकस्मात् मृत्यु देखकर चन्द्रयशा को अत्यन्त पीड़ा हुई। किन्तु निरुपाय था। आखिर चन्द्रयशा ने उन दोनों की मृत्यु का क्रिया-कांड किया और माता मदनरेखा की टोह में लगा। उसने सारे ग्राम, नगर और जंगल छान डाले किन्तु मदनरेखा का कुछ भी पता नहीं लगा। अन्त में किसी प्रकार उसने अपने मन को शांत किया। मंत्री-मंडल ने विधिपूर्वक उसको राज्याभिषेक कर राज-सिंहासन पर बैठाया। चन्द्रयशा अत्यन्त न्यायपूर्वक प्रजा की प्रतिपालना करने लगा। वह इस प्रकार राज्य करता हुआ थोड़े ही दिनों में लोगों का अत्यधिक विश्वास-पात्र बन गया।

इधर चन्द्रयशा का छोटा भाई जिसे कि जंगल से मिथिलापति उठाकर ले गया था, वह क्रम से वृद्धि प्राप्त कर बड़ा हुआ। जिस दिन से यह बालक राज्य में प्रविष्ट हुआ था, उसी दिन राज्य का तेज बढ़ने लगा एवं राज्य के शत्रु राजागण आ-आकर नत-मस्तक होने लगे। अतएव इसका गुण वाच्यनाम नमीकुमार ही रखा गया। कलाचार्य की साक्षी से नमीकुमार ने थोड़े ही दिनों में पुरुषोचित बहत्तर कलाओं का अध्ययन कर पूर्ण रूप से निपुणता प्राप्त की। यौवनावस्था प्राप्त होने पर महाराज पद्मरथ ने एक सहस्र आठ कन्याओं से उसका पाणिग्रहण करवाया। वृद्धावस्था प्राप्त होने पर महाराज पद्मरथ ने नमीकुमार को राज्याभिषेक किया एवं स्वयं दीक्षा ग्रहण कर संयमी बन गये।

महाराज पद्मरथ संयम ग्रहण करने के कुछ समय बाद ही निर्वाण को प्राप्त हो गये । इधर महाराज नमी मिथिला नगरी का राज्य भली-भांती करने में संलग्न हो गये ।

एक बार महाराज नमी का धवल कांति हस्ती मत्त हो, स्तम्भ को उखाड़, शहर में धूम मचाता हुआ जंगल की ओर भाग निकला । वह जंगल के बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़-उखाड़कर फेंकता हुआ निरंकुश रूप से दौड़ता-दौड़ता महाराज चन्द्रयशा की सीमा के अन्दर घुस गया । महाराज चन्द्रयशा के पास जब यह समाचार पहुंचा तो उन्होंने अपने कुछ सुभटों को उसे पकड़ने का आदेश दिया । महाराज चन्द्रयशा के सुभट तत्काल ही दौड़े और उस हाथी को पकड़कर ले आये । उसे गजशाला के अन्दर एक स्तम्भ से बांध दिया गया । इधर जब महाराज नमी को इस बात का पता चला की हाथी चन्द्रयशा की गजशाला में है तो उन्होंने तत्काल ही अपना दूत भेजा और चन्द्रयशा को कहलवाया कि वह शीघ्रातिशीघ्र हाथी को वापस लौटा दें, अन्यथा इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा । महाराज चन्द्रयशा ने दूत को ऐसा कह लौटा दिया कि अपनी सीमा में आये हुए हाथी को हम वापस नहीं लौटायेंगे । उस दूत को महाराज चन्द्रयशा के सुभटों ने धक्का लगाकर बाहर निकाल दिया । महाराज नमी ने जैसे ही दूत के मुंह से समाचार सुने, उन्होंने तत्काल ही सुदर्शनपुर पर आक्रमण कर दिया । दोनों ओर से सुभटों में भिड़त हुई एवं भीषण संग्राम छिड़ गया ।

पता पड़ने पर महासती मदनरेखा ने अपनी गुरुआनी की आज्ञा प्राप्त की, एवं तत्काल ही युद्ध-स्थल पर पहुंची । उन्होंने एक-एक को अपने निकट बुलाया और सारा भीतर का रहस्य बतला दिया, फिर क्या था, जब उन्हें यह पता पड़ा कि हम दोनों सगे भाई हैं और यह महासती जो अभी-अभी युद्ध-स्थल पर आकर खड़ी हुई हैं, यह संसार पक्षीया हमारी माता है, दोनों ओर के सुभटों ने शस्त्र गिरा दिये एवं दोनों भाई परस्पर गले मिले । इस प्रकार महासती के उपदेश से

युद्धजन्य महाहिंसा से बच गये । यह सब संतवाणी का प्रभाव है । इस प्रकार महासती मदनरेखा ने अपने संसार पक्षीय पुत्रों को समझाकर भीषण युद्ध की लपटों से बचा लिये ।

वे वापस अपने स्थान पर लौट आयीं । उनका मन विरक्ति से भर गया । उन्होंने अन्तिम अनशन साधना कर आठों कर्मों के बंधनों को तोड़ डाला एवं मुक्ति के शाश्वत सूत्रों को प्राप्त किया ।

